ब्राह्मण ग्रन्थों में सृष्टि-विचार

डॉ॰ नित्यानन्द शुक्ल

शुभाशंसन

डॉ० नित्यानन्द शुक्ल लिखित शोध-पूर्ण ग्रन्थ—**"ब्राह्मण-ग्रन्थों में सृष्टि-विचार"** मैं पढ़ गया। यह ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों वाला है। इन परिच्छेदों में से अधिकांश को मैं आद्यन्त दो-दो बार पढ़ने का लोभ संवरण न कर सका। प्रस्तुत विषय—'ब्राह्मणग्रन्थों में सृष्टि-विचार' मेरा भी अत्यन्त प्रिय विषय रहा है। स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद लिखित **'कामायनी'** में प्रलय के बाद सृष्टि के आरम्भ को लेकर मानव-सृष्टि का उसमें साहित्यिक और कवि-कल्पनाजन्य भावात्मक प्रेरणा से उक्त ग्रन्थ के अवतरण में ही सृष्टि-हेतु संघर्षशील जड़ और चेतन की ओर संकेत किया गया है। वहाँ सृष्टि के बाद हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर, शिला की शीतल छाया में बैठे हुए आर्द्र नेत्रों से 'मनु' प्रलय की महाविभीषिका से उत्पन्न प्रलयंकर जल प्रवाह का धीरे-धीरे घटना देख रहे थे—

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर,
बैठ शिला की शीतल - छाँह।
एक पुरुष भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय - प्रवाह॥

कामायनी के अध्यापन क्रम में मैंने प्रसाद जी द्वारा "कामायनी" के आरम्भ में लिखी हुई संक्षिप्त भूमिका बड़े ध्यान से पढ़ी थी। इस संदर्भ में जिज्ञासु के रूप में कुछ ब्राह्मण-ग्रन्थों और कतिपय पुराणों में इस सन्दर्भ का मैंने अध्ययन किया था। उसी समय मुझे जान पड़ा था कि समस्त ब्राह्मण-ग्रन्थों में गहन-अध्ययन किया जाय तो सृष्टि-विचार के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्व-चिन्तन का परिचय मिल सकता है।

अनेक ब्राह्मण-ग्रन्थों में सृष्टि के विकास और विस्तार का जो क्रम-बोध दिखाई देता है, उनमें आज के वैज्ञानिक और विकासवादसम्बन्धी सृष्टि की उत्पत्ति के अनेक बीज-बिन्दु दिखाई देते हैं। 'जैमिनीयब्राह्मण' में (जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण) सृष्टि की उत्पत्ति और विकास का वर्णन जिस रूप में लक्षित होता है, उसमें हम देख सकते हैं कि वहाँ प्रागैतिहासिक काल के ब्राह्मण-चिन्तकों ने सृष्टि के प्रवर्त्तन के विषय में कितना गहन और गंभीर विवेचन किया है। उस विवेचन में वैज्ञानिक सृष्टिक्रम का पूर्वाभास निरूपित दिखाई देता है।

ग्रन्थकार डॉ० शुक्ल ने जितने मनोयोगपूर्वक और जिस शोधपूर्ण प्रज्ञा के साथ इन बीजतत्त्वों का आकलन, निरूपण और विश्लेषणात्मक विवेचन किया है, वह निश्चय ही ग्रन्थकार के महनीय श्रम का तथा शोध-बुद्धि का परिचायक है।

इस ग्रन्थ के आरम्भ से लेकर परिशिष्टात्मक पञ्चम परिच्छेद तक सभी अंश अनुशीलन-बोध से अनुप्राणित हैं। ब्राह्मण-साहित्य जितना उपलब्ध है, उतना भी अतिविशाल है। अतः विस्तारपूर्वक समग्र सन्दर्भों का आकलन और परिशीलन इस संक्षिप्त ग्रन्थ में समाविष्ट करना संभव नहीं था। ग्रन्थकार ने भी इस तथ्य को अपनी भूमिका में स्पष्ट किया है। फिर भी संक्षिप्तरूप से डॉ० नित्यानन्द शुक्ल ने सभी प्रमुख पक्षों का संग्रह अनुसन्धानबोधपूर्वक किया है।

मैं इस ग्रन्थ को पढ़कर अपने ज्ञान में अपार वृद्धि कर सका। डॉ० शुक्ल ने इस विषय पर शोध करके और ग्रन्थरूप में इसके प्रकाशन द्वारा प्रशंसनीय कार्य किया है। मेरा उन्हें शुभाशीर्वाद है। 'सृष्टि-विचार' पक्ष को लेकर उन्होंने पुराणों में वर्णित सृष्टि-विचार-संदर्भों का भी पर्याप्त उल्लेख किया है।

वस्तुतः पुराण एक ऐसा प्रतीकात्मक एवं कथा-माध्यम से वैदिक-वाङ्मय की व्याख्या है, जिसके साथ वैदिक-वाङ्मय में वर्णित प्रसंगों की तुलनात्मक व्याख्या करते हुए पुराणबोध का निरूपण आधुनिक वैज्ञानिकयुग में अत्यन्त आवश्यक है।

मेरा विश्वास है कि डॉ० नित्यानन्द शुक्ल भविष्यत् में 'ब्राह्मण-'ग्रन्थों' के अन्य आध्यात्मिक, कर्मकाण्डी और भौतिक संदर्भों एवं पुराकथाओं की विवेचनात्मक व्याख्याओं के साथ अनेक महत्त्वपूर्ण शोध-ग्रन्थ लिखेंगे।

आशा है वैदिक-वाङ्मय के अध्येता विद्वज्जनों में इस ग्रन्थ का समुचित प्रचार एवं प्रसार होगा।

शुभाकांक्षी—
करुणापति त्रिपाठी
अध्यक्ष,
उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी

रामनवमी
वि० संवत् २०४०

आशीर्वचन

विस्मयबोध से मनुष्यमात्र के मन में जिज्ञासा स्फुटं हुई, यह वैज्ञानिक सत्य है, इसीलिए सृष्टि-वैचित्र्य से विस्मित हो प्राकृतमानव सृष्टि-रहस्य के कौतूहल से प्रेरित हो विश्व के मौलिक तत्त्व के सम्बन्ध में प्रश्न कर बैठता है **'कोऽद्धा वेद क इह प्रवोचत् । कुत आ बभूव, कुत इयं विसृष्टि.'** (ऋ० वे० १०।१२९।६)। महाविश्व के सम्बन्ध में यह महती जिज्ञासा चिरकाल से विश्वमानव के चित्त को आन्दोलित करती रही। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद में इस जिज्ञासा का समाधान अनेकानेकरूपों में किया गया है। इन विद्याओं का स्वातन्त्र्य है अथवा इनकी एकसूत्रता है, यह वेद-मर्मज्ञों का अन्वेषणीय विषय रहा है। पुरुष, हिरण्यगर्भ, अप्रकेत सलिल, प्रजापति, यज्ञ इत्यादि जो सृष्टि की मूलभूत अवधारणाएँ हैं, उनका सम्यग् विवेचन और उनको एकसूत्र में बद्ध करना आज भी वैदिक क्षेत्र में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और रोचक अनुसन्धान का विषय है।

डॉ० शुक्ल ने ब्राह्मण ग्रन्थों को आधार मानकर इसी उद्देश्य से एक अत्यन्त श्लाघ्य प्रयास किया है। भाष्यों के सद्भाव में भी ब्राह्मणग्रन्थों की दुरूह वाक्य-संरचना एवं उनमें प्रयुक्त शब्दों के प्रतीकार्थ को समझना कितना कठिन है, यह प्राच्य एवं प्रतीच्य वेदवेत्ताओं का अविषय नहीं है। अतः इस दिशा में डॉ० शुक्ल का सफल प्रयत्न न केवल प्रशंसनीय है; अपितु वेदप्रतिपादित विश्वसमीक्षा एवं विश्वविज्ञान की व्याख्या में चिराभिलषित पूर्णता की ओर एक ठोस कदम है। मुझे प्रसन्नता है कि डॉ० शुक्ल ने मेरे निर्देशन में एवं वेद के क्षेत्र में अधिकारी विद्वानों के सुझावों से अनुसन्धानपूर्ण कर पुस्तकाकाररूप में विद्वानों के समक्ष इसे उपस्थित किया है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि डॉ० शुक्ल अपने इस प्राथमिक प्रयास को और आगे बढ़ायेंगे और अनेकानेक सांकेतिक अन्वितियों को विस्तृतरूप से प्रस्तुत करेंगे। आशा है कि डॉ० शुक्ल की यह पुस्तक हिन्दीभाषा में निबद्ध वेदार्थ-चिन्तन की परम्परा को प्रतिष्ठित करने में आवश्यक समझी जायेगी। आशीर्वाद है कि डॉ० शुक्ल उस रूप-समृद्धि को विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करने में समर्थ हों, जो ब्राह्मणग्रन्थों का मूलभूत रहस्य है।

डॉ० अतुल चन्द्र बनर्जी
आचार्य एवं अध्यक्ष,
संस्कृत पालि एवं प्राकृत विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय

प्रस्तावना

प्रस्तुतो ग्रन्थो गोरखपुरविश्वविद्यालस्य "डॉक्टर आफ फिलॉसाफी" इत्यभिधानोपाधये स्वीकृतः शोधनिबन्धोऽस्ति। यतश्च भूमिका ग्रन्थस्य प्रवेशद्वारं भवति, अतो लेखकस्येदं पवित्रं कर्तव्यं भवति, यत् सस्तस्मिन् द्वार एव दर्शकान् (सुधीपाठकान्) अग्रिमदर्शनीयव्यापकक्रियाक्षेत्रस्य दर्शनं कारयेत्। ग्रन्थेषु एषा क्रिया सजीवभूमिकालेखनेनैव संपादयितुं शक्यते।

वेदा भारतीयधर्मदर्शनयोः प्रातिनिध्यं कुर्वन्तोऽनुभूयन्ते। वयं त्रिकालज्ञानां मन्त्रद्रष्टॄणां तेषामृषीणां सृष्टिकालादेव ऋणिनः स्मः, यैश्च जीवनस्यैहिकोपलब्धिभिरूर्ध्वगमनं विधायाभ्युदयनिःश्रेयसयोः प्रशस्तमार्गस्य निर्देशः कृतः। परम्परागतरूपेण वेदा अपौरुषेया मन्यन्ते। इमे भगवतो निःश्वासभूताः[1] कथ्यन्ते, न तु तेन निर्मिताः। यथा प्राणिनां निःश्वासो न तत्प्रयत्नजन्यः; अपितु स्वाभाविकः, तथैव वेदा अपि न भगवत्प्रयत्नजन्याः, अपितु स्वाभाविकाः। अत एव वेदानां सृष्टेः पूर्वमेवाविर्भावः। वेदानां साहाय्येनैव प्रजापतिना ब्रह्मणा सृष्टिर्व्यरचि। वेदानां पौरुषेयत्वस्वीकारे तु भ्रम-प्रमाद - विप्रलिप्सा - करणापाटवादिदोषाक्रान्तता वेदप्रतिपादितसिद्धान्तेषु आगमिष्यति। अत एव वेदाः श्रुतिपदेन संकीर्त्यन्ते, यतो हि सृष्टेः पूर्वकाले भगवत्प्रेरणया ब्रह्मा वेदं श्रुतवान्, किंवा मनसा प्रत्यक्षीकृतवान्। तदनु ब्रह्मर्षयो गुरुपरम्परया अन्ये शिष्टाश्च तान् वेदान् अशृण्वन्।

एते च वेदा मन्त्रब्राह्मणभेदाभ्यां द्विविधाः। उक्तं च—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति। तत्र मन्त्रात्मकः संहिताभागः, तदितरो भागो ब्राह्मणारण्यकोपनिषद्रूपः।

'ब्राह्मणग्रन्थेषु सृष्टिविचारः' इति विषयमादाय प्रकृतो निबन्धः प्रस्तुतोऽस्ति। तत्र सन्ति पञ्च परिच्छेदाः। तत्र प्रथमे परिच्छेदे ब्राह्मणग्रन्थानां समीक्षा सर्वप्रथमतो विहिताऽस्ति। तत्र इष्टप्राप्तेरनिष्टपरिहारस्य चालौकिकोपायज्ञापकत्वं वेदानां लक्षणम्। विद्यते लभ्यतेऽनेनेति करणघञन्ततया वेदशब्दस्य व्युत्पत्तिर्दर्शिताऽस्ति।

बृह वृद्धौ इति धातुतो निष्पन्नो ब्राह्मणशब्दः सामान्यरूपेण विविधवैदिकक्रियाणां बोधक इति निर्णीतम्। ग्रन्थपरोऽयं ब्राह्मणशब्दो नपुंसकलिङ्गे वर्तते। अयं ब्राह्मणग्रन्थो ब्रह्मस्वरूपमन्त्राणां व्याख्यानभूतः, संहिताभागरथसामग्रीणां प्रयोगविधिज्ञापकः, वैदिकविधिभागार्थवादयोर्विवेचकश्चास्ति।

ब्राह्मणशब्दार्थविवेचने ब्राह्मणग्रन्थलक्षणनिर्वचने च विदुषां नानामतानि निबन्धे द्रष्टव्यानि।

---

१. 'यस्य निःश्वसितं वेदाः' सायणभाष्ये उपोद्घातः।

अद्यत्वे वैदिकवाङ्मये ब्राह्मणानामेकविंशतिर्भेदा उपलभ्यन्ते।

तत्रैतरेयब्राह्मणत आरभ्य गोपथब्राह्मणं यावद् एकविंशतिसंख्याकब्राह्मणभेदानां समीचीनं स्वरूपविषयादिगर्भविवेचनं कृतमस्ति। अन्ते च सृष्टिजिज्ञासां निरूप्य सृष्टि-सिद्धान्तः, यज्ञानां सृष्टिपरत्वम्, प्रजापतिस्तस्य सृष्टिकामना च निरूपिताऽस्ति।

द्वितीये परिच्छेदे—ऋतं सत्यम्, सलिलम् हिरण्याण्डः, हिरण्यगर्भस्य गतिः, विशालायाः पृथिव्याः सर्जनम्, फेनसर्जनम्, सिकता-शर्करा-पाषाण-लौह-हिरण्य-औषधि-वनस्पत्यादिसर्जनम्, अन्तरीक्षस्य वायोश्च सर्जनम्, पशुपक्षिसर्जनम्, महर्जनस्तपो-लोकानां सृष्टिः, दिशाम्, रात्रिदिवसयोः, ज्योत्स्नायाश्च सर्जनम्, संवत्सरसर्जनम्, ऋतोः संवत्सरस्य च स्वरूपम्, कल्प-नक्षत्र-तारका - नदी - समुद्रादि - सृष्टिः, अन्नसृष्टिश्च वर्णिताऽस्ति।

अन्नसृष्टिवर्णनप्रसङ्गे तन्मूलभूताया जलवृष्टेः सर्जनमपि वर्णितमस्ति। अन्नं मानवानामन्येषां च प्राणिनां जीवनस्य मूलाधारोऽस्ति। सर्वा यज्ञादिक्रिया अन्नमूला एव सन्ति। अत एव शतपथब्राह्मणेऽन्नवपनस्य चर्चा कृताऽस्ति। पृथिव्यामुप्तानि अन्नानि वनस्पतिरूपेणाविर्भवन्ति। वन्यकृष्यभेदेनान्नं द्विविधं भवति। नानाविधाना-मन्नानामुत्पत्तौ इन्द्रविषयिका एका स्पृहणीया कथा निरूपिताऽस्ति। तत्सर्वं निबन्धे पठनीयम्।

तृतीये परिच्छेदे—वेदात्मिकायाः पराविद्याया देवासुरसृष्टेश्च वर्णनं प्राधान्येन विहितमस्ति। तत्रादौ त्रयीविद्या, प्रणवसृष्टिश्च निरूपिताऽस्ति। प्रणवस्य स्वरूपम-कारोकारमकारैरनुबिद्धमस्ति। इमानि त्रीणि अक्षराणि ऋग्यजुःसामरूपेण भूर्भुवः स्वर्लोकरूपेणापि विचारितानि सन्ति। ऋग्यजुःसामाख्यवेदत्रयमेव त्रयीविद्या कथ्यते। त्रयीविद्या एव यज्ञानां सम्पादिकाऽस्ति। गोपथब्राह्मणे अथर्ववेदस्याऽपि स्वरूपं चर्चितमस्ति।

प्रादुर्भावानन्तरमेव प्रजापतिर्वेदत्रयेण सह जले प्रविवेश। तत्फलभूतैव हिरण्याण्डस्योत्पत्तिरभूत्। ततश्च सर्वविधसृष्टेर्विकासोऽभवत्।

ब्राह्मणग्रन्थेषु स्वयंभूः प्रजापतिर्वेदमूर्तिरूपेण निर्दिष्टोऽस्ति। एष वेदमूर्तिर्ब्रह्मा अव्ययवाक्तत्त्वस्य विकासभूमिरस्ति। यथा वटबीजं विशालवृक्षस्य योनिरस्ति, तथैव वेदत्रयी अखिलस्य ब्रह्माण्डस्य योनिरस्ति। गायत्री-त्रिष्टुप्-पङ्क्तिप्रभृतिच्छन्दांसि वाक्तत्त्वस्यैव परिणामा सन्ति। पुनश्चान्यान्यपि कारणानि एतेषां नानाविधच्छन्द-सामुत्पत्तौ वर्णितानि, देवसृष्टिनिरूपणप्रसङ्गे—आदित्यमण्डलस्य चन्द्रमसो वृत्रसोम-योरपां च सर्जनम्, इन्द्रस्योत्पत्तिः, इन्द्रेण नानाविधसृष्टिकरणम्, रुद्रविष्णुविश्वेदेवस्व-रूपवर्णनम्, अग्निदेवस्य त्रिधोत्पत्तिः, अग्नेश्च रुद्रेणेन्द्रेण यज्ञेन चैकात्मकता—एते विषया देवसृष्टिप्रसङ्गे निरूपिताः सन्ति।

असुरसृष्टिवर्णनप्रसङ्गे शतपथब्राह्मणे एका आख्यायिकाऽस्ति। यद् राजर्षिमनोः

पार्श्वे एको वृषभ आसीत्, यदीयहुंकृत्या असुरा म्रियन्ते स्म। एतेन किलाताकुली-नामकौ असुरऋत्विजौ चिन्तितौ भूत्वा मनुं प्रसाद्य तदीयं तं वृषभं गृहीत्वा यज्ञकर्मणि आलम्भितवन्तौ। तदा वृषभमध्यात् असुरघ्नी शक्तिर्निःसृत्य मनुपत्न्यां प्रविवेश। ततश्च मनुपत्न्या हुंकारेणासुराणां मरणमारब्धम्। पुनश्चिन्ताकुलौ असुरपुरोहितौ यज्ञकर्मणि मनुपत्न्या अपि आलम्भनं विहितम्। तदनन्तरं साऽसुरघ्नी शक्तिः यज्ञपात्रेषु प्रविष्टाऽभूत्, ततश्च यज्ञपात्राणां वादनेन असुराणां मरणं भवति।

पुनश्चान्तरीक्षस्थानीयस्य वृत्रनामकस्यासुरस्य वर्णनमस्ति। तदनु शुष्णनाम-कस्यासुरस्य निरूपणम्। इन्द्रेण पराजितो भूत्वाऽयमसुरो मनुष्याणां नेत्रेषु प्रविष्टोऽभवत्। नमुचिनामकस्यासुरस्याऽपि रुचिकरं वर्णनमायाति। अश्विनीकुमारौ सरस्वतीसाहाय्येन जलस्य फेनेन वज्रं निर्मितवन्तौ। तेन वज्रेणेन्द्र उषःकाले नमुचेश्शिरश्चिच्छेद। स्वर्भानुनामकोऽप्यसुरः सूर्यस्य शत्रुरूपेण वर्णितः। एवमेव वर्चिन्-धुनि-चूमुरि-विश्वरूप-शम्बरप्रभृतयोऽप्यसुरा आसन्। ते च सर्वे इन्द्रादिदेवैः पराजिता बभूवुः। एतत्सर्वं तृतीयपरिच्छेदे द्रष्टव्यम्।

चतुर्थपरिच्छेदे—विष्णुद्वारा मैथुन्याः सृष्टेश्चर्चा कृताऽस्ति। तत्र प्रजापतिः स्वयं सिसृक्षावशीभूत्वाऽऽत्मानं द्विधा व्यभजत्। एको भागः पुरुषः, अपरश्च स्त्रीरूपोऽभवत्। आभ्यामेव स्त्री-पुरुषाभ्यां नानाविधा सृष्टिरभूत्। ब्राह्मणग्रन्थेषु अग्नेः सोमाच्च सृष्टिर्वर्णिताऽस्ति, तत्राग्निः पुरुषप्रतिनिधिः, सोमश्च स्त्रीप्रतिनिधिः कथितः। अग्रे च मानवानामुत्पत्तिर्निरूपिता। मानवोत्पत्तिविषये त्रयः सिद्धान्ता वर्णिताः सन्ति। प्रथमस्तु विराड्भगवतः शरीराङ्गेभ्यो मुखबाहूरुपादेभ्यो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां चोत्पत्तिर्जाता इति।

द्वितीयः—देवताभ्यः कवीनामृषीणां चोत्पत्तिः वर्णिताऽस्ति। तृतीयस्तु वैवस्वतमनोः मानवानांमुत्पत्तिरिति।

शतपथब्राह्मणे मनु-मत्स्यसंवादोऽतीवाश्चर्यकरोऽस्ति। स च निबन्धे पठनीयः। अग्रे च मैथुनधर्मवर्णनावसरे योषा-वृषा इत्येवं रूपेणापि स्त्री-पुरुषयोः स्वरूपं वर्णितमस्ति। एषा च मैथुनप्रक्रिया यज्ञरूपकेण उक्ताऽस्ति। अत एव यज्ञक्रियायां पात्राणां द्वन्द्वं निधीयते। यथा उलूखलमुसले, दृषदुपले—इत्यादि अग्निचयनप्रकरणे स्त्रीपुरुषयोर्मिथुनं शरीराङ्गद्वाराऽपि निरूपितम्। यथा अङ्गुष्ठः पुरुषः, अङ्गुलयः स्त्रियः। कर्णः पुरुषः, भ्रूः स्त्री। ओष्ठः पुरुषः, नासिका स्त्री। दन्ताः पुरुषः, जिह्वा स्त्री। अनेन प्रकारेण सर्वत्र मिथुनस्वरूपं दर्शितम्।

गर्भस्य पूर्णावस्था शिशोरुत्पत्तिश्चापि यज्ञरूपेण निर्दिष्टाऽस्ति। चातुर्वर्ण्यविषये विशेषतो निरूपणमग्रे द्रष्टव्यमिति। यथा शतपथब्राह्मणे वर्णितमस्ति—ब्रह्मा भूरिति व्याहरत्, ततो ब्राह्मणानामुत्पत्तिः, भुवरिति व्याहरत्, ततः क्षत्रियाणाम्। स्वरिति व्याहरणे च विशामुत्पत्तिरभवत्। शूद्राणां प्रसङ्गोऽत्र नागतः, यतो हि यज्ञेषु त्रय एव वर्णा वरणीया भवन्ति। अग्रिमप्रसङ्गेषु शूद्राणामपि उत्पत्तिर्वर्णिताऽस्ति। ततश्चैषां

चतुर्णां वर्णानां धर्मा अपि पार्थक्येन वर्णिताः सन्ति । पुनश्च सप्तर्षिसृष्टिः, पितृसृष्टिः, तिर्यक्सृष्टिः, सरीसृपाणां, मत्स्यादिजलचराणां च सृष्टिर्निरूपिता विस्तरेण निबन्धे द्रष्टव्या ।

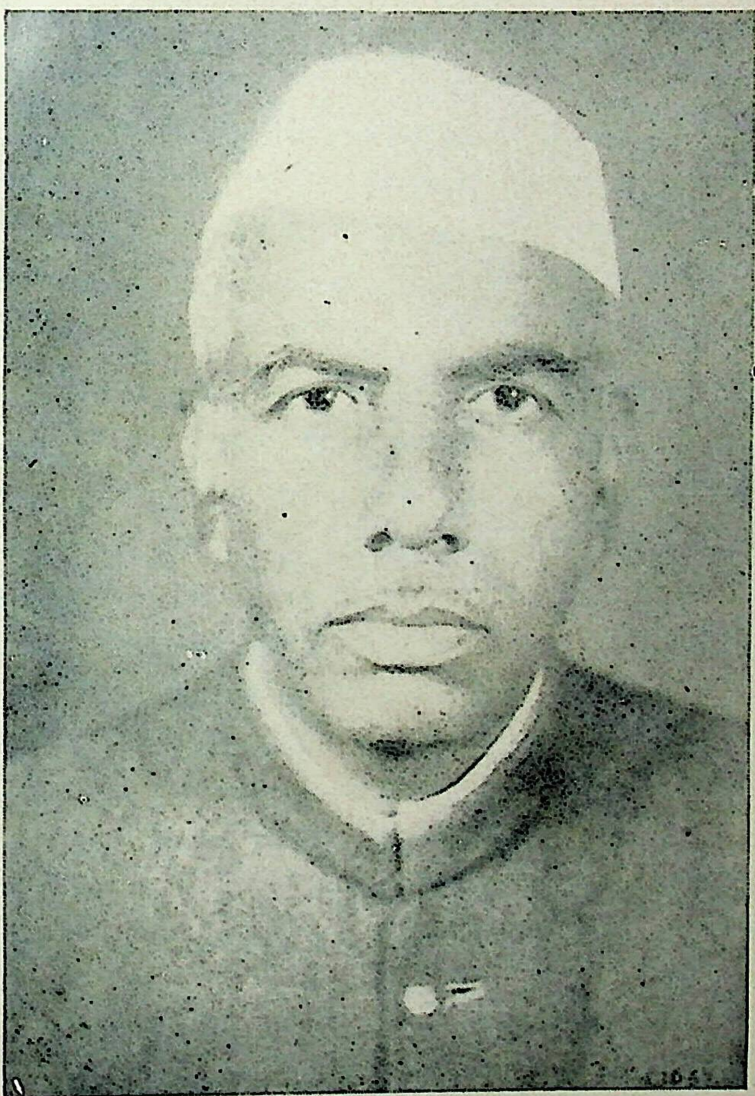
पञ्चमे परिच्छेदे—ऋग्वैदिकसृष्टिः, औपनिषदिकसृष्टिः, पौराणिकसृष्टिश्च क्रमशो निरूपिताः। तत्रेदं विशेषतः प्रतिपादितमस्ति–यद् ऋग्वेदे, उपनिषत्सु, पुराणेषु च केन प्रकारेण सृष्टिर्वर्णिताऽस्ति ।

निबन्धस्य मुख्यो विषयस्तु ब्राह्मणग्रन्थेषु एव सृष्टिविचारः कर्तव्य आसीत्; परन्तु प्रासङ्गिकमेतदपि आवश्यकमस्ति, यत् तत्सदृशेषु अन्यग्रन्थेष्वपि एतद्विषयको विचारो दिङ्मात्रेण दर्शनीयः स्यात् । एवं च पुनरपि सृष्टिकारणस्य हिरण्यगर्भस्य चतुर्वर्णानां तद्धर्माणां च समीक्षा कृताऽस्ति, सा च निबन्धे साकल्येनालोचनीया इति विनिवेद्य विरमति ।

वसन्तपञ्चमी
वि० सं० २०३९

विदुषां विधेयः
नित्यानन्दशुक्लः

तुभ्यमेव समर्पये



पूज्य पिता स्व० नर्वदेश्वर शुक्ल

उद्‌भव
(विक्रमाब्द १९६५)

परमपद
(विक्रमाब्द २०३७)

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ गोरखपुर विश्वविद्यालय की 'डॉक्टर ऑफ फिलॉसाफी' की उपाधि हेतु स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। भूमिका चूँकि ग्रन्थका प्रवेशद्वार होती है, अतः लेखक का यह पुनीत दायित्व होता है कि वह उस द्वार पर ही दर्शक (सुधी-पाठक) को अग्रिम दर्शनीय व्यापक क्रियाक्षेत्र का दर्शन करा दे। ग्रन्थों में यह क्रिया सजीव भूमिका द्वारा सम्पादित की जा सकती है।

वेद भारतीय धर्म एवं दर्शन के प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं। हम सर्वदा से उन त्रिकालज्ञ वेदद्रष्टा ऋषियों के ऋणी रहे हैं, जिन्होंने जीवन की ऐहिक उपलब्धियों से ऊर्ध्वगमन कर उत्थान एवं निःश्रेयस के प्रशस्त मार्ग का निर्देशन किया है। परम्परागतरूप से वेद को अपौरुषेय माना गया है। इसे ब्रह्मा के निःश्वास से उद्‌गत कहा गया है, निर्मित नहीं (सायणभाष्य—उपोद्‌घात-2—यस्य निःश्वसितं वेदाः ...)। निःश्वसित से क्रियात्व का कोई सम्बन्ध नहीं है, अपितु यह उसका स्वाभाविक धर्म है। यह सृष्टि के पूर्व भी हो सकती है; क्योंकि वेद से ही अनुदिष्ट होकर सृष्टिकर्त्ता प्रजापति ने सृजन किया होगा। इसे पौरुषेय मान लेने पर तो उपर्युक्त तर्क ही धराशायी हो जायेगा तथा पुरुषकृत विविध प्रमाणोपलब्धि होने लगेगी, जिसका वर्णन सायणाचार्य ने अपनी ऋग्वेदभाष्यभूमिका में किया है। उपर्युक्त तर्कों के आधार पर ही वेद को श्रुति भी कहा जाता है; क्योंकि लिपि-विकास की पूर्वावस्था में सभी ने अपनी गुरुपरम्परा से वेद को सुना, पढ़ा तथा तदनुरूप आचरण किया।

ब्राह्मणग्रन्थों का रचनाकाल—

ऐतिह्य-पुष्ट प्रमाणों के अभाव में वैदिकसाहित्य के रचनाकाल के सम्बन्ध में नाना वितण्डाएँ हैं। इसको अपौरुषेय मान लेने पर तो कालनिर्धारण की सीमा ही विलीन हो जाती है; क्योंकि जो अनादि है, उसका काल क्या हो सकता है? यह मानव-मस्तिष्क से परे की वस्तु है; किन्तु जब हम वेद को पौरुषेय मानते हैं, तब उसके रचनाकाल पर विचार करना स्वाभाविक हो जाता है। यह तो निश्चित ही है कि वेदों के पश्चात् ही ब्राह्मणग्रन्थ रचे गये, जो वेदार्थ-प्रतिपादन में स्वयंसिद्ध हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों का कालनिर्धारण जटिल है, फिर भी कुछ समालोचकों के विचारों पर प्रकाश डाला जायेगा, जो मुख्यतः अनुमान के आधार पर ही प्रयास किया गया है। इस सम्बन्ध में एम० विन्टरनित्ज महोदय का मत है कि ऋग्यजुःसामाथर्व-संहिताओं की प्रार्थनाएँ एवं यज्ञीयप्रक्रियाएँ ब्राह्मणग्रन्थों से पुरानी हैं। तथापि सम्भवतः वैदिक संहिताओं के सबसे अन्तिम भागों की रचना जिस समय हो रही थी, प्रारम्भिक ब्राह्मणों की रचना उसी समय हुई हो अथवा विस्तृत ब्राह्मण-साहित्य एवं उपनिषदादि की रचना में लगभग सहस्र वर्ष का क्रमिक समय लगा होगा।

प्रायः पाश्चात्त्य विचारकों ने ब्राह्मणग्रन्थों का रचनाकाल १२०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक निर्धारित किया है, जब कि भारतीय विद्वान् ३००० ई० पू० से २००० ई० पू० तक इनका रचनाकाल निश्चित करते हैं। इन विद्वानों में एम० बी० दीक्षित का मत है कि शतपथब्राह्मण का रचनाकाल ३००० ई० पू० है। विन्टरनित्ज ने दीक्षित के इस मत का खण्डन किया है और ब्राह्मणग्रन्थों की काल-सीमा ११०० ई० पू० मानी है। मैक्समूलर ने तो इतना तक कहा है कि आर्यों का उत्तरवर्ती बौद्धिकविकास ब्राह्मणग्रन्थों के आधारपर ही हुआ था। अतः इसके लिए उस साहित्य को समझना अपरिहार्य है। यह यथार्थ भी है। इसके आधार पर उत्तरवर्ती साहित्य रामायण-महाभारत को प्रथमतः ग्रहण किया जा सकता है। हम लगभग द्वितीय या चतुर्थ शती ई० पू० रामायण का रचनाकाल निर्धारित करते हैं। इस प्रकार स्वाभाविक है कि इससे बहुत पूर्व ब्राह्मणग्रन्थ रचे गये; क्योंकि दीर्घ मध्यान्तर में आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों की रचना हुई होगी।

निष्कर्षतः ब्राह्मणग्रन्थों की काल-सीमा अनिश्चित ही है। इस सम्बन्ध में विचार का विस्तार करने से वदतोव्याघात होने लगेगा। अतः उपर्युक्त दीक्षित महोदय के मत को स्वीकार किया जा सकता है।

ब्राह्मणग्रन्थों के प्रतिपाद्य—

वेदवर्णित सृष्टिविचार के सम्बन्ध में प्रायः प्रत्येक विवेकी मानव-मस्तिष्क में यह विचार उद्भासित होता है कि इस अखिल ब्रह्माण्ड में आदित्य, नक्षत्र तथा चन्द्रमा आदि अन्यान्य ग्रहों का सञ्चालन किसके द्वारा हो रहा है, किस समय से यह नियति-चक्र सञ्चालित हो रहा है, अथवा इसका निर्माण किसने किया ? इन्हीं विचार-विमर्शों के फलस्वरूप उन विविध दर्शन-ग्रन्थों की संरचना हुई, जो विश्व के सर्वोत्कृष्ट साहित्य-कोटि में आते हैं।

विश्व के पुरातन वैदिक वाङ्मय में तो मुख्यरूप से इसी सृष्टि-सिद्धान्त को स्थापित किया गया है; क्योंकि बिना विश्वोत्पत्ति-मत का प्रतिपादन किये, किन्हीं भी अन्य विचारों की स्थापना नहीं की जा सकती। अतः वेदवर्णित यज्ञों के प्रयोग-पक्ष के सन्दर्भ में विश्वोत्पत्ति का सिद्धान्तरूपक अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से दर्शाया गया है। ऋग्वेद से उपनिषद् तक के वैदिकसाहित्य में सृष्टि के आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक तीनों पक्ष विद्यमान हैं।

जब हमने श्रद्धेय गुरुवर्य प्रो० अतुल चन्द्र बनर्जी के समक्ष 'वैदिक वाङ्मय में सृष्टि-विचार' विषयक शोधकार्य का प्रस्ताव रखा, तब उन्होंने विषय की विशालता को उद्भासित करते हुए सुझाव दिया कि 'ब्राह्मणग्रन्थों में सृष्टि-विचार' को ही अपना अनुसन्धेय-विषय चुनो। इस प्रकार सहर्ष अनुमोदित कर शती के इस अकृत साहित्य-मन्थन को प्रबन्धरूप में परिणत करवाने का मूलभूत श्रेय उन्हीं गुरुवर को है।

शोध-प्रबन्ध हेतु वर्णित ब्राह्मणग्रन्थों के सम्बन्ध में सामान्य जनमानस में यह शंका स्वाभाविक है कि ये ग्रन्थ ब्राह्मण वर्ण से सम्बन्धित तो नहीं हैं? किन्तु यहाँ यह सर्वथा अग्राह्य है। इनका सम्बन्ध कथित वर्ण विशेष से कदापि नहीं रहा है। 'ब्राह्मण' का शाब्दिक अर्थ है—जो ब्रह्मज्ञान (पराभौतिक ज्ञान) से पूर्ण हो। इसी से प्रभावित होकर यह शब्द समाज में वर्ण-सम्बन्ध में भी ग्राह्य हो गया, किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में यह नपुंसकलिङ्ग वाचक शब्द ग्रन्थबोधक ही है, जिसकी व्युत्पत्ति ब्रह्मन् शब्द से अण् प्रत्यय के योग से होती है (वा० पु० 5 /141—मन्त्रो मन्त्रयतेर्धातोर्ब्राह्मणे ब्राह्मणोऽणनात्)।

इस प्रकार 'ब्राह्मण' शब्दार्थ में मतभेद होना नितान्त आधाररहित है। यहाँ तो 'ब्रह्मणोऽयमिति ब्राह्मणः' अर्थात् ब्रह्म से सम्बन्धित ग्रन्थ ब्राह्मणग्रन्थ हैं।

अन्यान्य स्थलों पर भी इसके विविधरूप दृष्ट होते हैं। सर्वप्रथम तो 'ब्रह्म' शब्द मन्त्रार्थ में ग्राह्य है (श० ब्रा० 7. 1. 1. 5 ब्रह्म वै मन्त्रः)। अर्थात् वैदिक मन्त्रों की व्याख्या एवं विनियोग प्रस्तुत करने के कारण ही ब्राह्मणग्रन्थों की रचना हुई। द्वितीयतः 'ब्रह्म' शब्द यज्ञ अर्थ में बोधित है, जो बृह् (वृद्धौ) धातु से निष्पन्न होने से सिद्ध है। ब्रह्मशब्द की इस व्युत्पत्ति से यज्ञसम्बन्धी कर्मकाण्ड की व्याख्या तथा विवरण प्रस्तुत करनेवाला ग्रन्थ 'ब्राह्मणग्रन्थ' इस नाम से अभिहित होता है।

भट्टभास्कर ने तैत्तिरीयसंहिता में कहा है कि कर्मकाण्ड तथा मन्त्रों के व्याख्यान-ग्रन्थ ही ब्राह्मणग्रन्थ हैं (तै० सं० 1. 5. 1—ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां

व्याख्यानग्रन्थः (भट्ट भास्करः))। वाचस्पतिमिश्र ने निर्वचन, मन्त्रों का विनियोग, अर्थवाद तथा विधि इन चार प्रकार के प्रयोजनों से ब्राह्मणग्रन्थ को पूर्ण बताया है।

यथा—

नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्।
प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते ॥

इस सम्बन्ध में मार्टिन हॉग का मत है कि—"यज्ञों के समय पुरोहितों द्वारा विभिन्न देवताओं की उपासना करते हुए जिन पवित्र छन्दों का गान किया जाता था, वे मन्त्र हैं और उन मन्त्रों की विधि एवं विनियोग सहित व्याख्या करनेवाले ग्रन्थ ब्राह्मणग्रन्थ हैं।

मन्त्रों के व्याख्यानस्वरूप जो शब्द ब्राह्मणग्रन्थों में निर्दिष्ट हैं, उन्हें 'विधि' शब्द कहते हैं। उदाहरणार्थ शतपथब्राह्मण का 'हम सौ वर्ष जीवित रहें' (शतं वर्षाणि जीव्याः) यह स्थल ग्राह्य हो सकता है, जहाँ 'शतं हिमाः' इस ब्राह्मण वचन का विधि-मन्त्ररूप में व्याख्यान किया गया है (श० ब्रा० 2. 3. 4. 21—शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्याः स्म इत्येव एतदाह)। इसी प्रकार ऐतरेयब्राह्मण का एक स्थल है, जहाँ कथित है कि अग्नि विष्णुसम्बन्धित पुरोडाश के निर्वपन का विधान करके अप्रवृत्त की ओर उन्मुख हुआ जाता है (ऐ० ब्रा० 1. 1—आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयम्)। इससे भिन्न अर्थवादस्वरूप ब्राह्मण भेद में गोपथब्राह्मण का एक स्थल दर्शनीय है, जहाँ वर्णित है कि प्रारम्भ में ब्रह्म ही एकमात्र अवस्थित था। (गो० ब्रा० 1. 1—ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्)। यहाँ अज्ञातज्ञापक अर्थवाद है। इस प्रकार आपस्तम्ब परिभाषासूत्र में वर्णित "कर्मवेदना ब्राह्मणानि, ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः" स्थल के आधार पर विधि अज्ञातार्थज्ञानस्वरूप अर्थवाद, ग्रन्थवाचक ब्राह्मणशब्द के दो अर्थ विहित हैं। इस विवेचन से ब्राह्मणभाग की प्रामाणिकता की पुष्टि होती है।

आप्टे के कोश-ग्रन्थ में 'ब्राह्मण' शब्द की व्युत्पत्ति दी गई है, जहाँ बताया गया है कि 'ब्राह्मण' शब्द का तात्पर्य वेद के उस भाग से है, जिसके अन्तर्गत यज्ञों के अवसर पर मन्त्रों के प्रयोग के नियम, उनकी उत्पत्ति तथा कभी-कभी विस्तृत आख्यायिकाओं के साथ व्याख्याएँ सन्निहित हैं। डॉ० राधाकृष्णन् ने अपने 'उपनिषदों की भूमिका' नामक ग्रन्थ में कहा है कि वेदों में कर्मकाण्ड के जो तत्त्व उपलब्ध होते हैं, उन्हें ब्राह्मणग्रन्थों में विकसित कर अनुष्ठानों की एक विस्तृत व्यवस्था का रूप दे दिया गया है। ब्राह्मणशब्द की व्यापकता को यज्ञ से सम्बन्धित करने का पुष्ट प्रमाण

ऐतरेयब्राह्मण में उपलब्ध होता है, जहाँ ब्राह्मण को 'दूरोहणं रोहति' (ऐ० ब्रा० 6. 29. 9—दूरोहणं रोहति तस्योक्तं ब्राह्मणम्) तथा यद् 'गौरि-वीतं' (ऐ० ब्रा० 8. 36. 2—यद्गौरिवीतं तस्योक्तं ब्राह्मणम्) आदि वाक्यों से अन्वित किया गया है। इसी प्रकार 'दूरोहणं ब्राह्मण' तथा 'गौरवीतं ब्राह्मण' के व्याख्यान के साथ ही औदुम्बर तथा श्रुतिब्राह्मण की भी संज्ञा व्याख्यात होती है (ऐ० ब्रा० 8. 39. 3 तथा 5.24. 5)।

इस प्रकार पराभौतिक ज्ञानकोषस्वरूप ब्राह्मणग्रन्थों की उपलब्ध संख्या अट्ठारह है, जिनकी सविस्तार चर्चा प्रथम अध्याय में की गयी है।

सृष्टि-सिद्धान्त —

एक का अनेक भाव में आना तथा अनेक का एक सूत्र में ग्रथित होना ही विश्व-सृष्टि का मूल सिद्धान्त है। ए० ए० मैक्डॉनेल महोदय के अनुसार वेदों में मुख्यतः दो प्रकार के सृष्टि-सिद्धान्त हैं। प्रथमतः यह विश्व बढ़ई द्वारा सृजन का विकास है और द्वितीयतः प्राकृतिक उद्भव का परिणाम हैं (वै० मा०, अनु० रामकुमार राय पृष्ठ-19)।

इस मत की पुष्टि ऋग्वेद में हो जाती है, जहाँ कथित है कि जिन्होंने विश्वसृजन किया, वे या तो सामान्यतः समस्त देवगण थे, अथवा भिन्न-भिन्न लोग ही; किन्तु जहाँ निर्माणस्थल पर किसी प्रकार के विशेषज्ञ की आवश्यकता हुई, वहाँ काष्ठतक्षक अथवा ऋभुओं के कार्यकुशल हाथों का उल्लेख आता है। विष्णु ने मनुष्यों के आवास हेतु तीनों लोकों में डग भरा था (ऋ० सं० 6. 69)।

ऋग्वेद-वर्णित पुरुषसूक्त की व्याख्या सर्वदेववादी है; क्योंकि जो कुछ है और जो कुछ होगा वह सब यही पुरुष है (वही 10. 90)। ब्राह्मणग्रन्थों में यही पुरुष 'प्रजापति' नाम से अभिहित है (श० ब्रा० 11. 1. 6. 2—संवत्सरे पुरुषः समभवत्, स प्रजापतिः)। ब्राह्मणग्रन्थीय मान्यता के अनुसार ब्रह्मद्वारा स्वरूपप्राप्त प्रजापति अथवा ब्रह्म के तूष्णीमनसोद्भूत (सा० वि० ब्रा० 1. 1—स तूष्णीं मनसाध्यायत। तस्य यन्मनासीत्, स प्रजापतिरभवत्) प्रजापति ने अपने बहुप्रजाकामना से प्रेरित होकर सृष्टि का कार्य सम्पादित किया। उनके भूः, भुवः तथा स्वः इत्यादि शब्दोच्चारण से क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग लोकों का निर्माण हुआ। इस लोकनिर्माण के सम्बन्ध में एक तरफ तो इस तरह का तर्क उपस्थित किया गया है और दूसरी तरफ संवत्सरोप-रान्त आदि जल पर तैरते हुए हिरण्याण्ड के विस्फोट के फलस्वरूप अण्डशकलों से

पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग आदि लोकों का सृजन हुआ। यहाँ तक कि उस हिरण्याण्ड के गर्भ में स्थित तत्त्व ही हिरण्य-प्रजापति कहलाया (तै० सं० 4. 1. 8-3—हिरण्ये ब्राह्मणरूपे गर्भरूपेणावस्थितः प्रजापतिः) । इस प्रजापति की अनेक उपाधियाँ हैं। अव्यक्त, अपरिमित अनिरुक्त, कः तथा पुरुष आदि उपाधियाँ इन्हीं के लिए प्रयुक्त होती हैं। सृष्टि के विस्तारण में प्रजापति की सिसृक्षा और तद्-हेतु तप स्वीकार्य है। उसकी यह सिसृक्षा विश्व के प्रायः प्रत्येक पदार्थ के सृजन के पूर्व हुई, यह बात ब्राह्मणग्रन्थों में 'सोऽकामयत्' इस वाक्य के बहुल प्रयोगों से पुष्ट होती है।

अखिल ब्रह्माण्ड के संचालक ऋत और सत्य की उत्पत्ति की ब्राह्मणग्रन्थीय मान्यता स्पष्ट की गयी है, जो रहस्यात्मक है। प्रजापति की उत्पत्ति के सन्दर्भ में 'आपः' तथा 'हिरण्यगर्भ' का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है, जिसका विवरण द्वितीय परिच्छेदान्तर्गत निहित है। पञ्चप्राणों से युक्त हिरण्याण्ड के संवत्सरपर्यन्त जल में तैरने के परिणामस्वरूप चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई तथा विश्व-स्रष्टा ब्रह्म (प्रजापति) उसी हिरण्याण्ड में गर्भित था। सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में एकमात्र वही स्थित था, अन्य नहीं (ता० ब्रा० 9. 9. 12—हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे)।

पृथिवी-निर्माण का बहुत रोचक वर्णन जैमिनीयब्राह्मण में उपलब्ध होता है, जहाँ कथित है कि प्रजापति ने जिसको पाथा (फैलाया) वही पृथिवी बनी (जै० ब्रा० 3. 318)। यह पृथिवी पहले आर्द्रा थी, जिसका फेन, शुष्काप, सिकता, शर्करा तथा औषधि-वनस्पतियों आदि के रूप में विस्तार हुआ। पृथिवी का अग्निगर्भा, परिमण्डला तथासर्पराज्ञिस्वरूप वैज्ञानिक विश्लेषण भी वर्णित है।

लोक-सर्जनोपरान्त वायुमण्डल एवं विभिन्न नक्षत्रों, अभ्रों एवं वर्षा आदि का सृजन हुआ, जिसका क्रमिक उल्लेख वर्णित है। प्रबन्ध के तृतीय परिच्छेद में मुख्यतः वेदात्मिका पराविद्या एवं देवासुरों की सृष्टि-प्रक्रिया वर्णित है, जहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि गायत्र्यादि छन्दों के विधान में 'ओंकार' अक्षर की उत्पत्ति पृथिवी के क्षरण के परिणामस्वरूप हुई। इसी क्रम में अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् तथा पाङ्क्त आदि छन्दों का उत्पत्ति-विधान भी निहित है। वहीं देवासुरों का रोचक सृष्टि-मिथक दर्शनीय होगा, जहाँ प्रजापति द्वारा व्युत्पन्न लगभग तैंतीस सोमपा देवताओं के 'ओंकार' में समाहित हो जाने की बात कही गयी है। इन देवों को क्रमशः द्युः, अन्तरिक्ष तथा भूलोक से सम्बन्धित किया गया है।

प्रजापति के ऊर्ध्वगामी दीप्तियुक्त रेतस् से आदित्य की उत्पत्ति स्वीकार की

गयी है तथा चन्द्रमा की उसके मनस् से। इसी प्रकार प्रायः समस्त देवता प्रजापति द्वारा ही सृष्ट हुए।

इसके अनन्तर किलाताकुली, नमुचि तथा वृत्र आदि मुख्य असुर भी प्रजापति द्वारा ही सृष्ट हुए (तै० ब्रा० 2. 2. 3. 4)। यहाँ तक कि ये दोनों देव एवं असुर प्रजापति के ही पुत्र हैं। सम्भवतः इसीलिए देवासुरों के प्रतिस्पर्धा की सन्दर्भ में ब्राह्मणग्रन्थों में 'प्राजापत्य' शब्द का दर्शन होता है (श० ब्रा० 13. 8. 1. 5)। ये असुर सर्वदा देवताओं से पराजित होते रहे।

इन अमृत-आत्माओं (देवताओं) की उत्पत्ति के बाद मरणधर्मा मानव, पशु, पक्षी आदि जीवों की भी सृष्टि हुई, जिसका विवेचन प्रबन्ध के चतुर्थ परिच्छेद में किया गया है। इस उत्पत्ति का मूल धर्म मैथुन है; क्योंकि नर-मादा के मिथुन (जोड़ों) की मैथुनप्रक्रिया के फलस्वरूप इस मानवी-सृष्टि का विकास हुआ। ब्राह्मणग्रन्थों में यह सृष्टि प्रक्रिया यज्ञ के परिवेश में देखी जा सकती है, जहाँ द्वन्द्व बनाने के लिए सर्वप्रथम अग्नि (पुरुष) तथा सोम (स्त्री) को संयुक्त किया गया है। यहाँ तक कि स्वयम्भू प्रजापति ने अपनी सिसृक्षा के अनन्तर ही अपने आप को इन्हीं दोनों स्त्री-पुरुषों के रूप में परिणत कर लिया, जिसके फलस्वरूप उसने स्वयं अपने शरीर के अर्द्धभाग से पुरुष तथा अर्द्धभाग से स्त्री रूप धारण कर लिया। इसी मैथुनभाव से उसने विश्व-सृष्टि का विकास किया।

मानवोत्पत्ति विशेषकर मनु द्वारा मानी गई है। इस सन्दर्भ में शतपथब्राह्मण का मनु-मत्स्य मिथक बहुत ही रोचक है। मानव के स्थूल शरीर की उत्पत्ति के साथ ही उसको विवेकशील करनेवाले विभिन्न अवयवों तथा वाक्, प्राण, चक्षु, घ्राण तथा अन्य इन्द्रियों का भी सृजन हुआ।

अन्ततोगत्वा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, एवं शूद्र के रूप में मानव का सामाजिक विभाजन हुआ तथा इन वर्णों की उत्पत्ति क्रमशः आदिपुरुष के मुख, बाहु, उरु तथा पैरों से मानी गयी है। शतपथब्राह्मण के अनुसार यज्ञ की भूमिका में प्रजापतिद्वारा भूः, भुवः तथा स्वः आदि के उच्चारण मात्र से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य की उत्पत्ति हुई (श० ब्रा० 2. 1. 4. 12)।

इसी के अनन्तर प्रजापति द्वारा सप्तर्षियों, पितरों तथा तिर्यक् आदि जीवों की भी उत्पत्ति हुई, जिसका वर्णन ब्राह्मणग्रन्थों में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है।

यद्यपि प्रबन्ध में सर्वत्र प्रमाणों का प्रहरी नियुक्त है, जहाँ लेखनी ने स्वच्छन्द

विचरण का अवसर न प्राप्त कर अपनी अनुशासन-दृढ़ता का ही परिचय दिया है; किन्तु इतने से मन सन्तुष्ट न होकर भूमिका लेखन में उपयुक्त अवसर प्राप्त कर सका है, जो अनुसन्धान की अपनी विधा है।

सम्बन्धित विषय के परिवेश में ब्राह्मणग्रन्थों के अनुशीलन के फलस्वरूप जहाँ तक मुझे अनुभव हुआ, वह यह है कि अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि प्रजापति की सिसृक्षा का परिणाम मात्र है। इसके साथ ही साथ ब्राह्मणग्रन्थों में सृष्टि-विवेचन पूर्णतः वैज्ञानिक है, क्योंकि आदि सलिल में स्थित हिरण्याण्ड से जैविकसृष्टि तक के विवेचन में अनेक वैज्ञानिक तथ्यों का परिज्ञान होता है। उदाहरणार्थ शतपथब्राह्मण में वर्णित वायुमण्डल के अभाव में भी चन्द्रग्रह पर मिट्टी की सत्ता को ग्रहण किया जा सकता है, जो आधुनिक विज्ञान का गुरु बनने की सामर्थ्य रखता है। इसी प्रकार पृथिवी के गर्भ में अग्नि की सत्ता भी ग्राह्य है, जिससे पृथिवी की अग्निगर्भिता सिद्ध होती है। क्या यह आधुनिक प्राकृतिक गैस-भाण्डारों का उत्प्रेरक नहीं है? इस प्रकार अधिक तो नहीं; किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ब्राह्मणग्रन्थों का सम्पूर्ण वैदिकवाङ्मय ही एक वैज्ञानिक शब्दकोश है।

यह अनुसन्धान-प्रबन्ध ब्राह्मणग्रन्थों में सृष्टि-विचार के गहन तथ्यों को समझाने का एक माध्यम है। मूलतः सृष्टि-प्रक्रिया के इतिहास से ही ब्राह्मणग्रन्थों के इतिहास को समझा जा सकता है। यतः गद्यशैली का निकष उसकी संक्षिप्तता तथा सारगर्भिता होती है, अतः इस प्रबन्ध में संक्षिप्त तथ्यपरक विश्लेषण का ही आश्रय लिया गया है, जिससे वैदिक अनुसन्धान को सहजतया परिष्कृत किया जा सकता है। यहाँ ब्राह्मणग्रन्थों के दुरूह सृष्टिपरक स्थलों को सहज शब्दावली में गुम्फित कर सुधी-पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। आशा है सहृदय विद्वज्जन प्रबन्धगत त्रुटियों को परिहार्य्य कर अङ्गीकृत करेंगे।

अलमतिविस्तरेण—

शारदीय नवरात्र
विक्रमाब्द २०३९

विद्वज्जन कृपाभिलाषी
नित्यानन्द शुक्ल

कृतज्ञता-प्रकाश

यहाँ थोड़ा विराम करना पड़ता है कि इस कथन को कहाँ तक मर्यादित रखा जाय ? किन्तु लेखनी अग्रसर होती है यह सोचकर कि मुख्यतः जिन्होंने इस कृति की पीठिका में अपने दायित्व का निर्वाह किया है, वे इसके अवश्य पात्र हैं। उनको बोधित करना लेखक का पुनीत कर्त्तव्य है।

ख्रिस्ताब्द १९७७ से १९८१ तक का वह स्वर्णिम काल था, जिसमें पूज्यपाद गुरुवर्य आनन्दकन्द **प्रो० अतुलचन्द्र बनर्जी,** संस्कृतविभागाध्यक्ष एवं आचार्य, गोरखपुर विश्वविद्यालय के निर्देशन में नित्य अनुसन्धानकर्त्ता अपने नाम की सार्थकता सिद्ध कर लक्ष्य की प्राप्ति कर सका; उनको श्रद्धा पुष्प समर्पित हैं।

प्रकाश्यमान ग्रन्थ के प्रति **प्रो० करुणापति त्रिपाठी,** भूतपूर्व कुलपति, सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय, की अहैतुकी कृपा मुझे उन श्रेयास्पद को आभार हेतु विभोर कर रही है। साथ ही **डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी,** भू० पू० व्याकरण-विभागाध्यक्ष, सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी, के अप्रतिम सत्प्रेरक आशीर्वाद ने मुझे उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशन का अवसर दिया है।

अनुसन्धान-काल में **डॉ० रामचन्द्र नारायण दाण्डेकर,** भाण्डारकर प्राच्य-शोध-संस्थान, पुणे, **डॉ० करुणेश शुक्ल** तथा **श्रीयुत विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी,** संस्कृत-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्रति अप्रतिम व्यक्तिगत सहयोग से मैं पूर्णतः कृतकृत्य हूँ। अनुसन्धानोपरान्त प्रकाशनार्थ उत्साहवर्धक सुझाव प्रदान कर्त्ता पूज्यवर **डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी** के प्रति मेरे कृतज्ञता-पुष्प सादर समर्पित हैं, जिनका बहुमूल्य क्षण मेरे लिये हुत हुआ है।

इस दुष्कर किन्तु पुनीत कार्य में मेरे अग्रज पूज्यपाद **श्रीजयदेव नारायण शुक्ल** का पितृवत् सम्बल मुझे कृतज्ञता ज्ञापनार्थ प्रेरित कर रहा है···। यह उन्हीं दिवंगत पिता-पितामहादि के निश्छल त्याग एवं तप का सुफल है। उनके प्रति मेरे श्रद्धापुष्प के कोटिगुण समर्पित हैं, जिससे उन अदृश्यात्माओं को परम शान्ति मिले। मेरी शिक्षा की उत्तरोत्तर वृद्धि के प्रत्येक पर्व पर हमारी पूज्या दिवंगता पितामही बड़े

ही सुरुचिपूर्वक अपनी दन्तविहीन लड़खड़ायी बालतुल्य तुतली वाणी में मुझे अक्षयाशीष देती थीं, वे मेरे श्रद्धा-सुमन को ग्रहण करें।

इस सम्बन्ध में जन्मदात्री 'माई' के प्रति कुछ कहना तो अपर्याप्त ही होगा। मात्र इतने ही से तो उसके ऋण से मुक्ति पाना सम्भव नहीं। अतः उसे सर्वस्व समर्पित है। इसके साथ ही **शारदा, शान्तनु** एवं **ज्योतिभूषण** सदृश प्रिय भ्रातृपुत्रों की निर्मल भावनाएँ श्लाघ्य हैं तथा सौभाग्यवती सहचरी **श्रीमती निर्मला** एवं पुत्री **कु० रमा (गीता)** भी सराहनीय हैं, जिनकी त्यागपूर्ण प्रेम-भावनाओं के फलस्वरूप ही यह अनुसन्धान ग्रन्थ हुआ है। इसी क्रम में शैक्षिक प्रवृत्तियों के उत्प्रेरक **प्रो० रामायण तिवारी**, हॉफलाग कालेज असम, वन्दनीय हैं, जिनकी सुखावह भावनाएँ दशकों से मेरे साथ रहीं।

ग्रन्थ के आवरणसज्जाकर्त्ता **मोहम्मद अकरम लारी**, अनुसन्धाता, मध्यकालीन इतिहास तथा शब्दानुक्रमणी निर्माण में **सुश्री रेनू रानी अग्रवाल**, अनुसन्धात्री, संस्कृत, तो मेरे आभार के उदीयमान सत्पात्र हैं, जब कि **डॉ० अश्विनीकुमार शुक्ल, डॉ० श्रीप्रकाश नारायण मिश्र** एवं **डॉ० विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी** मेरे अनन्य मित्र साभार स्मरणीय हैं। इस गहन एवं प्राविधिक ग्रन्थ के मुद्रण में **'दी इयुरेका प्रिंटिंग वर्क्स'**, वाराणसी के निदेशक **श्रीयुत विश्वनाथ दत्त जी** ने जिस उत्साह एवं शीघ्रता का परिचय दिया है, तदर्थ लेखक उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता है।

काशी
वसन्त पञ्चमी
(विक्रमाब्द २०३९)

नित्यानन्द शुक्ल

विषयानुक्रमणी

★

शब्द-संक्षेप

(ABBREVIATIONS)

द्र०	=	द्रष्टव्य
ऐ० ब्रा०	=	ऐतरेयब्राह्मण
कौ० ब्रा०	=	कौषातकिब्राह्मण
श० ब्रा०	=	शतपथब्राह्मण
का० श० ब्रा०	=	काण्वशतपथब्राह्मण
तै० ब्रा०	=	तैत्तिरीयब्राह्मण
ता० ब्रा०	=	ताण्ड्यमहाब्राह्मण
प० वि० ब्रा०	=	पञ्चविंशब्राह्मण
ष० वि० ब्रा०	=	षड्विंशब्राह्मण
म० ब्रा०	=	मन्त्रब्राह्मण
छा० ब्रा०	=	छान्दोग्यब्राह्मण
वं० ब्रा०	=	वंशब्राह्मण
सा० वि० ब्रा०	=	सामविधानब्राह्मण
जै० उ० ब्रा०	=	जैमिनीय-उपनिषद्ब्राह्मण
जै० ब्रा०	=	जैमिनीयब्राह्मण
गो० ब्रा०	=	गोपथब्राह्मण
आप० प० सू०	=	आपस्तम्बपरिभाषासूत्र
ऋ० सं०	=	ऋग्वेदसंहिता
ऋ० भा० भू०	=	ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका
तै० सं०	=	तैत्तिरीयसंहिता
पा० अ०	=	पाणिनि-अष्टाध्यायी
म० भा०	=	महाभारत
बौ० ध० सू०	=	बौधायनधर्मसूत्र
श० ब्रा० सा० भा०	=	शतपथब्राह्मणसायणभाष्य
तै० ब्रा० सा० भा०	=	तैत्तिरीयब्राह्मणसायणभाष्य
यजु० उ० भा०	=	यजुर्वेद-उव्वटभाष्य
पु० सू०	=	पुष्पसूत्र

अ० सं०	=	अथर्वसंहिता
वै० मा०	=	वैदिक-माइथोलॉजी
तै० उ०	=	तैत्तिरीय-उपनिषद्
छा० उ०	=	छान्दोग्य-उपनिषद्
मनुसं०	=	मनुसंहिता
वे० र०	=	वेदरश्मि
गी०	=	गीता
कठ० उ०	=	कठोपनिषद्
वै० ध० द०	=	वैदिक-धर्म एवं दर्शन
श० ब्रा० वि० भा०	=	शतपथब्राह्मण-विज्ञानभाष्य
हरि० पु०	=	हरिवंशपुराण
का० सं०	=	काठकसंहिता
मू० स० उ०	=	मूल-संस्कृत-उद्धरण
मैं० सं०	=	मैत्रायणि-संहिता
वा० पु०	=	वायुपुराण
ब्र० पु०	=	ब्रह्मपुराण
यजु०सं०	=	यजुर्वेदसंहिता
वा० सं०	=	वाजसनेयिसंहिता
कपि० सं०	=	कपिष्ठलसंहिता
म० भा० शा० प०	=	महाभारत-शान्तिपर्व
का० ब्रा०	=	काठकब्राह्मण
नि०	=	निरुक्त
ब्र० वि० उ०	=	ब्रह्म-विद्योपनिषद्
मा० उ०	=	माण्डूक्योपनिषद्
ब्र० पु०	=	ब्रह्माण्डपुराण
दु० स०	=	दुर्गासप्तशती
भाग० पु०	=	भागवतपुराण
म० भा० व० प०	=	महाभारत वनपर्व
अ० वे०	=	अथर्ववेद
वि० पु०	=	विष्णुपुराण
ऐ० उ०	=	ऐत्तरेयोपनिषद्
बृ० उ०	=	बृहदारण्यक-उपनिषद्
प्र० उ०	=	प्रश्नोपनिषद्
मु० उ०	=	मुण्डकोपनिषद्
उ० भू०	=	उपनिषदों की भूमिका

पैङ्ग० उ०	=	पैङ्गलोपनिषद्
मार्कं० पु०	=	मार्कण्डेयपुराण
शि० पु०	=	शिवपुराण
अ० पु०	=	अग्निपुराण
ग० पु०	=	गरुडपुराण
श्वेता० उ०	=	श्वेताश्वतरोपनिषद्
भा० सृ० वि०	=	भारतीय-सृष्टि-विद्या

(ENGLISH SHORT WORDS REFERENCES)

J. B. R. A. S.	=	Journal of the Bombay Royal Asiatic Society.
S. B. E.	=	Sacred Books of the East.
J. A. O. S.	=	Journal of American Oriental Society.
A. B. O. R. I.	=	Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute.

प्रथम परिच्छेद

ब्राह्मण-ग्रन्थ-समीक्षा

ब्राह्मण-ग्रन्थों में सृष्टि-विचार

ब्राह्मण-ग्रन्थ–समीक्षा—

अखिल विश्व के पराभौतिक ज्ञान-कोष एवं आध्यात्मिक सत्य-स्वरूप 'वेद' शब्द की उत्पत्ति √विद् (ज्ञाने) धातु से मानी जाती है, जो सांसारिक ज्ञान से परे की विद्या होती है। सायण ने तो वेद को पुरुषार्थ-चतुष्टय के ज्ञान और उसको प्राप्त करने का साधन बताया है[1] तथा साथ ही साथ इसे इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार का अलौकिक उपाय भी कहा है।[2] यहाँ √विद्लृ लाभे धातु से व्युत्पन्न 'वेद' शब्द को तैत्तिरीय ब्राह्मण से पुष्ट किया जा सकता है, जहाँ कथित है कि—

> विद्यते लभ्यतेऽनेनेति वेदः करणे घञ् । वेदिर्देवेभ्यो ।
> निलायत तां वेदेनान्वविन्दन् वेदेन वेदिं विविदुः पृथिवीम् ॥
> (तै० ब्रा० 3-3-9-69)

इस प्रकार पद्य, गान तथा गद्य आदि लक्षणों की प्रधानता से वेदत्रयी को ऋक्, यजुः और साम, तथा अथर्ववेद नाम से चार की संख्या में जाना जाता है।

जहाँ[3] वेद के संज्ञा-विधान में मन्त्र और ब्राह्मण शब्द को प्रयुक्त किया गया है, वहीं 'मननात् मन्त्रः' इस परिभाषा से वेद का अर्थ यागादिक अनुष्ठान एवं देवताओं की स्तुति से लिया गया है और ब्राह्मण, जो यज्ञ की विविध प्रक्रियाओं का उपदेष्टा है, से वेद को पूर्ण माना गया है।

इस प्रकार यज्ञ और कर्मकाण्डों की व्याख्या करनेवाले आर्ष मनीषियों द्वारा[4] जिस ग्रन्थ को कहा गया, वह ग्रन्थवाचक 'ब्राह्मण शब्द' 'ब्रह्मन्' शब्द से निष्पन्न है, जब कि यज्ञवाचक 'ब्राह्मण' शब्द √बृह (वर्द्धने) धातु से व्युत्पन्न होने से विस्तार अर्थ का द्योतन कराता है। अतः सामान्यतया यज्ञ की विविध क्रियाओं का ज्ञापन

---

1. ऋग्वेदभाष्यभूमिका — विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिर्धर्मादिपुरुषार्थाः इति वेदाः ।
2. वही — इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रंथो वेदयति स वेदः ।
3. आप० परिभाषा सूत्र 33 — मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ।
4. द्र० वैदिक साहित्य का इतिहास (डॉ० कु० कुमार), पृष्ठ 183 — ब्राह्मणेन प्रोक्तम् = ब्राह्मणम् ।

करानेवाले वैदिक ग्रन्थ का नाम 'ब्राह्मण-ग्रन्थ' है। कपर्दी ने आपस्तम्ब-परिभाषा-सूत्र की व्याख्या में कहा है कि मनन करने से मन्त्र होते हैं तथा अभिधान करने से ब्राह्मण।[1]

ग्रन्थवाचक ब्राह्मण शब्द का प्रयोग सदा नपुंसक लिङ्ग में हुआ है, जो सर्वत्र 'ब्राह्मणम्' इस रूप में पठित होता है, जैसा कि मेदिनी कोष[2] में वेदभाग होने के कारण 'ब्राह्मण' शब्द को नपुंसक लिङ्गवाचक कहा गया है। ग्रन्थ अर्थ में ब्राह्मण शब्द का प्राचीनतम प्रयोग तैत्तिरीयसंहिता में[3] प्राप्त होता है, जिससे प्रभावित होकर अष्टाध्यायी,[4] निरुक्त[5] तथा ब्राह्मणग्रन्थों में[6] इसका प्रयोग किया गया है।

यद्यपि ग्रन्थवाचक ब्राह्मण शब्द नपुंसक लिङ्ग में ही प्रायः सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में प्रयुक्त हुआ है, तथापि कहीं-कहीं इसका पुंल्लिग प्रयोग भी प्राप्त होता है।[7]

वेदान्तर्गत 'वाक्' शब्द सत्य या यज्ञ अर्थ में प्रयुक्त है, जो बौधायनधर्मसूत्र के अनुसार 'ब्राह्मण-ग्रन्थ'[8] से सम्बन्धित है। शुक्लयजुर्वेद के भाष्यकार उव्वट ने तो ब्राह्मण शब्द को श्रुति के साथ ही अन्वित किया है, जो स्वयं ब्राह्मण शब्द के कथन की सामर्थ्य रखती है।[9] इन्हीं ब्राह्मण-ग्रन्थों को ब्रह्मस्वरूप मन्त्रों का व्याख्यान ग्रन्थ भी कहा गया है।[10] ब्राह्मण-ग्रन्थों का मुख्य प्रयोजन संहिता में दी हुई सामग्रियों के व्यावहारिक प्रयोग की शिक्षा देना है। यह ग्रन्थ अपनी विषय-वस्तु के क्षेत्र में विधि तथा अर्थवाद को सम्मिलित किये हुए हैं।

---

1. दर्शपौर्णमास-प्रकाश-सूत्र—32 पृष्ठ 74 — 'मन्त्रो मननात् ब्राह्मणमभिधानात्।'
2. मेदिनीकोष (67) — 'ब्राह्मणं, ब्रह्म-संघाते वेदभागे नपुंसकम्।'
3. तै० सं० 3. 7. 1. 1 — 'एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि।'
4. द्र० (पा० अ० 3. 4. 36)
5. द्र० निरुक्त (4. 27) — पञ्चर्तवः संवत्सरस्य इति च ब्राह्मणम्।
6. श० ब्रा० 4. 6. 9. 20 — यद्वाकोवाक्यं ब्राह्मणम्।
   द्र० ऐ० ब्रा० 6. 5 — दूरोहणं रोहति तस्योक्तं ब्राह्मणम्।
   द्र० वही 8. 2 — यद्वानेति धाय्या तस्या उक्तं ब्राह्मणम्।
7. महाभारत उ० पर्व अ० 13 — 'य इमे ब्राह्मणाः प्रोक्ता मन्त्रा वै प्रोक्षणे गवाम्।'
8. बौ० धा० सू० 1. 7. 10 — वागिति ब्राह्मणमुच्यते।
9. यजुर्वेद उ० भा० 18. 1 — श्रुतिर्ब्राह्मणम्।
10. श० ब्रा० 7. 1. 1. 5 — (ब्रह्म वै मन्त्रः)
    द्र० तै० सं० 1. 5. 1...... — तन्मन्त्राणाञ्च व्याख्यानग्रन्थः।

ब्राह्मण शब्द के सन्दर्भ में अनेकों मत एवं प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जैसा कि शतपथब्राह्मण में प्रयुक्त 'व्याख्यान[1]' शब्द ब्राह्मणवाचक है तथा पुष्पसूत्र में 'प्रवचन[2]' इत्यादि शब्द ब्राह्मणबोधक ही हैं, किन्तु गोपथब्राह्मण में 'विज्ञायते' शब्द यज्ञ के स्वरूप का द्योतक है, ब्राह्मणं का नहीं।[3]

रॉथ महोदय ने ब्राह्मण शब्द का अर्थ सोमकलश[4] से किया है। एल० रेनू महोदय ने ब्राह्मण-ग्रन्थों को दैवी आख्यान बताया है।[5] उनके अनुसार ब्राह्मण-ग्रन्थ विधि तथा अर्थवाद, इन दो वर्गों में विभक्त होते हुए संहिताओं की विषय-वस्तुओं के बोधक अंग थे, जो कालान्तर में स्वतंत्र अस्तित्व में आ गए।

एम्० ब्लूमफील्ड महोदय ने बताया है कि ब्राह्मण-ग्रन्थ केवल यज्ञों की व्याख्या मात्र ही नहीं हैं, वे अनेकों कहानियों और कथाओं के गुम्फितरूप भी हैं।[6]

एल्बेर्त वेबर ने तो ब्राह्मणग्रन्थों के मुख्य विषय को याज्ञिक गीतों से ही

---

1. श० ब्रा० 6. 7. 4. 6 — ता एता एकव्याख्यानाः।
2. पु० सू० 8. 8 — प्रवचनशब्देन ब्राह्मणमुच्यते।
3. गो० ब्रा० 2. 2. 6 — आत्मा वै स यज्ञस्येति विज्ञायते।
   द्र० ऋ० सा० भा० (पृ० 2, पंक्ति 6) — कस्मिंश्चिद् ब्राह्मणे विज्ञायत इति।
   द्र० निरुक्त 2. 12 एवं 17 — एवं ब्राह्मणेऽपि विज्ञायते विचार्यमाणे ज्ञायते।
4. द्र० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश
5. (The French-English Translation of) Vedic India by L. Renou, Page 25. — (The Brahmaṇas) As their name indicates (interpretation of the Brahmaṇ and at the same time by the Brahmaṇas in their capacity as theologians collection of accepted interpretation). The Brahmaṇas deal with sacred science and expound (not rationally, but on the basis of mystical equivalents) the Brahmaṇ. Tradition distinguishes two subjects. Prescriptions (Vidhi) and Explanations (Arthvada)...
6. Religion of the Vedas by M. Bloomfield, Page 45 — "The Brahmaṇ texts not only describe and expound the sacrifice, but they illustrate and enliven it by numerous stories and legends."

सम्बन्धित किया है, जो ऋषियों के वैयक्तिक विचारों से प्रभावित लगता है।[1] पाश्चात्त्य विद्वान् एम० विन्टरनित्ज महोदय ने परमार्थ-विद्या विषयक गद्य-पद्य-संग्रह को ब्राह्मण-ग्रन्थ कहा है, जो विशेषतया यज्ञों के निरूपण तथा पृथक् यज्ञीय दैवकर्म्मों के गूढ़ार्थ-विवेचन से सम्बन्धित होता है[2]। डा० मार्टिन हॉग ने ऐतरेयब्राह्मण के अनुवाद की भूमिका में मन्त्र और ब्राह्मण के अन्तर को स्पष्ट करते हुए 'ब्राह्मण' के सम्बन्ध में कहा है कि :—"यज्ञों के समय पुरोहितों द्वारा विभिन्न देवताओं की उपासना करते हुए जिन पवित्र छन्दों का गान किया जाता था, वे मन्त्र हैं और उन मन्त्रों की विधि एवं विनियोग सहित व्याख्यान करनेवाले जो ग्रन्थ हुए, वे ही 'ब्राह्मणग्रन्थ' कहलाये।"

इसी सन्दर्भ में भारतीय विद्वान् एस० एन० दासगुप्त का कथन[3] भी उल्लेखनीय है। उन्होंने कहा है कि संहिताओं के बाद जिन परमार्थ-विषयक प्रबन्धों का विकास हुआ, वे ही ब्राह्मण-ग्रन्थ कहलाये। ब्राह्मण शब्द के विस्तार के सम्बन्ध में एन० जे० शिन्दे का कथन है कि यह शब्द सृष्टि की पृष्ठभूमि में आत्मा या प्राण शब्द को सम्बोधित कराता है।[4]

---

1. The History of Indian Lit. by A. Weber, Page 12. "Their object is to connect the sacrificial songes and formulas with the sacrificial rite by pointing out, on the one hand, their direct mutual realization and on the other, their symbolic connection with each other......The Brāhmaṇās originated from the opinions of individual sages."

2. History of Indian Lit. by M. Winternitz, Page 46. "Brāhmaṇās are voluminous prose texts which contain theological matter, especially observations on sacrifice and the practical or mystical significance of separate sacrificial rites and ceremonies.

3. A History of Indian Philosophy, Vol. 1 by S. N. Das Gupta. "After Samhitās they grew upto the theological treatises called Brahmaṇās....

4. Religion and Philosophy of the Atharva Veda, by N. J. Shinde, Page 207. "In the evolution of the word Brahman, we find that the word is used to signify the power of the spirit behind the creation."

अन्ततः ब्राह्मण-ग्रन्थों की विषय-वस्तु के सन्दर्भ में यह कथ्य होगा कि ब्राह्मण-ग्रन्थ यज्ञों की वैज्ञानिक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत करनेवाला महनीय विश्वकोष है। निष्कर्षतः जहाँ तक ब्राह्मण-ग्रन्थों की वर्ग-संख्या के सन्दर्भ में अनुसन्धेय है, वह भी सन्दिग्धता से परे नहीं है। भट्टभास्कर ने इसके दो भेद किये हैं, प्रथम, कर्म-ब्राह्मण तथा द्वितीय, कल्प-ब्राह्मण।[1] कर्म-ब्राह्मण मुख्यतः यज्ञ और देव-स्तुतिपरक होते हैं, जब कि कल्प-ब्राह्मण मात्र स्तुतिपरक। इन्होंने ब्रह्म के लिए निर्विरोध ब्राह्मण शब्द प्रयुक्त किया है।[2] कुछ आचार्यों ने ब्राह्मणों की संख्या आठ तक बतायी है, किन्तु अद्यनातन वैदिक साहित्य में उपलब्ध ब्राह्मणों की संख्या इक्कीस के लगभग है। प्रायः समस्त वेदों के भिन्न-भिन्न प्रमुख शाखावाले भिन्न-भिन्न ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है :—

(क) ऋग्वेद— ऐतरेयब्राह्मण, तथा कौषीतकिब्राह्मण या शाङ्खायनब्राह्मण।
(ख) शुक्लयजुर्वेद—माध्यन्दिन शतपथ तथा काण्व शाखीय शतपथब्राह्मण।
(ग) कृष्णयजुर्वेद—तैत्तिरीयब्राह्मण।
(घ) सामवेद— ताण्ड्यमहाब्राह्मण (पञ्चविंश, षड्विंश, मन्त्र एवं छान्दोग्य-ब्राह्मण), आर्षेयब्राह्मण, वंशब्राह्मण, संहितोपनिषद्ब्राह्मण, दैवत-ब्राह्मण, सामविधानब्राह्मण, जैमिनीयोपनिषद् तथा जैमिनीय-ब्राह्मण।
(ङ) अथर्ववेद— गोपथ-ब्राह्मण।

1. ऐतरेयब्राह्मण—

ऋग्वेद संहिता की शाकलशाखा से सम्बन्धित ऐतरेय ब्राह्मण को महिदास ऐतरेय की रचना माना जाता है। महिदास के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती है कि ये एक ऋषि और 'इतरा' नामक शूद्रा से उत्पन्न हुए थे। बुद्धि-प्रखरता के अभाव के कारण ऋषि की दूसरी पत्नियों से जनित पुत्र इनसे मत्सर रखते थे। पिता द्वारा सृष्ट एक विशिष्ट यज्ञ में स्थान न प्राप्त कर सकने के कारण लेखक की माता ने महीदेवी की उपासना की। सन्तुष्ट होकर देवी ने उनको दिव्य स्थान प्राप्त करने तथा सफल ब्राह्मण-ग्रन्थ लेखक होने का वरदान दिया। अतः देवी के प्रति दास्य-भावना रखने वाले लेखक का नाम महिदास तथा इतरा का पुत्र होने से 'ऐतरेय' पड़ा। इस प्रकार महिदास-ऐतरेय यह पूरा नाम हुआ। ऐतरेय शब्द की उत्पत्ति का तो यह परम्परागत ही स्वरूप है, जो पूर्णतः मान्य नहीं है। वस्तुतः 'ऐतरेय' शब्द ऋत्विक् शब्द से सम्बन्धित है। इतरा शब्द से अण् प्रत्यय करने तथा 'तमधिकृत्य कृते ग्रन्थे' इस

---

1. तै० सं० भा० 1. 8. 1, (भाग 3, पृष्ठ 105) — द्विविधं ब्राह्मणं कर्मब्राह्मणं कल्पब्राह्मणं चेति।
2. वही० 7. 4. 12 (भाग 2, पृष्ठ 74) — ब्राह्मणा मन्त्रैर्ब्राह्मणैर्वा।

पाणिनि-सूत्र का प्रयोग करने पर इतरा कृत ऐतरेयब्राह्मण ग्रन्थ बोधित होता है, जो प्रायः नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त है।

चालीस अध्याओं अथवा आठ पंजिकाओं में गुम्फित ऐतरेयब्राह्मण लगभग दो सौ पच्चासी कण्डिकाओं में विभक्त एक पूर्ण ग्रन्थ है, तथा इसकी प्रत्येक पञ्जिका में पाँच अध्याय हैं। इससे इसके चालीस अध्याय होने की बात पुष्ट हो जाती है।

ऐतरेयब्राह्मण के प्रथम सोलह अध्यायों में मुख्यतः सोमादि यागों की चर्चा है। एक दिन में सम्पादित होनेवाले अग्निष्टोम सोमयागों तथा संवत्सर पर्यन्त सम्पादित होनेवाले गवामयन याग का सत्रहवें तथा अट्ठारहवें अध्यायों में वर्णन है और इसके बाद उन्नीसवें से चौबीसवें अध्याय तक द्वादशाह याग का सविनियोग वर्णन है। तदुपरान्त अग्निहोत्र एवं राजसूय आदि यज्ञों का भी वर्णन है। प्रायः यज्ञ-यागादिक स्थल ही सृष्टि-परक भी होते हैं।[1]

इस ब्राह्मणग्रन्थ पर सायण एवं षड्गुरुशिष्य आदि के भाष्य उपलब्ध हैं, जिसके कई प्रकाशन भी हो चुके हैं। पाश्चात्त्य विद्वानों में मुख्यतः कीथ तथा मार्टिन हाग ने इस ग्रन्थ पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

2. कौषीतकिब्राह्मण—

ऋग्वेद की वाष्कलशाखा का ब्राह्मण कौषीतकि या शांखायनब्राह्मण है। ऋग्वेद की यह शाखा तो उपलब्ध नहीं है, किन्तु उसका ब्राह्मण उपलब्ध है। यह ब्राह्मण कौषीतकि आरण्यक से सम्बन्धित है। कुछ आलोचक कौषीतकि और शांखायन में अभेद न कर इन्हें दो स्वतंत्र ग्रन्थ बतलाते हैं, किन्तु उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर भले ही उक्त नामों से अलग-अलग ग्रन्थ प्रकाश में आते हों, किन्तु दोनों की भाषा-शैली, विषय-वस्तु एवं ग्रन्थ का स्वरूप शत-प्रतिशत एक ही जैसा है। कौषीतकि-ब्राह्मण की विषय-वस्तु ऐतरेयब्राह्मण से सामञ्जस्य रखती ह।

तीस अध्यायों वाले कौषीतकिब्राह्मण के प्रत्येक अध्याय में पाँच से सत्रह तक खण्ड हैं। इस प्रकार पूरे ग्रन्थ में 226 खण्ड हैं। प्रथम छः अध्यायों में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य आदि का वर्णन है।

कौषीतकि ब्राह्मण का मुख्य विषय सोमयाग का वर्णन है, जो सातवें अध्याय से अन्त तक वर्णित है। ग्रन्थ के 5.3*, 6.15, 12.7, 13.1, 17.7, 25.1 तथा 28.1 एवम् 30.4 आदि स्थलों पर सृष्टि-विवेचन हुआ है।

---

1. A History of Sanskrit Lit., by A.A. Macdonell, Page 208. "The first three Chapters of this book....... are theosophical in character containing speculations about the world soul under the names of Prāṇa and Puruṣa."

* वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः प्रजा असृजत (कौ० ब्रा० 5. 3)।

इस ग्रन्थ पर सायणभाष्य उपलब्ध नहीं है और न ही अन्य कोई भाष्य; किन्तु पाश्चात्त्य विद्वानों में वी० लिन्डनर द्वारा इस ग्रन्थ का सम्पादन-कार्य हुआ है तथा वी० कावेल एवम् ए० बी० कीथ का आंग्ल अनुवाद उपलब्ध है। भारतीय प्रकाशन में आनन्दाश्रम पूना संस्करण मात्र उपलब्ध है।

3. शतपथब्राह्मण—

शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्धित शतपथब्राह्मण का अपनी विषय-वस्तु के विस्तार के कारण ब्राह्मण ग्रन्थों में अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। कीथ और ओल्डेनबर्ग जैसे विद्वानों का कथन है कि यह ब्राह्मण अतिप्राचीन है, किन्तु मैक्डानेल ने शतपथ को इसकी भाषा एवं शैली के दृष्टिकोण से अतिप्राचीन नहीं माना है। उनके अनुसार शतपथब्राह्मण की भाषा अधिक विकसित है, जो अन्य ब्राह्मणों से पुरानी नहीं हो सकती है।

प्रायः सौ अध्याय होने के कारण ही इस ग्रन्थ का नामकरण शतपथ हुआ होगा।[1] अनेक समालोचकों का विचार है कि इस ब्राह्मण का नामकरण बाद में हुआ होगा, क्योंकि इसमें 66 ही अध्याय थे तथा 34 अध्याय बाद मे जोड़े गये, जिसकी भाषा-शैली पूर्वापेक्षा कुछ अधुनातन-सी है।

शुक्लयजुर्वेद की दो शाखाएँ हैं—वाजसनेयिन् और काण्व। इन दोनों शाखाओं के अलग-अलग शतपथब्राह्मण उपलब्ध होते हैं। वाजसनेयि-शाखीय शतपथब्राह्मण के कई प्रकाशन हुए हैं, जब कि काण्वशाखीय शतपथब्राह्मण पर मात्र कालन्द महोदय ने कार्य किया है। यद्यपि दोनों ब्राह्मणों की विषय-वस्तु बहुत कुछ एक-सी है; परन्तु उनके वर्णन-क्रम तथा अध्यायों आदि के क्रम में कुछ भिन्नता है। वाजसनेयि-शाखा का दूसरा नाम माध्यन्दिन शाखा भी है।

इस प्रकार, माध्यन्दिनशाखीय शतपथब्राह्मण में चौदह काण्ड, सौ अध्याय, अड़सठ प्रपाठक, चार सौ अड़तीस ब्राह्मण अथवा सात हजार छः सौ चौबीस कण्डिकाएं हैं और काण्वशाखीय शतपथब्राह्मण में सत्रह काण्ड, एक सौ चार अध्याय, चार सौ पैंतीस ब्राह्मण अथवा छः हजार आठ सौ छः कण्डिकाएँ हैं। इस काण्वशाखीय ब्राह्मण में माध्यन्दिनीय जैसे प्रपाठक का विधान नहीं है।

शतपथ ब्राह्मण का लेखक निश्चित नहीं है, वैसे, इस सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य और शाण्डिल्य ऋषि का नाम लिया जा सकता है। इस ग्रन्थ में मूलतः वैदिक धर्म एवं दर्शन

---

1. A History of Sanskrit Lit. by A. A. Macdonell, Page 212. "Çatapath Brāhmaṇa, the Brāhmaṇa of the hundred Pathas" So called because it consists of one hundred lectures (Adhyayas)."

की स्थापना की गई है, इसमें यज्ञों की विधियों, मन्त्रों के विनियोग, आध्यात्मिक-चिन्तन, ईश्वरोपासना, सृष्टि-विवेचन एवं मोक्षादि जीवन-लक्ष्यों का उल्लेख किया गया है।

शतपथब्राह्मण के प्रथम नौ काण्डों में शुक्लयजुर्वेद के प्रथम अट्ठारह अध्यायों के मन्त्रों की सविनियोग व्याख्या की गई है, तथा इसमें विविध यज्ञ-यागादि का भी वर्णन किया गया है। दसवें-ग्यारहवें काण्डों में अग्नि-रहस्य, पञ्चमहायज्ञ तथा दर्श-पूर्णमास आदि का विधान है। बारहवें काण्ड में नित्य-नैमित्तिक कर्मों को व्यवहृत न करने के दोष और उनके प्रायश्चित्त, द्वादश-सत्र एवं संवत्सर-सत्र आदि का विवेचन उपलब्ध होता है। इसी प्रकार तेरहवें काण्ड में मेध-यज्ञों (पुरुषमेध, अश्वमेध, सर्वमेध, तथा पितृमेध आदि) की विधियों का पूर्णतः वर्णन है तथा चौदहवाँ काण्ड पूरा प्रवर्ग्य इष्टि से सम्बन्धित है।

शतपथब्राह्मण में मात्र धर्मोपदेश ही नहीं है; अपितु इसमें अनेक रोचक मिथक भी हैं। इन मिथकों (पुराकथाओं) से तत्कालीन समाज की सभ्यता एवं संस्कृति आज भी दर्पण सदृश उभड़ आती है। इससे पूरी आर्य-सभ्यता को समझने में काफी सुगमता होती है। इसमें विदेध-माथव से सम्बन्धित कथा से स्पष्ट होता है कि आर्य-संस्कृति का पूर्व-प्रदेश (बिहार-प्रान्त) में विस्तार कैसे हुआ ? तथा साथ ही साथ, इसी कथा में वर्णित सदानीरा (आधुनिक गण्डकी) नदी से प्राचीन भौगोलिकता की भी पुष्टि हो जाती है। इस ग्रन्थ में वर्णित ऋषिओं और राजाओं के नाम से इतिहास के काल-निर्धारण में अधिक सहयोग मिलता है। दुष्यन्त-शकुन्तला-भरत की कथा, राजा सत्राजित और धृतराष्ट्र की कथा, पुरुरवा-उर्वशी की कथा आदि आख्यान बड़े रोचक ढंग से वर्णित हैं। ग्रन्थ के प्रथम काण्ड के अन्त में वर्णित मनु-मत्स्य की कथा बहुत ही दार्शनिक है, जो प्रायः सृष्टि-उत्पत्ति से सम्बन्धित है।

इस प्रकार पूरे शतपथब्राह्मण को अपनी उदात्त विषय-वस्तु के कारण विश्व का महान् ग्रन्थ माना जा सकता है। इस विशाल ग्रन्थ पर महत्त्वपूर्ण सायण-भाष्य उपलब्ध है, जो अपने में स्वयं ग्रन्थ होने की क्षमता रखता है। इस ग्रन्थ पर पश्चात्त्य विद्वानों में एगलिङ्ग का आंग्ल-अनुवाद तथा एलब्रेर्त वेबर महोदय का संशोधन सहित प्रकाशन कार्य सराहनीय है।

4. तैत्तिरीयब्राह्मण —

कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा से सम्बन्धित ब्राह्मण को तैत्तिरीय-ब्राह्मण कहा जाता है। कृष्णयजुर्वेद की अन्य शाखाओं (कठ और मैत्रायणी) का कोई स्वतंत्र ब्राह्मण उपलब्ध नहीं होता। वैसे कांठकब्राह्मण सम्बन्धी कुछ उपलब्ध अंशों के आधार पर डॉ० सूर्यकान्त ने 'काठकब्राह्मण संकलन' नाम से एक ग्रन्थ प्रकाशित किया है।

तीन काण्डों में विभक्त तैत्तिरीयब्राह्मण अट्ठाइस प्रपाठक अथवा तीन सौ आठ अनुवाकों से गुम्फित कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयशाखा का एक महान् ग्रन्थ है।

तैत्तिरीयब्राह्मण के प्रथम काण्ड में अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, सोम, नक्षत्रेष्टि और राजसूय यज्ञों का विवरण दिया गया है। द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र, उपहोम, सौत्रामणि, बृहस्पतिसव एवं वैश्यसव आदि का वर्णन है। तृतीय काण्ड को प्रथम द्वितीय काण्डों की अपेक्षा बाद की रचना माना गया है। इस काण्ड में नक्षत्रेष्टि तथा अश्वमेध आदि से सम्बन्धित तथ्यों तथा यज्ञ में होनेवाली कमियों को बताया गया है। इसमें भारद्वाज द्वारा वेदत्रयी को प्राप्त करने की कथा दी गई है। तैत्तिरीय-ब्राह्मण के अन्तिम भाग को तैत्तिरीय-आरण्यक भी कहा जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् इसी आरण्यक का एक भाग है। तैत्तिरीय-ब्राह्मण में भी अनेक कथाएँ उपलब्ध हैं, जैसे अहल्या, शुनः-शेप, नचिकेता, प्रजापति-कन्याएँ तथा सोम-कथा आदि। इन कथाओं में शुनः-शेप की कथा अति-महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है कि अनेक विद्वानों ने इस रोचक कथा को लेकर अपनी लेखनी चलायी है। तैत्तिरीयब्राह्मण अपने में एक परिपूर्ण वैदिक साहित्य की निधि है।

इस ब्राह्मण के 1 . 1 . 2 . 2, 1. 1. 3 . 11-12, 1 . 2 . 1. 1, 1. 4. 1, 2 . 1 . 6, 2. 3. 11, 2 . 6 . 4. 1-3, 3. 2. 2. एवम् 7. 3. 7.3, 3. 6. 11, 3. 10 . 5 तथा 3 . 12 . 6 आदि स्थलों पर सृष्टि सम्बन्धी तथ्यों का विवेचन किया गया है।

इस प्रकार तैत्तिरीयब्राह्मण को कृष्णयजुर्वेद का एक महत्त्वपूर्ण भाग माना जा सकता है। इस ब्राह्मण पर सायण-भाष्य उपलब्ध है, जिसमें तैत्तिरीयब्राह्मण का मूलरूप सुरक्षित है।

5. ताण्ड्यमहाब्राह्मण—

सामवेद की उपलब्ध शाखाओं में से कौथुमीयशाखा के ताण्ड्यब्राह्मण के पूरे चालीस अध्याय हैं तथा इसके विभिन्न अध्यायों के नाम अलग-अलग हैं। ताण्ड्य-ब्राह्मण की विषय-व्यापकता के कारण ही इसके लिए 'महत्' विशेषण का प्रयोग हुआ है।

ताण्ड्यब्राह्मण के ही 1 से 25 तक के अध्यायों को पञ्चविंशब्राह्मण, 26 से 30 तक के अध्यायों को षड्विंशब्राह्मण, 31 और 32वें अध्यायों को मंत्रब्राह्मण तथा 33वें से 40वें अध्यायों तक को छान्दोग्यब्राह्मण कहा जाता है। इन ब्राह्मणों पर सर्व-प्रथम सायण का भाष्य उपलब्ध होता है, जिसके आधार पर कई प्रकाशन हुए हैं।

(क) पञ्चविंशब्राह्मण—

प्राचीन विवरणों के आधार पर इसके रचयिता तण्डि ऋषि के पुत्र ताण्ड्य थे। इस ब्राह्मण के दूसरे और तीसरे अध्याय में विविध स्तोमों का वर्णन है। चौथे अध्याय

से पच्चीसवें अध्याय पर्यन्त सरस्वती और दृषद्वती नदियों के किनारे होनेवाले यज्ञों का वर्णन है। इन यज्ञों में आर्येतर व्रात्यों को शुद्ध करके वैदिक धर्म में दीक्षित किया जानेवाला व्रात्यस्तोम नामक रोचक प्रकरण भी उपलब्ध होते हैं।

इस ब्राह्मण के अन्तर्गत याज्ञिक स्थल ही सृष्टिपरक भी हैं। वैसे, प्रजापति का एक से अनेक होने की कामना तथा अहोरात्र की उत्पत्ति, अग्निष्टोम-सृजन, पञ्चदश-स्तोम त्रिष्टुप् आदि की सृष्टि, एकविशंति-स्तोम-सृष्टि, पशु-सृजन, देव-सृजन, मनुष्य एवं पितृ-सृष्टि, वाक्सृष्टि, रथन्तर, बृहद् एवं विराट् सृजन, गायत्र्यादि छन्द सृष्टि-तथा विश्वसृष्टि आदि सृष्टियों का वर्णन इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है।

इस प्रकार इस ब्राह्मण के 6.4.1, 6.719, 6.8.5, 6.9 15-22, 7.5. 1-4, 8.5.9., 8.6.3, 9.6.7.8, 9.9.12, 10.2.4-6, 12.1.4, 13.5.18, 14.5. 13 तथा 25.18.1-6 आदि स्थल सृष्टिपरक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

(ख) षड्विंशब्राह्मण—

ताण्ड्यब्राह्मण के २६-३० अध्यायों को षड्विंश ब्राह्मण कहते हैं। इसमें अनेक प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों का तथा आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक विषयों का वर्णन किया गया है। सुब्रह्मण्या ऋचा[1] से इस ग्रन्थ का शुभारम्भ किया गया है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर इसके ताण्ड्यब्राह्मण का अंश होने की बात पुष्ट हो जाती है। इस ग्रन्थ में दिवसपर्यन्त होनेवाले यज्ञों, एवं अभिचार की क्रियाओं आदि का वर्णन है।

स्पष्टतः इस ग्रन्थ के सृष्टि-क्रम में यज्ञ को ग्रहण किया गया है। देवों की सृष्टि तथा पृथिवी की उत्पत्ति के वर्णन सहित इस ग्रन्थ के 1.3.16-17, 2.2.14, 5.1.1-6, तथा 6.11.2 आदि स्थल सृष्टिपरक तथ्यों की व्याख्या करते हैं।

(ग) मन्त्रब्राह्मण—

ताण्ड्यब्राह्मण के ही इकतीसवें और बत्तीसवें अध्याय को मन्त्र ब्राह्मण की संज्ञा प्राप्त है। इसमें गृहस्थधर्म के दैनिक अनुष्ठानादि की चर्चा है। प्रजासृष्टि, विष्णु द्वारा योनि की कल्पना तथा गर्भाधान की कल्पना सहित इस ग्रन्थ के 1.1.2, 31 1.2. 12, 1.4.6-7, 1.5. 7-9 तथा 2.4 5-6 आदि स्थल सृष्टि का वर्णन करते हैं।

(घ) छान्दोग्यब्राह्मण—

ताण्ड्यब्राह्मण के अन्तिम भाग (33-40 अध्याय) को छान्दोग्यब्राह्मण कहा जाता है। इस ग्रन्थ पर अब तक दो भाष्य उपलब्ध हैं, प्रथम सायण-भाष्य और द्वितीय

1—ष० ब्रा० 1. 1. 1 "ओं ब्रह्म च वा इदमग्रे सुब्रह्म चास्तां ततः सुब्रह्मोद-क्रामदथा ह देव यज्ञेन ब्रह्म पर्यगृह्ण्ऽग्निर्वै ब्रह्म...... सुब्रह्मण्यो ३ँ सुब्रह्मण्यो ३ँ सुब्रह्मण्या३मिति।

गुणविष्णु-भाष्य । मुख्यतः प्रजा-सृष्टि, पुरुष (मैथुनी) सृष्टि तथा कुमार के स्वरूप विवेचन सहित इस ग्रन्थ के 1 . 2 . 18, - 19, 1. 4. 6-9, 1. 5 . 1-2 तथा 2 . 3 . 16 आदि स्थल सृष्टि के तथ्यों को प्रदर्शित करते हैं।

ताण्ड्यब्राह्मण के अंगभूत होते हुए भी इन उपब्राह्मणों को अपना विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

6—आर्षेयब्राह्मण–

तीन प्रपाठकों अथवा बयासी खण्डों में विभक्त सामवेदीय आर्षेयब्राह्मण का उपयोग मुख्यतः सामवेद की आर्षानुक्रमणी को जानने के लिए किया गया है। इस ग्रन्थ का सायणभाष्य ही उपलब्ध है, अन्य भाष्य नहीं। इसमें विभिन्न सामों की उत्पत्ति का उल्लेख है। सर्वप्रथम 1878 ई० में० ए० सी० बर्नेल द्वारा मंगलोर से रोमन लिपि में प्रकाशित किया गया था।

7—वंशब्राह्मण—

मात्र तीन खण्डों वाला वंशब्राह्मण सामवेद का अत्यन्त लघु ब्राह्मणग्रन्थ है। इस में सामवेदीय आचार्यों की वंश-परम्परा दी गयी है, जिसका 2. 22-24 स्थल पितृ, इन्द्र तथा वायु आदि की उत्पत्ति का उल्लेख करता है। इस प्रकार इस ब्राह्मण ग्रन्थ में मात्र यही सृष्टि विषयक महत्त्वपूर्ण स्थल है।

8—संहितोपनिषद्ब्राह्मण–

मुख्यतः 5 खण्डों एवं सूत्रों में विभक्त यह ब्राह्मण ग्रन्थ सामगायन को प्रस्तुत करनेवाला महत्त्वपूर्ण साधन है। फिर भी इसके 5 . 9, 10 स्थल सृष्टि-सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण हैं।

9—दैवतब्राह्मण—

मात्र तीन खण्डों वाला यह ब्राह्मणग्रन्थ भी सामवेदीय लघु ग्रन्थ है। इसके प्रथम खण्ड में साम देवों के नाम दिये गऐ हैं, द्वितीय खण्ड में छन्दों के देवता तथा अन्तिम खण्ड में छन्दों की निरुक्तियाँ बतायी गई हैं।

10—सामविधानब्राह्मण—

सामवेद का मुख्य ब्राह्मण सामविधान है। इसकी विषयवस्तु अन्य ब्राह्मणों से बहुत भिन्न है। इसमें जादू टोना करने, शत्रु-उच्चाटन तथा उपद्रवों को शान्त करने के सामगानों सहित अनुष्ठान आदि का विधान किया गया है। इस ब्राह्मण के तीन प्रकरण हैं। प्रथम प्रकरण में व्रतों का वर्णन है, द्वितीय प्रकरण में तान्त्रिक और तृतीय प्रकरण में आयुष्य के विविध अनुष्ठानों तथा शत्रुओं को मारने के तान्त्रिक प्रयोगों आदि का वर्णन है।

इसके अलावा प्रजापति को उत्पत्ति, विश्व एवं भू-सृष्टि तथा मैथुनी पुरुष-सृष्टि

के वर्णन सहित इस ग्रन्थ के 1 . 1-2 तथा 2 . 2 . 1 स्थल सृष्टिपरक हैं। इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम प्रकाशन कार्य सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा हुआ है।

11—जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण—

जब कि पाश्चात्त्य विद्वान् जे० एन० फारक्यूहर ने उपनिषद् और आर्षेय-ब्राह्मण सहित जैमिनीयब्राह्मण को तलवकारब्राह्मण की संज्ञा दी है, इस सम्बन्ध में जो भी मतवाद हों; किन्तु यथार्थतः जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण ही सर्वग्राह्य है। सत्य तो यह है कि जैमिनीय ऋषि का दूसरा नाम तलवकार है।

सामवेदीय जैमिनीय उपनिषद्ब्राह्मण को तलवकारब्राह्मण भी कहा जाता है।[1] डा० रघुवीर ने इस ग्रन्थ को प्रकाशित करवाकर इसके मूलस्वरूप की रक्षा करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इस ग्रन्थपर सायणाचार्य का कोई भाष्य नहीं है।

इस ग्रन्थ में यज्ञ-यागादि अनुष्ठानों का विशद विवेचन है। इस ग्रन्थ का सृष्टि स्थल भी महत्त्वपूर्ण है। प्रजापति की सत्ता एवं उनके द्वारा प्रजा-सृजन, देव-सृजन, लोक-सृजन, आकाश - चन्द्रमा - आदित्य एवं समुद्रादि की उत्पत्ति बताई गई है। प्रकृति में भी दिन, मास, संवत्सर, ऋतु आदि की उत्पत्ति, पशुसृजन तथा मैथुनी-सृष्टि आदि का भी महत्त्वपूर्ण विवेचन है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ के 1 . 3 . 1. 1-3, 1 . 4 . 4 . 1-10, 1 . 7 . 1 : 1-8, 1 . 15 . 1-3, 1 . 18 . 1, 2 . 2 . 4 . 2, 3 . 7 . 1, 4 . 11 . 1 तथा 4 . 1 आदि सृष्टिपरक स्थल दर्शनीय है।

12—जैमिनीयब्राह्मण—

शुक्लयजुर्वेदीय शतपथब्राह्मण के सदृश सामवेदीय जैमिनीयब्राह्मण को भी, ग्रन्थ एवं विषयवस्तु के दृष्टि-कोण से महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस ब्राह्मणग्रन्थ पर भी सायणभाष्य उपलब्ध नहीं है, किन्तु डा० रघुवीर का मूल प्रकाशन ही उपलब्ध है।

यज्ञ-यागादि अनुष्ठानों का सविनियोग विवरण इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। प्रसंगानुसार प्राण की उत्पत्ति, मनस्, चक्षु, श्रोत्र एवं वाणी की उत्पत्ति प्रजापति की प्रजा-सृष्टि तथा उनको बहुत होने की सृष्टि-कामना, यज्ञ-सृष्टि, पशु-सृजन, प्राण-प्रजा-सृजन, सरीसृप, मत्स्य, वयांसि आदि का सृजन, लोक-सृष्टि त्रयोविद्योत्पत्ति, मैथुनी सृष्टि-धाराएँ, इन्द्र-सृजन, ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त, वसन्त, आदि ऋतुओं का सृजन, कुमारोत्पत्ति, अक्षर-सृष्टि, अग्नि-सृजन, प्रकृति-विधान तथा जगत् की

1—यह विवादास्पद है, क्योंकि पाश्चात्त्य विद्वान् जे० एन० फारक्यूहर का कथन है कि उपनिषद् और आर्षेयब्राह्मण सहित जैमिनीयब्राह्मण को तलवकारब्राह्मण कहा जाता है।

विशाल सृष्टियों का वर्णन पूरे जैमिनीय-ब्राह्मण में उपलब्ध होता है, जो यज्ञों की भूमिका के रूप में विहित है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ के 1 . 1, 1 . 53, 1 . 67, 68, 69, 73, 83, 101. 2 . 1, 108 , 141, 185, 228, 288, 3. 1, 2, 148, 179, 263, 318, 363, तथा 380 स्थल सृष्टि के सम्बन्ध में अनुसंधेय हैं।

१३—गोपथब्राह्मण—

अथर्ववेद का एक मात्र ब्राह्मण-ग्रन्थ गोपथ है। इस ग्रन्थ की रचना प्रायः समस्त ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना के बाद हुई होगी, यह बात स्वतः सिद्ध है, क्योंकि गोपथ-ब्राह्मण के अध्ययन से लगता है कि यह ग्रन्थ अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों (ऐतरेय, तैत्तिरीय तथा शतपथब्राह्मण) से कुछ प्रभावित हैं।

गोपथब्राह्मण के रचयिता गोपथ ऋषि को माना गया है, जिनका नाम अथर्ववेदीय ऋषि-नामावली में आया है। इस ब्राह्मणग्रन्थ में अथर्ववेद की प्रशंसा की गयी है।

गोपथब्राह्मण के दो भाग हैं, पूर्व गोपथ और उत्तर गोपथ। पूर्वगोपथ में पाँच प्रपाठक हैं तथा इनमें एक सौ पैंतीस कण्डिकाएँ हैं और उत्तरगोपथ में छः प्रपाठक तथा 258 कण्डिकाएँ हैं। इसमें पूर्वगोपथ ही मूल ग्रन्थ है तथा संगृहीत अंश उत्तरगोपथ में है।

पूर्वगोपथ में ब्राह्मण की प्रशंसा है तथा उत्तरगोपथ में विभिन्न यज्ञों की प्रक्रियाओं का उल्लेख है। पूर्वगोपथ के प्रथम प्रपाठक में अथर्ववेद की उत्पत्ति और ओंकार तथा गायत्री की महिमा का वर्णन है। दूसरे प्रपाठक में ब्रह्मचारी के कर्तव्यों का उल्लेख है। तीसरे प्रपाठक में होताओं द्वारा वेदाध्ययन की विधि बतायी गई है। चतुर्थ प्रपाठक में ऋत्विक् के दीक्षा का वर्णन है और पंचम प्रपाठक में संवत्सर तथा अश्वमेध यज्ञ का सांगोपांग विवेचन किया गया है।

उत्तरगोपथ का विषय वर्णन इतना व्यवस्थित नहीं है, फिर भी इनमें याज्ञिक रहस्यों का महत्त्वपूर्ण विवेचन उपलब्ध होता है।

गोपथब्राह्मण में प्रसंगानुसार सृष्टि के स्थल भी उपलब्ध होते हैं, जैसे प्रजापति (ब्रह्मा) की उत्पत्ति एवं उनकी सृष्टि-कामना, पुरुष एवं जल की उत्पत्ति, ब्रह्म के बीज का समुद्र में गिरने से भृगु की उत्पत्ति, अथर्ववेद की उत्पत्ति, अङ्गिरा, चन्द्रमा एवं नक्षत्र आदि की उत्पत्ति ,ओम्, विश्वसृष्टि, प्राणापान युक्त प्रजासृष्टि तथा वामदेवोत्पत्ति आदि महत्त्वपूर्ण सृष्टिस्थल गोपथ-ब्राह्मण के गौरव को बढ़ाते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त सन्दर्भ में इस ग्रन्थ के 1. 1- 2, 1, 3, 4, 6, 7, 16, 17 -22, 2 . 7 , 4 . 5 , तथा 6 . 1 आदि सृष्टिपरक स्थल उपलब्ध हैं।

प्रायः गोपथब्राह्मण की प्रक्रियाओं को देखकर अनेक आलोचकों की यह

धारणा बन गई है कि यह ब्राह्मणग्रन्थ पूर्ववर्ती ब्राह्मणों एवं परवर्ती सूत्र-साहित्य के मध्य की कड़ी है। इस ब्राह्मण पर राजेन्द्र लाल मित्र का प्रकाशन उपलब्ध है।

इस प्रकार उपलब्ध ब्राह्मण-ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है, जिनका उद्देश्य समाज में बौद्धिक विकास एवं त्रिविध कल्याणों सहित अपवर्ग की प्राप्ति हेतु यज्ञ-यागादि अनुष्ठानों आदि की स्थापना करना है। इन ग्रन्थों के परिचय से यह भी स्पष्ट है कि यज्ञ ही सृष्टि की भूमिका अदा करते हैं।

अब इन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर सृष्टि का क्रमिक वर्णन किया जायेगा।

सृष्टि–जिज्ञासा—

प्रायः विश्व का प्रत्येक धर्मग्रन्थ सृष्टि की सीमा निर्धारित करता है, जब कि सृष्टि निस्सीम है, तदनुरूप सृष्टि-जिज्ञासा भी निस्सीम होगी। इस जिज्ञासा की अविच्छिन्नता एवं निस्सीम भावना बनी ही रहेगी।

संसार के किसी भी पदार्थ के सूक्ष्मद्रष्टा विवेकी मन में अनायास ही यह तर्क उपस्थित हो जाता है कि यह पदार्थ क्या है? अन्ततः इस तर्क के पुष्टीकरण में प्रश्नों की झड़ी-सी लग जाती है कि यह पदार्थ कैसे बना? क्यों बना? किसने बनाया? कब बनाया? कहाँ बनाया? तथा किसके लिए बनाया? इत्यादि।

तैत्तिरीयब्राह्मण में सृष्टि की जिज्ञासा इस प्रकार उपलब्ध होती है— "वह कौन सा वन है और कौन सा वृक्ष, जिससे विश्वकर्मा ने इस आकाश और पृथ्वी को बनाया[1] ?"

इस जिज्ञासा का समाधान ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही हो जाता है, जहाँ कहा गया है कि "वह वन और वह वृक्ष ब्रह्म ही है, जिससे विश्वकर्मा ने आकाश और पृथ्वी को बनाया"। वह ब्रह्म विश्व का कारण मात्र ही नहीं, किन्तु धारण भी है।[2]

वेद की अथर्वसंहिता भी इसी प्रकार का तर्क प्रस्तुत करती है कि पृथ्वी किसके द्वारा निर्मित हुई? आकाश, ऊर्ध्व, तिर्यक् लोक एवं अन्तरिक्ष आदि किसके द्वारा निर्मित हुए?[3] तैत्तिरीयब्राह्मण एवं ऋक्संहिता तो इतना तक कह देती है कि कौन जानता है और कौन उसका वर्णन कर सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से आयी? चूँकि देवता लोग भी तो सृष्टि के बाद ही जन्म लिए, इसलिए यह जानना असम्भव है कि यह

तै० ब्रा० 2. 8. 9. 6. तथा

1. द्र० ऋग्वेद 10. 81. 4 — किं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावा-पृथ्वी निष्टतक्षुः।
2. तै० ब्रा० 2. 8. 9. 6 — ब्रह्म वनं स वृक्ष आस यतो द्यावा पृथ्वी निष्टतक्षुः।
3. अथर्व सं० 10. 2. 24 — केनेयं भूमिर्विहिता केन द्योरुत्तरा हिता……।

सृष्टि किससे उत्पन्न हुई[1] ? तैत्तिरीयब्राह्मण भाष्य में इसका अर्थ करते हुए सायण कहते हैं कि प्रत्यक्ष और अनुमान से सृष्टि के कारण का ज्ञान नहीं हो सकता।

"......न तावत्प्रत्यक्षेण पश्यन्ति, तदानीं स्वयमेवाभावात्, नाप्यनुमातुं शक्ताः तद्योग्ययोर्हेतुदृष्टान्तयोरभावात्।"

उपर्युक्त ग्रन्थों में जहाँ संदेह किया गया है, वहीं उसका निराकरण भी उपलब्ध होता है कि परमव्योम में निवास करनेवाला परमात्मा ही सृष्टि के कारण तथा स्वरूप को जान सकता है, किन्तु इसका भी कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार सृष्टि के रहस्य को देव और मनुष्य तो समझ ही नहीं सकते, क्योंकि वे स्वयं ही सृष्टि के अनन्तर आते हैं[2]।

वैसे एक स्थल पर कथित है कि सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ थे, जिन्होंने स्थान-स्थान पर पृथ्वी को स्थिर किया था।[3]

इस प्रकार केवल एक ही पदार्थ की जिज्ञासा से उसकी निर्मिति, प्रयोजन, निर्माता, निर्माण-स्थल एवं काल आदि बहु-प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं, और जब यही प्रश्न निखिल विश्व के सम्बन्ध में उत्पन्न होने लगता है, तब उसी से सृष्टि-विचार का जन्म होता है।

सृष्टि-सिद्धान्त—

एक का अनेक भाव में आना और अनेक का एक सूत्र में ग्रथित होना ही विश्व-सृष्टि का मूल सिद्धान्त है। वैसे तो वैदिक वाङ्मय में सृष्टि के दो सिद्धान्तों का उल्लेख पाया जाता है। प्रथम सिद्धान्त विश्व को यान्त्रिक सृजन (बढ़ई द्वारा सृजन) का विकास मानता है और द्वितीय प्राकृतिक उद्भव का परिणाम मानता है[4]।

यह तो निश्चित ही है कि जिन्होंने विश्व सृजन किया, वे या तो सामान्यतः समस्त देवगण थे अथवा भिन्न-भिन्न देवलोग ही; किन्तु जहाँ निर्माण-स्थल पर किसी प्रकार के विशेषज्ञ की आवश्यकता हुई है, वहाँ काष्ठ, तक्षक अथवा ऋभुओं के कार्यकुशल हाथों का उल्लेख है; जब कि विष्णु ने मनुष्यों के आवास हेतु ही तीनों लोकों में डग भरा था[5]।

---

1. तै० ब्रा० 2. 8. 9-5 को अद्धा वेद क इह प्रावोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। द्र० ऋ० सं० 10. 129.6 अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनाय अथा को वेद युते आबभूव॥ तै० ब्रा० 2.8.9.6
2. द्र० ऋ० सं० 10.129.7 इयं विसृष्टिर्यत् आबभूव......।
3. द्र० वही 10.121.1 हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
4. वै० मा० अनु० रामकुमार राय, पृष्ठ 19
5. ऋ० सं० 6.69

ऋग्वेद का पुरुष-सूक्त, जो सृष्टि-प्रक्रिया में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है; इसके अन्तर्गत विराट्पुरुष को ही विश्वोत्पत्ति का एक मात्र प्रतिनिधि माना गया है। इस पुरुष का उल्लेख ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है।[1] ब्राह्मण-ग्रन्थों में इस पुरुष को प्रजापति माना गया है।[2]

सृष्टि-सिद्धान्त के सम्बन्ध में औपनिषदिक मायावादी सिद्धान्त को महत्त्व दिया गया है। यह विश्व माया का विस्तृत स्वरूप है। इसके द्वारा सृष्टि के विभिन्न सिद्धान्तों की सत्ता स्वीकार की गई है, जैसे प्रथमतः यह अखिल विश्व पूर्णतः देवी के स्वतंत्र स्वरूप से निःसृत है, सृष्ट नहीं; द्वितीयतः देवी ने विश्व-सृजन किया और बाद में यह विश्व देवी का स्वतंत्रस्वरूप हो गया; तृतीयतः देवी ने विश्वरूप में अपना परिवर्तन कर सृष्टि कार्य किया;[3] अर्थात् अखण्ड आनन्दस्वरूप अपरिमित परमात्मा अपनी माया से काल्पनिक जीव बनकर समस्त सांसारिक शरीरों में कल्पित तादात्म्य द्वारा प्रविष्ट कर गया।

यह सम्पूर्ण सृष्टिपुरुष और प्रकृति के संयोग का स्वरूप है। इस सन्दर्भ में डॉ० राधाकृष्णन् के विचार महत्त्वपूर्ण हैं, जिन्होंने यह बताया है कि पुरुष और प्रकृति में पूर्णतः आत्मविलोपन के कारण यह सम्पूर्ण विश्व सत्ता में आया।[4]

सृष्टि का प्रारम्भ जीव रहित रहा। उस आदिकाल में यदि कोई रहा तो वह है 'सत्'।[5] इस विषय में किसी ने यह कहा है कि आरम्भ में यह एकमात्र अद्वितीय 'असत्' ही था।[6] जिस असत् से सत् की उत्पत्ति होती है; किन्तु ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि सत् से ही असत् की उत्पत्ति हो सकती है। इसीलिए छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि एक मात्र सत् ही था तथा इसी सत् से असत् की

---

1. द्र० वही० 10.90.
2. श० ब्रा० 11.1.6.2 — संवत्सरे पुरुषः समभवत्। प्रजापतिः।
3. तै० उ० 2.6 — ......'सत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।'
4. Indian Philosophy Vol. 1 by Dr. Radhakrishnan — The whole world even according to it due to the self direction of the obsolute into subject and object, Purusa and Prakriti.
5. Sanskrit English Dictionary by Monier williams page–1134. — Being existing, accuring happening being present stome when 'I was present'.
6. श० ब्रा० 6.1.1.1 — असद् वा इदमग्र आसीत्। See The Religion of the Vedas (1908) by M. Bloomfield, page 235.

उत्पत्ति हुई होगी[1], जो इस विश्व के अतिविस्तृत स्वरूप की सत्ता में व्याप्त है। शतपथब्राह्मण के एक स्थल पर तो सत् के व्याख्यान द्वारा असत् को पूर्ण स्पष्ट कर दिया गया है कि सृष्टि के आदि ब्रह्म के दो ही रूप थे, मूर्त और अमूर्त, स्थित और यत् अथवा सत् और त्यत्। ये क्रमशः सत् और असत् के ही रूप हैं[2]। ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनुसार अस्तित्त्वरहित सत्ता ने अस्तित्त्व धारण करने का निश्चय किया[3]; क्योंकि आरम्भ में आकाश, पृथिवी और वायुमण्डल आदि कुछ भी नहीं था। इसके अनन्तर अस्तित्वयुक्त सत्ता ने एक अण्डे का रूप धारण किया, जो वर्षोपरान्त दो भागों में विभक्त होकर पृथिवी और आकाश बन गया। इन ग्रन्थों में प्रजापति अथवा व्यक्तिगत ब्रह्मा ही विधाता हैं, जो देव, मनुष्य, असुर तथा समस्त प्राणियों के जनक हैं। इनमें प्रजापति उस कार्य का मानवत्वारोपित प्रतिनिधि है, जिसे ऋग्वेद में मनस् का प्रथम बीज कहा गया है[4]। ब्राह्मण-ग्रन्थों के विवरणों में सृष्टि के दो सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है; प्रथमतः प्रजापति-सृष्टि तथा उसकी बहुप्रजा की कामना करना और द्वितीयतः सृष्टि के आदि में सर्वव्यापी जल पर तैरते हुए विश्वरूपी स्वर्ण अण्ड हिरण्यगर्भ का प्रकट होना है, जिस हिरण्यगर्भ से वह आत्मा प्रकट होकर सृष्टि-कामना से युक्त हो सृष्टि करती है।

विश्व का नित्य (आलम्बन) उपादान और तत्त्व (निमित्त) कारण ब्रह्म है। सृष्टि के अनन्तर यह नित्य कारण ही प्रजापति कहलाता है। उपर्युक्त कारणों को क्रमशः अधिष्ठान, आरम्भण तथा ग्रभण भी कहा जाता है।

सृष्टि के सन्दर्भ में अधिष्ठान का अर्थ आस्थान से है, जो आगे चलकर प्रज्ञान युक्त मनोमय पुरुष कहलाता है। ग्रभण सामान्यतया ग्रहण अर्थ में प्रयुक्त होकर अक्षरब्रह्म (प्राणमय-पुरुष) कहलाता है। तथा सृष्टि-प्रक्रिया के उपादान-कारण को क्षर-ब्रह्म (वाङ्मय-पुरुष) कहा जाता है, जिसमें पञ्चभूतों की सत्ता भी निहित है।

यज्ञ की सृष्टिपरता—

सृष्टि की आदि प्रक्रिया यज्ञ के माध्यम से प्रारम्भ होती है। वैदिक काल से ब्राह्मण काल पर्यन्त अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन मिलता है, जिनका मूल उद्देश्य

1. छा० उ० 2. — सदेव सोम्येदमग्र असीदेकमेवाद्वितीयम् ;......... तस्मादसतः सज्जायत.......... ।
द्र० ऋ० सं० 10. 72. 2-3।
2. श० ब्रा० 14. 9. 3. 1 — द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे। मूर्तं चैवामूर्तम्। स्थितं च यच्च। सच्च त्यच्च........ ।
3. तै० ब्रा० 2. 2. 9 — इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीत्।
द्र० छा० ब्रा० 5. 19।
4. द्र० ऋ० सं० 10. 129।

सृष्टि ही है। यहाँ तक कि यज्ञ विश्वसृष्टि का मूल स्रोत है। यह विश्व प्रथम यज्ञ से प्रादुर्भूत हुआ है, जो महान् देवों द्वारा निर्मित किया गया था। वह महान् देव पुरुष ही था[1]। यज्ञ ही में प्रजाएँ उत्पन्न हुईं। यज्ञ से उत्पन्न होते हुए मिथुन, प्रजनन क्रिया में सक्रिय होते थे, जिससे सृष्टि का विकास होता रहा[2]। सृष्टिकर्ता प्रजापति यज्ञ है। ब्राह्मणग्रन्थों के सम्बन्ध में इस बात के पुष्ट प्रमाण मिलते हैं[3]। यहाँ तक कि मनु-मत्स्य-प्रकरण में प्रलयोपरान्त मनु, जल एवं आमीक्ष से एक यज्ञ सम्पादित किये, जिसके फलस्वरूप एक सुन्दरी की उत्पत्ति हुई। मनु उसी के संसर्ग से प्रजोत्पत्ति भी किए। यज्ञ को विश्व की नाभिस्थली भी कहा गया है[4]। यह विश्व एक यज्ञ है, जिसमें स्वंय प्रजापति पशु रूप में स्थित है। इस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में सर्वत्र प्रजापति और यज्ञ द्वारा सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है।

प्रजापति—

गोपथ एवं सामविधानब्राह्मणों के अनुसार इस मत की पुष्टि होती है कि सृष्टि की पूर्वावस्था में सर्वप्रथम एक मात्र ब्रह्म ही अवस्थित था[5]। एक बार सृजन कामना से प्रेरित होकर उसने (तूष्णी) मनस् से ध्यान किया। इस प्रकार की ध्यानावस्था में उसका तूष्णी मन ही प्रजापति का रूप था और उसी मन से प्रजापति का आविर्भाव स्वीकार्य है[6]।

जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण में भी यह तर्क उपलब्ध होता है कि ब्रह्म ने ही

---

1. India of the age of the Brahmaṇas, by— J. R. Basu, Page 144 — "The sacrifice is the source of the creation of the universe. The Universe sprang from the first sacrifice……… .
2. श० ब्रा० 1. 9. 1. 5 — यज्ञाद्वै प्रजाः यज्ञात्प्रजायमाना मिथुना प्रजायते…… अन्ततो यज्ञस्येमाः प्रजा प्रजायन्ते।
   द्र० वही 4. 4. 2. 9।
3. श० ब्रा० 4. 2. 4. 16 — एष वै प्रजापतिर्य एष यज्ञस्तायते
   द्र० वही० 5. 1. 4. 1 — तथा तै० ब्रा० 1. 4. 6. 1
   कौ० ब्रा० 10. 1 — यज्ञ उ वै प्रजापतिः।
   द्र० वही 25.11, 4.26. 3।
4. English Trans. of the La Religion Vedique Vol. 1. — 'The sacrifice is the navel of the world'
5. गो० ब्रा० 1. 1 — ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्।
6. द्र० सा० वि० ब्रा० 1, 1 — स तूष्णीं मनसा ध्यायत्। तस्य यन्मनासीत् स प्रजापतिरभवत्।

प्रजापति को स्वरूप प्रदान किया था, जो मन के मूल में अवस्थित हुआ[1]। इसी परिप्रेक्ष्य में तैत्तिरीयब्राह्मण के अनुसार असत् मन से प्रजापति सत्ता में आये, इस मत की पुष्टि होती है[2]। इससे यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्म का सृष्टिकारक मन ही प्रजापति हुआ था और इसी मनरूप प्रजापति के द्वारा सृष्टि-कार्य सम्पादित हुआ। अतः सृष्टि के आदि में एकमात्र ब्रह्म की सत्ता थी और तदनन्तर प्रजापति की।[3]

इस प्रकार, चूँकि प्रजापति किसी अन्य से जन्म नहीं लिए, प्रत्युत ब्रह्म के तूष्णी मनस् से ही उद्भूत हुए, अतः स्वयं उद्भूत होने के कारण ही उसे 'स्वयं भूः' कहा गया है। इस सन्दर्भ की पुष्टि में प्रजापति के लिए 'स्वयमुद्‌बभौ' शब्द का प्रयोग किया है[4]। अर्थात् वह स्वयं अपनी शक्ति से जगत् के जन्म, स्थिति एवं संहार-क्रिया का प्रवर्त्तक हुआ।

ध्यानावस्था में विद्यमान ब्रह्म के तूष्णी मनस् से प्रजापति जब सत्ता में आये, उस समय वे चार पैरोंवाले थे। उनके तीन पाद विश्व के त्रेधा भाव में निहित थे, जो व्यक्त कहलाये और चौथा पाद उक्त भाव से भिन्न रहने के कारण अव्यक्त कहलाया[5]। प्रजापति की यही अव्यक्तता सन्देहास्पद है। यहाँ प्रयुक्त त्रेधाभाव का तात्पर्य लोकत्रयों (भूलोक, नाकलोक तथा पाताल-लोक) से है।

इसीलिए ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रजापति की अव्यक्त, अनिरुक्त, अपरिमित तथा 'कः' इत्यादि संज्ञाओं से विभूषित किया जाता है[6]। इसके अतिरिक्त, प्रजापति के दो अन्य स्वरूप भी उपलब्ध होते हैं, प्रथम अजायमान तथा द्वितीय विजायमान, जिसे शतपथब्राह्मण की मान्यता में निरुक्त तथा अनिरुक्त कहा गया है[7]।

---

1. जै० उ० ब्रा० 7. 1. 1 — प्रजापतिं ब्रह्माऽसृजत।
2. तै० ब्रा० 2. 2. 9. 10 — असतोऽधिमनोऽसृजत। मनः प्रजापतिमसृजत।
3. श० ब्रा० 6. 1. 3. 1 — प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत।
   द्र०का०श०ब्रा० 10.1.4.3.1 — प्रजापतिर्ह वा इदमेक एवास।
   द्र० ऐ० ब्रा० 10. 1 — प्रजापतिर्वा इदमेक एवाग्र आस।
   द्र० जै०ब्रा० 1.68, 1.314, 2. 252, 61, 2. 375, 3. 339 तथा 3.321
4. मनु० सं० 1. 5-7 — स एव स्वयमुद्‌बभौ।
   द्र० वं० ब्रा० 2. 34 — प्रजापतिर्ब्रह्मणः ब्रह्मा स्वयंभूः।
   द्र० जै० ब्रा० 3. 341 — एका ह वाव देवता स्वयंभूः प्रजापतिरेव।
5. वे० र० पृष्ठ। (डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, बी० एच० यू०)
6. कौ० ब्रा० 29·7 — क उ वै प्रजापतिः।
   ऐ० ब्रा० 2·38 — प्रजापतिर्वै कः।
   द्र० श० ब्र० 6. 4. 3. 4
7. श० ब्रा० 14. 1. 2. 18 — उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च, परिमितश्चापरिमितश्च।

प्रजापति के संन्दर्भ में ऐसे रहस्यात्मक तथ्यों को स्पष्ट करनेवाला 'कः' शब्द है, जिसके परिप्रेक्ष्य में तैत्तिरीयब्राह्मण का एक आख्यान दर्शनीय होगा। उसके अनुसार एक बार प्रजापति ने इन्द्र को देवताओं का अधिपति बनाया। उस समय देवता लोग कहने लगे कि तुम कौन हो ? तथा तुम इतने सामर्थ्यवान् नहीं हो कि हम लोगों पर आधिपत्य कर सको। अन्ततः देवों का आधिपत्य प्राप्त करने में असफल इन्द्र प्रजापति के पास वापस लौटकर देवों की प्रतिक्रिया का वर्णन करने लगे और अपने को देवों के स्वामित्व की शक्ति हेतु प्रजापति के तेज की माँग की। इसके प्रत्युत्तर में प्रजापति ने कहा कि तुमको अपना तेज दे देने के बाद मैं क्या रहूँगा ? प्रजापति के इस कथन के बाद इन्द्र बोले कि तुम 'कः' रहोगे। अतः तभी से प्रजापति को 'कः' कहा जाने लगा।

अप्रत्यक्ष की संज्ञा 'ऊर्ध्व' तथा प्रत्यक्ष की 'अधः' है। सृष्टि-प्रक्रिया में ये ही क्रमशः सूक्ष्म और स्थूल, अमूर्त-मूर्त, अनिरुक्त-निरुक्त तथा पूर्व-अपर इन सापेक्ष भावों से जाने जाते हैं। 'श्रीमद्भगवद्-गीता में विश्व को अश्वत्थ वृक्ष कहा गया है, जिसके मूल को ऊपर तथा शाखाओं के विस्तार को नीचे की ओर बताया गया है[2]। कठोपनिषद् में इसे ही सनातन अश्वत्थ वृक्ष कहा गया है[3]।

वस्तुतः यह संसाररूपी वृक्ष दो भावों का सम्पृक्त रूप है। इसका प्रथमरूप सनातन और अमृत है, यही 'अव्यक्त' या 'कः' प्रजापति है, इसे ही विश्व का मूल अधिष्ठान भी स्वीकारा गया है। प्रजापति का द्वितीयरूप विकार, परिवर्तन और संहार का है। इन्हीं दोनों रूपों का अभिधान 'तत्' और 'एतत्' है। प्रजापति का परोक्ष रूप 'तत्' तथा प्रत्यक्ष 'एतत्' है। इस 'एतद्वैतत्' नियम के अनुसार यह अखिल विश्व ही प्रजापति है[4]। इस प्रकार यह प्रजापति द्विधा है, प्रथम सहस्रशीर्षा और द्वितीय दशाङ्गुल पुरुष[5]।

प्रजापति के आविर्भाव के सम्बन्ध में अन्य आख्यान भी ब्राह्मणग्रन्थों में यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। यथा सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में जल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। एक बार उस जल ने सोचा कि मैं भी बहुत-सी प्रजाओं वाला बनूँ। तदनन्तर अग्नि उस जल के भीतर प्रविष्ट हुए। इसके फलस्वरूप एक स्वर्णिम अण्डे का प्रादुर्भाव हुआ। वह अण्डा पूरे वर्ष भर जल में ही तैरता रहा तथा संवत्सर के बाद

1. द्र० तै० ब्रा० 2. 2. 10. 1-2।
2. श्रीमद्भगवद्गीता—14. 1 ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
3. क० उ० 6. 1 ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
4. वै० र० पृष्ठ 3।
5. ऋ० सं० 10. 90. 1 सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

उसी अण्डे से पुरुष की सत्ता हुई, जो पुरुष प्रजापति कहलाया[1]। इस प्रकार चूँकि हिरण्याण्ड से प्रजापति का आविर्भाव हुआ, इसीलिए इसे हिरण्यगर्भ भी कहा जाता है[2]। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वह प्रजापति ब्रह्माण्डस्वरूप हिरण्य के गर्भ में स्थित था[3]।

सप्त पुरुषों द्वारा सृष्ट वह पुरुष प्रजापति से इतना अभिन्न हो गया कि प्रजापति के सृष्टि-विधान में वही मुख्य सहायक बना। यहाँ तक कि उस पुरुष प्रजापति के अंग-प्रत्यंगों से अनेक सृष्टियाँ भी होने लगीं[4]। ब्राह्मणग्रन्थों में यही पुरुष जब यज्ञ हुआ तब उसका सिर हविर्धान, मुख आहवनीय तथा उदर सद् हो गया[5]।

इस प्रकार प्रजापति जब सत्तावान् हो गया, तब उसने अपने को बहुत-सी प्रजाओं वाला बनने की इच्छा प्रकट की तथा उसी की पूर्ति हेतु तपस्या भी[6]। प्रायः प्रत्येक पदार्थ के सृष्टि-सम्बन्ध में प्रजापति विश्व-रचना का चिन्तन करते हैं[7]।

पुरुष प्रजापति--

वह 'कः प्रजापति' ही आगे चलकर 'पुरुष प्रजापति' के नाम से अभिहित हुआ। सृष्टि की भूमिका में पुरुष प्रजापति का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। वैदिक सृष्टि-धारणाओं में वर्णित प्रजापति ही सांख्यदर्शन में पुरुष नाम से अभिहित है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में पुरुष प्रजापति का प्रतिरूप है। इस सन्दर्भ में कथ्य होगा कि परोक्षकामी देवों ने विभिन्न प्रकार के सप्त पुरुषों का सृजन किया। तदनन्तर वही पुरुष प्रजापति हुआ[8]।

---

1. श० ब्रा० 11. 1. 6. 1-2 — आपो ह वा इदमग्रसलिलमेवास....संवत्सरे हि प्रजापतिरजायत।
2. श० ब्रा० 10. 1. 4. 9 — तस्मादाहुर्हिरण्यमयः प्रजापतिरिति।
3. तै० सं० 4. 1. 8. 3 — हिरण्ये ब्रह्माण्डरूपे गर्भरूपेणावस्थितः प्रजापतिः।
4. ऋ०सं० 10.5,6,8,10तथा 12।
5. कौ० ब्रा० 17. 7 — पुरुषो वै यज्ञस्तस्य शिर एव हविधनि मुखमाहवनीय उदरं सदोऽन्नमुक्थानि।
   द्र० वही० 28. 9।
6. श० ब्रा० 6. 1. 1. 1 — एक एव सोऽकामयत स्यां प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत....।
   द्र० जै० ब्रा० 1. 68 तथा 2.146
   द्र० तै० ब्रा० 1. 1. 3. 1
   ता० ब्रा० 4. 1. 1
7. श० ब्रा० 10. 4. 9. 5 — स ऐक्षत यदि वा कनोयोऽन्नं करिष्य इति सर्वमसृजत।
8. श० ब्रा० 6. 1. 1. 2-5 — परोक्षकामो हि देवास्तऽइद्धाः सप्त नानापुरुषान्-सृजत ... स एव पुरुषः प्रजापतिरभवत्। स यः स पुरुषः प्रजापतिरभवदयमेव स योऽयमग्निश्चीयते।

ऋग्वेद में यही सहस्रशीर्षा पुरुष है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में वह पुरुष जहाँ यज्ञ के रूप में वर्णित है, वहीं उसकी वाणी आज्य हो गयी[1]। विपरीत इसके, शतपथब्राह्मण में कथित है कि उस पुरुष की उत्पत्ति यज्ञ से ही हुई; परन्तु कुछ भी हो, पुरुष प्रजापति और यज्ञ में एकात्मकता तो निश्चित है[2]। सम्भवतः इसीलिए ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'यज्ञो वै प्रजापतिः' इस वाक्य का प्रयोग हुआ है।

एक स्थल पर पाङ्क्त (सोम के प्रकार) को ही पुरुष कहा गया है[3]। इस प्रकार पुरुष की संख्या निर्धारित करते हुए ब्राह्मण-ग्रन्थों में कथित है कि वह पुरुष इक्कीस प्रकार का है, क्योंकि दश हस्ताङ्गुलियाँ, दशपादाङ्गुलियाँ तथा एक आत्मा मिलकर पुरुष कहलाता है[4]। एक स्थल पर पुरुष के सत्रह भेद इस आधार पर किये गये हैं कि प्राण की दस संख्या, पाँच ग्रीवा, एक सिर तथा एक आत्मा होती है[5]। इन सभी की संयुक्ति सत्रह होती है। ऋग्वेद में इसी पुरुष के लिए सहस्रशीर्षा शब्द का प्रयोग किया गया है।

प्रजापति की सहज सष्टि-कामना—

इस ब्रह्माण्ड का सृजन करनेवाले प्रजापति ने सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम सृजन करने की कामना की। तत्पश्चात् उस कामना से सम्बन्धित तपस्या भी। इसी के फलस्वरूप सृष्टि का विकास हुआ। वैसे तो सृष्टि का वर्णन प्रायः संपूर्ण वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होता है; किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों में सृष्टि-विवेचन महत्त्वपूर्ण है, जहाँ सर्वप्रथम प्रजापति की सिसृक्षा का उल्लेख मिलता है।

सृष्टि के आदि काल में कोई भी नहीं था। यदि कोई रहा तो वह है प्रजापति। इसी एकमात्र प्रजापति ने अपने एकाकी चिन्तन द्वारा इच्छा की कि कैसे मैं बहुत प्रजाओंवाला बनूँ? इसके लिए उसने कठिन श्रम एवं तप किया तथा तप से अपना शरीर तपा दिया। तदनन्तर अन्न का सृजन हुआ; क्योंकि अन्न ही पार्थिव सृष्टि का मुख्य तत्त्व है। इस प्रकार प्रायः प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रजापति ने सर्वप्रथम अपनी जिज्ञासा प्रकट की, जिसके फलस्वरूप विश्व-सृजन कार्य सम्पादित हुआ[6]।

---

1. कौ० ब्रा० 28. 9 — पुरुषो वै यज्ञस्तस्य वागेवाज्यं।
2. श० ब्रा० 12. 4. 3. 1 — एतस्माद्वै यज्ञात्पुरुषो जायते।
3. श० ब्रा० 10. 2. 3. 41 — पाङ्क्तो वै पुरुषः।
4. श० ब्रा० 6. 2. 1. 3 — एकविंशो वै पुरुषो दश हस्त्याङ्गुल्यो दश पाद्या आत्मैकविंशपुरुषः प्रजापतिः।
5. श० ब्रा० 6. 2. 1. 9 — सप्तदशो वै पुरुषो दश प्राणाश्च त्वार्यङ्गान्यात्मा पंचदशो ग्रीवाः षोडशश्च शिरः सप्तदशं पुरुषः प्रजापतिः।
6. श० ब्रा० 2. 2. 2. 1 — प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास। स ऐक्षत कथं नु प्रजायेय इति सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत।
   द० वही० 6. 1. 1. 1 — एक एव सोऽकामयत् स्यां प्रजायेय इति।

संवत्सर की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी प्रजापति की जिज्ञासा महत्त्वपूर्ण है। संवत्सर के सन्दर्भ में प्रजापति अपना मनोरूप प्रदर्शित करते हैं। इसी मनःकल्पना से वाणी का संयोग हुआ तथा इससे जिस रेतस् का जन्म हुआ, वही संवत्सर हो गया[1]। यज्ञों द्वारा बहुयजन करने की कल्पना भी प्रजापति द्वारा ही हुई थी। जहाँ उनकी यह कामना कल्पित है कि मैं बहुत यज्ञों द्वारा बहुत यजन करूँ[2]। प्रजापति की इस सृष्टि-कामना के सन्दर्भ में वाणी का भी उल्लेख ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, जहाँ कहा गया है कि प्रजापति ने सृष्टि-कामना से प्रेरित होकर 'भूः' शब्द द्वारा वाणी का विसर्जन किया, जिसके फलस्वरूप पृथिवी की सृष्टि हुई[3]।

इस प्रकार सृष्टि की प्रारम्भिकावस्था में प्रजापति द्वारा की गई कामना का अपना महत्त्व है तथा प्रजापति की इसी कामना के अनन्तर सृष्टि-प्रक्रिया विकसित हुई।

---

1. जै० ब्रा० 2. 68 — जनो ह वै प्रजापतिर्देवता। सोऽकामयत बहु स्याम् प्रजायेय भूमानं गच्छेयमिति।

द्र० जै० ब्रा० 2. 146 — प्रजापतिर्वाऽकामयत बहु प्रजया पशुभिः। प्रजायेय वैश्वदेवः प्रजास् सृजेयेति।

द्र० ता० ब्रा० 4.1.1 तथा
तै० ब्रा० 1. 1. 3. 1

द्र० श० ब्रा० 10. 4. 8. 5 — ए ऐक्षत यदि वा इममभिं्स्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति स तया वाचा तेनात्मनेदं्सर्वमसृजत।

श० ब्रा० 10. 4. 8. 4 — सोऽकामयत द्वितीयोमऽआत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनं्समभवदशंनायां मृत्युस्तद्येत रेत आसीत संवत्सरोऽभवत।

2. श० ब्रा० 10. 4. 8. 6 — सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति।
3. तै० ब्रा० 2. 2. 4. 2 — सोऽकामयत स भूरिति व्याहरत्। स भूमिमसृजत।
4. ऋ० सं० 10. 190. 1 — ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।

द्वितीय परिच्छेद

हिरण्याण्ड, पार्थिव एवं आन्तरिक्ष-सृजन

ऋत और सत्य—

ब्रह्माण्ड-सृष्टि-विवेचन में सर्वप्रथम ऋत और सत्य के शासन को लिया जा सकता है; क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि किसी न किसी शासन के नियंत्रण में अवश्य संचालित होती रही है। सृष्टि के आदि में एकमात्र अवस्थित प्रजापति ने विश्व-सृजन करने की कामना की। यह उनका पहला मानसिक विकार था। सृष्टि-विषयों का नियमन एवं संयमन करने के लिए भी कुछ तथ्यों का होना आवश्यक है। अनुसंधेय ऋत और सत्य इन्हीं तथ्यों में से एक है। इनका सृजन विश्वसृष्टि को नियमबद्ध करने के लिए ही किया गया[1]। अखिल ब्रह्माण्ड इसी ऋत एवं सत्य के शासन से शासित है। इन तथ्यों में मुख्यतः ऋत का वर्णन ब्राह्मण-ग्रन्थों में नाममात्र-सा उपलब्ध होता है, जब कि ऋग्वेद एवं उपनिषद् आदि ग्रन्थों में इसका वर्णन बहुतायत से हुआ है। इस सन्दर्भ में डॉ० ए० बी० कीथ ने कहा है कि "ऋत-विषयक धारणा से तो ब्राह्मण-ग्रन्थ सर्वथा अपरिचित ही हैं, और उनमें निहित दर्शन के वर्णन में इन ग्रन्थों के विभाजन की उपेक्षा कर देनी होगी; क्योंकि इनका क्रम तो मात्र कर्मकाण्ड में किये जानेवाले कृत्यों के क्रम के पीछे चलना दीख पड़ता है[2] ..." किन्तु बात ऐसी नहीं है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी ऋत और सत्य का वर्णन उपलब्ध होता है। शतपथब्राह्मण के अनुसार सत्य 'आपः' द्वारा उत्पन्न हुआ[3] और इसी सत्य से ब्रह्म (प्रजापति) का उद्भव भी स्वीकार्य है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में ऋत के समस्त सिद्धान्त परोक्षरूप से यज्ञों में व्याप्त हैं[4]। वस्तुतः सृष्टि ऋत द्वारा ठीक उसी प्रकार सम्पादित की जाती है, जैसे वह यज्ञों द्वारा सम्पादित होती है। इसके अन्तर्गत मुख्यतः तीन विधाएँ समाविष्ट होती हैं।

प्रथमतः यह ऋत अपने ब्रह्माण्ड को नियमित करने की क्षमता रखता है। इसीलिए इसे संसार एवं प्रकृति का नियन्ता भी कहा जाता है। प्रकृति के उषः, सूर्योदय, सूर्यास्त तथा संध्या आदि के नियम इसी ऋत से संचालित होते हैं। आदिभूत सत्ता का यह एक ऐसा आदेश है, जिसके द्वारा अखिल ब्रह्माण्ड संचालित होता रहता है[5]।

---

1. वै० ज० एवं द० भाग 2, पृष्ठ 550 (डॉ० ए० बी० कीथ) अनु० डॉ० सूर्यकान्त।
2. श० ब्रा० 14. 8. 6. 1 आपः एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त। तद् यद् तद् सत्यमसौ स आदित्यः।
3. तै० ब्रा० 3. 8. 3-5 ऋतस्य सामन्सरमारपन्तीत्याह। सत्यं वा ऋतं....।
4. वै० ध० एवं द० भाग पृष्ठ 108-104 अनु० डॉ० सूर्यकान्त

पितरों ने ऋत के अनुसार ही सूर्य को स्वर्ग में स्तम्भित किया था, जिससे सूर्य ऋत का भ्राजमान प्रतीक हुआ। संवत्सर ऋत के ही बारह अरों वाला एक क्रच होता है। आम्र (मधुभार) एवं पयस् जो कि कृष्णवर्णा गौ द्वारा प्राप्त होता है, वह उस गौ का ऋत है। . . . . यह ऋत उत्पन्न होकर ऋतगर्भ बन जाता है तथा ऋत के अनुसार जल के स्रोत प्रवाहित होते हैं[1]।

द्वितीयतः आहुतियों को देवताओं तक ले जाने तथा देवताओं को आहुतियों तक बुलाने का कार्य ऋत ही करता है। यज्ञ ऋत की वृद्धि करता है तथा ऋत यज्ञ को व्याप्त किये रहता है[2]। इस प्रकार ऋत मानव द्वारा देवों की आराधना अथवा उसके लिए दिये जानेवाले हव्यादि को विशुद्धता से सम्बन्धित होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ऋत देवों के प्रति मनुष्य-कृत कर्म की विशुद्धता तथा उसके बलिदान आदि अनेक कृत्यों को नियमित करता है।

तृतीयतः, ऋत के नैतिक पक्ष को भी लिया जा सकता है, जहाँ प्रत्येक नैतिक-गुणसम्पन्न मानव इसके नियम का परिपालन करता है तथा तदनुकूल व्यवहार भी। परिणामस्वरूप वह सत्य के समीप पहुँच जाता है, क्योंकि नैतिक पक्ष में ऋत का ही दूसरा नाम सत्य है। इसी कारण शतपथब्राह्मण में ऋत और सत्य में तादात्म्य स्थापित किया गया है जहाँ ऋत और सत्य दोनों एक साथ वर्णित हैं, वहाँ ऋत का तात्पर्य प्राकृतिक व्यवस्था से है एवं सत्य का नैतिक व्यवस्था से।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में सत्य का लौकिक देवता, आपः आदित्य, शुक्र हिरण्यप्राण, चक्षु, पृथिवी, यजमान तथा ब्रह्म से सामंजस्य स्थापित किया गया है, जो वस्तुतः ऋत के नैतिक पक्ष से ही सम्बन्धित है।

सत्य सम्बन्धी धारणा भी शतपथब्राह्मण में उपलब्ध होती है। जहाँ यह कथित है कि आदि 'आपः' ने सत्य का सृजन किया। यह सत्य ब्रह्मस्वरूप 'आपः' ही है[3]। सायणाचार्य ने हिरण्यगर्भ को ही सत्यस्वरूप बताया है, जो निश्चित ही ब्रह्म का स्वरूप है[4]।

ऋत और सत्य की परिभाषा शतपथब्राह्मण के विज्ञानभाष्य में भी उपलब्ध है कि सहृदय-सशरीरी पदार्थ को सत्य कहते हैं तथा हृदयशून्य, केन्द्ररहित पिण्ड-पदार्थ को ऋत कहते हैं[5]।

---

1. वही०
2. द्र० वही।
3. श० ब्रा० 14. 6. 9. 1 — आपः एवेदमग्र आसुः / ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म प्रजापतिं, प्रजापतिर्देवान् …… ।
4. द्र० वही सा० भा० — सत्यं सूत्रात्मकं हिरण्यगर्भमसृजन्त ।
5. श० ब्रा० (हिन्दी) वि० भा० खण्ड–1, पृष्ठ–133

तैत्तिरीयब्राह्मण में अम्बुध को ऋतसमुद्र कहा गया है, जिसका नाम परमेष्ठी भी है। वायु, सोम आदि इतर ऋत पदार्थ, परमेष्ठी-ऋत समुद्र में रहते हैं[1] तथा सत्य इसी ऋत के उदर में रहता है। चूँकि सशरीरी वस्तु का नाम सत्य है, अतः पिण्ड का सत्य होना स्वतःसिद्ध है। इस सत्यपिण्ड का स्वरूप ऋत परमेष्ठी से ही निर्धारित होता है। सत्य सर्वदा ऋत से आवृत रहता है तथा सत्य भी है। यहाँ तक कि स्वयंभूः ब्रह्म (सत्य) भी ऋत से आवृत रहता है। अतः इन सब विशेषताओं से ऋत-तत्त्व को सृष्टि का मूल कारण माना जा सकता है।

सृष्टि-प्रक्रिया में वायु ऋत कहलाता है; क्योंकि पिण्ड के रिक्त स्थानों में ऋत ही वायु के रूप में भरा रहता है। कोई भी ऐसा सत्य पिण्ड नहीं है जो ऋत वायु से वेष्ठित न हो। शतपथ-ब्राह्मण के प्रथम काण्डान्तर्गत 'अपां-प्रणयन' के प्रकरण में स्पष्ट कहा गया है कि पानी ऋत है। 'यज्ञो वा आपः यज्ञमेवैतत्' इस वाक्य में प्रयुक्त वितत शब्द पानी (ऋत) का ही धर्म है। सत्यभाव का वितान नहीं हुआ करता है। इसी लिए यहाँ ऋत धर्मा आपः को ही ग्रहण किया गया है। शतपथब्राह्मण में ऋत और सत्य दोनों को अन्योन्याश्रित कहा गया है[2]। इस प्रकरण को तैत्तिरीयब्राह्मण के उस स्थल से भी सम्बन्धित किया जा सकता है, जहाँ वर्णित है कि प्रजापति के तप द्वारा प्रादुर्भूत ऋत, सत्य से अनुस्यूत होता है तथा सत्य ऋत से[3]। इस प्रकार ऋत एवं सत्य सर्वत्र व्याप्त रहते हैं, जिसमें कहीं ऋत की प्रधानता रहती है, तो कहीं सत्य की प्रधानता। ऋत के अवधारणा के सम्बन्ध में एक पाश्चात्य विद्वान् ट्रिवरलिंग का कथन है कि यह एक जगत्सम्बन्धी नियम है, जिससे समस्त पदार्थ जीवितावस्था में सुरक्षित रहते हैं। वैदिक वाङ्मय में यही नियम ऋत कहलाता है[4]।

इस सम्बन्ध में डॉ० रामचन्द्र नारायण दाण्डेकर का कथन भी उल्लेखनीय है। उनके अनुसार यह ऋत जगत्सृष्टि सम्बन्धित वस्तुओं को दृष्टिगोचर कराने का एक महत्वपूर्ण स्रोत है[5]।

---

1. तै० ब्रा० 1. 5. 5. 1 — ऋतमेव परमेष्ठी ऋतं नात्येति किंचन ऋते समुद्र आहितः, ऋते भूमिरियमाश्रिता।
2. श० ब्रा० 6. 4. 4. 10 — ऋतं सत्यमृतं सत्यं। ...... ।
3. तै० ब्रा० 8. 7. 7. 4 — ऋतं सत्ये धायि। सत्यमृते धायि।
4. A History of Religion, East and West, by T. Ling, Page 51. — 'A cosmic law by which all things are maintained in existence and in accordace with which certain automatically, and inevitably follow from any given action. The cosmic law is known as 'ṛta' in vedic language.
5. Universe in Vedic thought, by Dr. R. N. Dandekar. Page-93. — The Ṛta is often characterised as the source of the phenomena.'

इस प्रकार यह ऋत एवं सत्य ऐसी पवित्र शक्तियाँ हैं, जिनके द्वारा ब्रह्माण्ड की सभी घटनाएँ तथा मानव के सभी धार्मिक एवं नैतिक कृत्य नियमित होते रहते हैं।

सलिल एवं हिरण्याण्ड—

प्रथम परिच्छेद के वर्णित विवरणों से स्पष्ट है कि सृष्टि की प्रारम्भिक सलिलावस्था में जो विकार उत्पन्न हुआ, उसी ने समुद्रार्णव का रूप ग्रहण कर लिया। तदनन्तर इसने पुनः अपनी अवस्था में परिवर्तन कर आपः को उत्पन्न किया। यहाँ आपः तत्त्व का अर्थ प्रकृति या पञ्चभूतों की अवस्था से है, जिसमें वह साम्यावस्था में निवर्तमान रहता है। इसी को ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'यदाप्नोत् तस्माद् आपः' कहा गया है अर्थात् जब सर्वत्र पंचभूत अवैषम्य रूप में व्याप्त थे, वही आपः की अवस्था कहलाती है। ये पंचभूत प्रारम्भ में आपः के भीतर स्थित थे। इन सब प्रमाणों के आधार पर अण्डोत्पत्ति के पूर्व की अवस्था को ही सलिल की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि तब वे सभी तत्त्व सलिलमय थे। वैदिक वाङ्मय में विश्व की इसी अवस्था को लक्ष्य करके कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में चारों तरफ जल ही जल था, जिसको दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यह अखिल विश्व आपोमय था[1]। यह तो रही बात सलिल की पूर्वावस्था की; किन्तु इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में शतपथब्राह्मण के एक स्थल द्वारा यह स्पष्ट होता है कि इस सलिल की उत्पत्ति प्रजापति ने की थी[2]। क्योंकि बहुप्रजाओं की कामना करनेवाला वह पुरुष प्रजापति अपने श्रम एवं तपश्चर्या के फलस्वरूप सर्वप्रथम जब त्रयी विद्या को उत्पन्न कर चुका, तब वहीं उसका प्रतिष्ठान हुआ। पुनः वहीं स्थिर होकर उसने तपस्या की, जिसके परिणामस्वरूप आपः की उत्पत्ति हुई। डॉ वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार यह सलिल साधारण जल या पानी नहीं था, वरन् सर्वव्यापक शक्ति-तत्त्व या मातृ-तत्त्व था। यही सलिल समुद्र भी है, इसीलिए इस सलिल को गहन एवं गम्भीर 'अम्भ' की संज्ञा दी जाती है[3]।

पुराणों में इसके लिए एकार्णव की संज्ञा प्रयुक्त की गई है। इसमें दो-तीन अथवा चार आदि की पृथक् संख्याएँ नहीं होती हैं। इसे तो एकमेवाद्वितीयं कहा गया है। उसे ही पौराणिक शब्दों में अखण्ड या आखण्डल भाव भी कहते हैं। संसार की प्रत्येक रचना खण्ड भाव में है। वह पूर्वकालिक महासमुद्र का एक भाग है। सृष्टि के समय जल की ये धाराएँ भिन्न-भिन्न हो जाती हैं, जिनको विभाजित करनेवाली

---

1. श० ब्रा० 11. 1. 6. 1 — आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास।
   द्र० जै० ब्रा० 3. 360
   द्र० ऋ० सं० 10. 129.3 — तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम।
2. श० ब्रा० 6. 1. 1. 9 — सोऽपोऽसृजत।
3. तै० ब्रा० 2. 8. 9. 4 — अम्भः किमासीत् गहनं गभीरम्।
   द्र० ऋ० सं० 10. 129. 1

सीमायें प्रलय-काल में समाप्त हो जाती हैं। तब इसके एकार्णव तथा महासमुद्र की संज्ञा सार्थक होती है[1]।

जब आपः की सत्ता विद्यमान हो गयी, तब सृष्टि-क्रम में हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति हुई[2]। प्रथम परिच्छेद में वर्णित प्रजापति ही हिरण्यगर्भ हैं,[3] जिसके चतुर्थांश में यह विश्व है तथा इसका एक-तिहाई भाग इससे परे है। शतपथब्राह्मण में एक उपलब्ध स्थल के अनुसार यज्ञ (प्रजापति) का सिर विदीर्ण होकर रस-रूप में द्रवित होने लगा और इसके अनन्तर वह रस अप्सुओं में प्रविष्ट कर गया, जो आज भी बहता रहता है[4]। गोपथब्राह्मण के अनुसार एकमात्र ब्रह्मा की सृष्टि-कामना के फलस्वरूप पहले पुरुष की उत्पत्ति हुई, तदनन्तर आपः की[5]।

शतपथ-ब्राह्मण के एक अन्य स्थल पर नारायण तथा पुरुष के द्वारा विश्वसृजन हेतु पंचरात्र की संज्ञावाले पुरुष-मेध यज्ञ का वर्णन उपलब्ध होता है[6]। पञ्चरात्र को ब्राह्मण-ग्रन्थों में पंचाक्षर या पंचदेव कहा गया है[7]। अ, इ, उ, ऋ, लृ—ये पाँच अक्षर होते हैं, जिनमें से अ, इ, उ अक्षर क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा इन्द्र के प्रतीक हैं। ऋ एवं लृ अक्षर क्रमशः अग्नि एवं सोम के प्रतीक हैं। इस प्रकार ये पंचाक्षर पंचदेवों के ही स्वरूप हैं। इन्हें पंचप्राण भी कहा जाता है। आपः का निर्णीत स्वरूप आण्ड कहलाता है, जिसके भीतर पंचप्राणों के समष्टि-भूत प्राण, रेतस् अथवा शुक्र के रूप में विद्यमान रहता है। यही रेतोयुक्त प्राण हिरण्याण्ड का गर्भ है[8]। यह अण्डा हिरण्य कैसे बना ? इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि अग्नि ने अपने मानसध्यान द्वारा आपः के साथ मिथुनी-भाव युक्त होकर हिरण्य का सृजन किया था। उस अग्नि का रेतस् ही हिरण्य है[9]। इस प्रकार अग्नि ही हिरण्यमया प्राण है, जो सलिल के गर्भ में स्थित

1. हरिवंशपुराण 3. 10. 34
2. श० ब्रा० 7. 4. 1. 19 — हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे ......भूतस्य जातः पतिरेक आसीत... ।
3. तै० सं० 5. 5. 1. 2 — प्रजापतिर्वा हिरण्यगर्भः प्रजापतिरनुरूपत्वाय ।
4. श० ब्रा० 3. 9. 2. 1 — यत्र वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत तस्य रसोद्र्त्वापः प्रविवेश तेनैवैतद् रसेनापः स्यन्दन्ते ।
5. गो० ब्रा० 1. 2 — तस्मादापो अभवंस्त....... ।
6. श० ब्रा० 13. 5. 5. 1 — पुरुषो ह नारायणोऽकामयत अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेदँ सर्वँ स्यामिति । स एतं पुरुषमेधं पंचरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत् ।
7. वही 11. 1. 6. 5 — तानि वा एतानि पंचाक्षराणि ।
8. श० ब्रा० 11. 1. 6. 1 — ता अकामयन्त । कथं नु प्रजायेमहीति ता अश्राम्यंस्तास्तपोऽतप्यन्त तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्मयमाण्डँ सम्बभूवां ।
9. श० ब्रा० 2. 2. 3. 28 — अग्नेः रेतो हिरण्यम् ।
द्र० तै० ब्रा० 3. 8. 2. 4 — रेतो हिरण्यम् ।

होकर हिरण्याण्ड के रूप में प्रकट हुआ। गीता में भी कहा गया है कि वह ब्रह्म रेतस् या हिरण्यमय वीर्य को अपनी ही योनि (महत्) में गर्भित करता है[1]। इसलिए इसकी संज्ञा हिरण्यगर्भ है। पौराणिकों के अनुसार, जिस प्रकार ब्रह्म का प्रथम विकास हिरण्यगर्भ है, उसी प्रकार प्रकृति का प्रथम विकार महत्तत्त्व है।

हिरण्याण्ड की उत्पत्ति के सन्दर्भ में विष्णुपुराण में कहा गया है कि प्रकृति का प्रथम महत्तत्त्व तथा उससे उत्पन्न अहंकारादि तत्त्व अलग-अलग होने के कारण विश्व-सृजन में जब असफल रहे, तब प्रकृति के अनुग्रह तथा पुरुष के अधिष्ठान से वे समस्त तत्त्व आपस में मिल गये। उनके इस मिथुनीभाव से एक अण्डे की उत्पत्ति हुई, जो स्वर्ण के समान चमकीला था। इसी से वह हिरण्याण्ड कहलाया। वह अण्डा जल के बुद्-बुद् के समान लघुकाय था, जो सलिल के आधार पर क्रमशः विकसित हुआ तथा अन्त में एक दीर्घ स्वरूप को ग्रहण कर लिया। यही विश्व-सृष्टि का कारण बना[2]।

हिरण्यगर्भ की गति—

इस हिरण्याण्ड की तीन प्रकार की गतियाँ हैं, जिनमें सर्वप्रथम पर्यप्लवन होता है अर्थात् इस गति-क्रम में वह संवत्सरपर्यन्त सलिल पर तैरता रहता है। द्वितीय गति-क्रम के अन्तर्गत दिन और रात्रि के अभाव में एकमात्र प्रजापति ने (हिरण्यगर्भ) अंधेरे में प्रसर्पण किया[3]। और तृतीय क्रम में हिरण्याण्ड ने समेषण किया। प्रारम्भ में आपः ही महान् सलिल (आपः) था, जिसको उर्मियों ने फाल-फाल शब्द किया तथा जल पर हिरण्याण्ड प्रसर्पित हुआ[4]।

इस प्रकार इस सृष्टिकारी सलिल के मध्य उत्पन्न हिरण्याण्ड सहस्र सूर्यों के तीव्र तेज के समान चमकीला था। विश्वस्रष्टा ब्रह्म चूँकि उस हिरण्याण्ड में स्वयं गर्भित हुए थे, इसीलिए उसे हिरण्यगर्भ की संज्ञा से जाना जाता है। हिरण्याण्ड की उपर्युक्त तीन गतियों के परिणाम-स्वरूप चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई।

---

1. गीता 14. 3 — मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
2. वि० पु० 1. 2. 5. 3-54 —
   पुरुषाधिष्ठित्वाच्च प्रधानाग्रहेण च।
   महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुखादयन्ति ते॥
   तत्क्रमेण विवृद्धं सन् जलबुद्बुद्वत्पमम्।
   भूतेभ्योऽण्डं महाबुद्धेर्महत्तदुदकेशयम॥
   See. 'The Brahminic Period, Part II, Page 454-456 by–J. T. Wheeler. — The conception in the order of creation is that of a productive seed......
3. ता० ब्रा० 16. 11
   द्र० तै० ब्रा० 2. 9. 4 — प्रजापतिर्वा इदमेक आसीद्। नाहरासीन्न रात्रिरासीत् सोऽस्मिन्नन्धे तमसि प्रासर्पत्।
4. जै० ब्रा० 3. 360 — आपो वा इदमग्रे महद् सलिलमासीत एतास्ताः आपः। ते ऊर्मयः समास्यन्त।....तद्धि हिरण्मयमाण्डंसमैषद्।

विशाल पृथिवी-सृजन—

संवत्सरोपरान्त वह हिरण्याण्ड दो भागों में फट गया। तब उसके इन्ही दो शकलों से दिव और भूलोक का निर्माण हुआ[1]। इस क्रम में सर्वप्रथम पृथिवी का ही निर्माण हुआ तदनन्तर दिव का। इस क्रम-संबंधी प्रश्न को ऋग्वेद में भी उठाया गया है, जहाँ कथित है कि कवियों! बताओ कि इन द्यावा-पृथिवी में कौन पूर्वा है, कौन अपरा तथा ये दोनों किस प्रकार उत्पन्न हुए[2]? इसका समाधान शतपथब्राह्मण के एक याजुष मंत्र में उपलब्ध होता है कि यह पृथिवी ही भुवनों में सर्वप्रथम उत्पन्न की गयी[3]। युजर्वेद में भी भुवनमात्र के प्रथम सृष्ट होने की बात कही गयी है[4]। तैत्तिरीय-संहिता के अनुसार भी उपर्युक्त सलिल एवं हिरण्याण्डकी प्रक्रिया द्वारा सर्वप्रथम पृथिवी की उत्पत्ति मानी गई है[5]। जैमिनीयब्राह्मण के अनुसार प्रजापति द्वारा सृष्टि के प्रथम चक्र के अन्तर्गत ही आकाश और पृथिवी का निर्माण हुआ। जैसा कि कहा भी गया है कि बहुत होने की कामना रखने वाले प्रजापनि ने अपने श्रम एवं तपस्या के द्वारा अन्तरिक्ष तथा इस लोक का निर्माण किया[6]। पृथिवी के सृजन कार्य में प्रजापति ने वाक्शक्ति का आश्रय लिया, तभी तो उनके 'भूः' इस कथन मात्र से पृथिवी उत्पन्न हो गई[7]। पृथिवी की एक संज्ञा उत्तानपाद भी है, जिसकी सृष्टि 'भूः' इस शब्दकथन द्वारा हुई[8]। इन्हीं विचारों से मिलते-जुलते विचार ग्रीक विद्वान् हेसियोड का भी है।

---

1. श० ब्रा० 6. 1. 1. 11 — यत्कपालमासीत् सा पृथिव्यभवत्।
2. ऋ० सं० 1. 1. 85 — कतरा पूर्वा कतरा परायोः कथा जाते कवयः को वि वेद।
3. श० ब्रा० 14. 1. 2. 10 — इयं वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा।
   द्र० वही 6. 5. 3. 1 — इयमु (भूमिः) वा एषा लोकानां प्रथमा सृज्यन्त।
4. यजु० सं० 37. 4 — भूतस्य प्रथमजा।
   द्र० वही 35. 7 — यत्यग्र आसीत् इति।
5. द्र० तै० सं० 4. 6. 4. 2
6. जै० ब्रा० 1. 357 — स इमं लोकम् अजनयद्। अन्तरिक्षलोकममुं लोकम् इति।
   द्र० जै० उ० ब्रा० 1. 15. 3 — ततः पृथिवीमसृजत।
7. तै० ब्रा० 2. 2. 4. 2. — स भूरिति व्याहरत स भूमिमसृजत्।
   द्र० श० ब्रा० 2. 1. 4. 11 — भूति वै प्रजापतिः इमाम् अजनयत।
   द्र० जै० ब्रा० 1. 101 — प्रजापतिर्यदग्रे व्याहरत स भूरित्येव व्याहरत् स इमाम् असृजत।
   द्र० श० ब्रा० 1. 1. 6. 3 — स भूरिति व्याहरत् सेयं पृथिव्यभवत्।
   द्र० गो० ब्रा० पू० 1. 17 — तस्य प्रथमया स्वरमात्रया पृथिवीमग्निमोषधि-वनस्पतीन्।
8. ऋ० सं० 10. 72. 4 — भूर्यंश उत्तानपदो भुवः आशा अजायन्त।

उनके अनुसार आदि सत्ता से जब एकार्णव निकल कर बाहर आया तब विशाल वक्ष-स्थलवाली पृथिवी उत्पन्न हुई, जिसपर समस्त वस्तुएँ स्थिर हुईं[1]।

इस पृथिवी के आकार-प्रकार के सम्बन्ध में शतपथ-ब्राह्मण में कहा गया है कि पृथिवी का व्यास गोवर्ण के परिमाप में या प्रादेश मात्र में है[2]। काठकसंहिता में बताया गया है कि यह पृथिवी उतनी ही बड़ी है, जितनी यज्ञ के उत्तर वेदी का विस्तार होता है[3]। मैत्रायणीसंहिता के अनुसार सर्वप्रथम यह पृथिवी वाराह (सूकर) के थूथुन के परिमाप जैसी थी[4]। काठक तथा कपिष्ठलसंहिता के अनुसार आदि सृष्टि में स्थित एकमात्र प्रजापति ने वाराह बनकर जल में गोता लगाया तथा उस वाराहस्वरूप अपने मुख के परिमाप के अनुसार कुछ मिट्टी ऊपर उठायी, वही पृथिवी बन गई,[5] किन्तु इन सब संकेतों से पृथिवी का एक वास्तविक स्वरूप नहीं प्रकट हो रहा है। अतः कालान्तर में इस छोटे परिमापवाली पृथिवी का विस्तार अवश्य किया गया होगा, जैसा कि ऋग्वेद में कहा गया है कि उस सहस्रशीर्षा पुरुष ने पृथिवी को फैलाया[6]। तैत्तिरीयब्राह्मण के एक विवरण के अनुसार प्रजापति ने सृष्टि के आदि में एकमात्र स्थित जल से श्रम एवं तप किया तथा पुष्कर के पत्ते पर स्थित होकर सोचा कि मैं सृष्टि करूँ। इसके अनन्तर उसने स्वयं वाराहरूप धारण कर उस सलिल में डुबकी लगायी तथा अपने थूथुन से निकाली हुई मिट्टी को उसी पुष्करपर्ण पर फैलाया या विस्तार किया, वही पृथिवी कहलायी[7]। इस प्रकार पृथिवी का पृथ् (विस्तारे) धातु से निष्पन्न होना सिद्ध हो जाता है। इस पृथिवी के विस्तार की बात वायुपुराण में भी कही गयी है[8]। जैमिनीयब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने उस आदि

---

1. Thog–116 FF. by Hesiod. Chaos first came into existence; Then arose "The broad bosomed Earth, the firm abode of all things."
2. श० ब्रा० 14. 1. 2. 11 — इयती ह वा इयमग्र पृथिव्यास प्रादेशमात्री।
3. का० सं० 2. 6 — एतावती वा इयं पृथिव्यासीत् यावत्युत्तरवेदिः।
4. मै० सं० 1. 6. 3 — यावद्वै वाराहस्य चषालं तावतीमग्र आसीत्।
5. का० सं० 8. 2 — आपो वा इदमासन् सलिलमेव। स प्रजापतिर्वराहो भूत्वा उपन्यमज्जत् तस्य यावन्मुखमासीत तावतीमृदम् उदहरत् सेयमभवत्।
6. ऋ० सं० 1. 103. 2 — स धारयत् पृथिवीं पप्रथच्च।
7. तै० ब्रा० 1. 1. 3. 6-7 — स वाराहीरूपं कृत्वोपन्यमज्जत् तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत्। यदप्रथयत् तत्पृथिव्यै...।
8. वायु० पु० (ब्र० पु० सू०) 1, 5, 134 — तदम्भस्तनुते यस्मात् सर्वा पृथिवी धातुस्तनोति विस्तारे तेनाम्भस्तनवः स्मृतः।

सलिल में प्रतिष्ठित होने की इच्छा की तथा सर्वप्रथम वैश्वानर सहित अतिरात्र (अग्निष्टोम) को देखा। उन्होंने उसे ग्रहण कर जल के ऊपर फैलाया। इस प्रकार उसने जिसको फैलाया वही पृथिवी हुई[1]। शतपथब्राह्मण के अनुसार नौ संख्यागत सृष्टियों के विवेचन में प्रजापति ने इच्छा की कि मैं इस जल से पृथिवी को बनाऊँ। अतः उसने हिरण्याण्ड को दो टुकड़ो में करके जल में फेंक दिया। इससे उसका जो रस क्षरित हुआ, वह कूर्म हो गया तथा वह जल के ऊपर आ गया। वही पृथिवी हुई, क्योंकि यह सम्पूर्ण पृथिवी चारों तरफ से जल के ऊपर ही स्थित है[2]। वास्तव में प्रजापति ने कहा कि यह 'भूः' प्रतिष्ठान हो जाय, तब वही भूमि हो गई। जैसा कि पूर्व के प्रसंगों में कहा भी गया है कि प्रजापति ने ही इसे पाथा (फैलाया), जिससे यह एक विशाल पृथिवी हो गई[3]।

इस सन्दर्भ का एग्लिंग अनुवाद भी महत्त्वपूर्ण होगा[4]। ऐतरेयब्राह्मण के अनुसार बहुप्रजा होने की कामनावाले प्रजापति ने अपने श्रम एवं तप के फलस्वरूप पृथिवी को उत्पन्न किया[5]। षड्विंशब्राह्मण के अनुसार तो स्वर्गकामी देवताओं द्वारा पृथिवी का उत्पन्न होना कहा गया है[6]। शतपथब्राह्मण के एक अन्य स्थल पर कथित है कि आपः द्वारा निःसृत फेन से पृथिवी उत्पन्न हुई। वह आपः अर्क है, अतः उस अर्क में स्थित शर को कठोर किया गया, जो पृथिवी कहलायी[7]।

ताण्ड्यमहाब्राह्मण के अनुसार हिरण्यगर्भ (प्रजापति) ही सर्वप्रथम उत्पन्न होकर समस्त जीवों का स्रष्टा बना तथा उसने ही इस पृथिवी एवं द्युलोक को धारण

---

1. जै॰ ब्रा॰ 3. 318 — तम् उपाद्धात। इमम् एवं लोकम्। अस्मिन् सलिलेऽधितम्। अप्रथयत्। यद् अप्रथयत्, तस्माद् पृथिवी।
   द्र॰ तै॰ ब्रा॰ 3. 3. 9. 10 — सा पप्रथे पृथिवी....।
2. श॰ ब्रा॰ 6. 1. 1. 12 — सोऽकामयत्, आभ्योऽद्भ्योऽधीमां प्रजनयेयमिति तां सलिलश्याप्सु प्राविध्यतस्यै यः पराङ्रसोऽत्यक्षरत्स कूर्मोऽभवदथ ......।
3. श॰ ब्रा॰ 6. 1. 1. 15 — अभूद्वाऽइयं प्रतिष्ठेति तद् भूमिरभवत्तां प्रथयत्सा पृथिव्यभवत्।
4. Satapath Brahman Part III Tr. by Eggeling and ed by F. Maxmuller. Page–147. — "This (earth) has indeed become (Bhu) a foundation. (He thought)........ it became the broad one.......
5. ऐ॰ ब्रा॰ 5. 5. 7 — स तप्त्वेमान् लोकान् असृजत् पृथिवीं।
6. ष॰ विं॰ ब्रा॰ 5. 4. 2 — देवा वै स्वर्गकामास्तपोऽतप्यन्। तेषां तप्यमानानां रसो अजायत पृथिवी!
7. श॰ ब्रा॰ 10. 4. 8. 2 — आपो वाऽर्कः तद्यपां शर आसीत्। तत् समहन्यत सा पृथिव्यभवत्।

किया[1]। पृथिवी की उत्पत्ति के सन्दर्भ में एक अन्य सिद्धान्त ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में उपलब्ध होता है, जिसके अनुसार पृथिवी की सृष्टि विराट् पुरुष के पैरों से मानी गई है[2]। पृथ् (विस्तारण) अर्थ में, ऋग्वेद में भी पृथिवी का सर्जनात्मक वर्णन किया गया है[3]।

तैत्तिरीयसंहिता में भी उस अल्पकाया भूमि के पृथिवी तक विकसित होने की बात कही गयी है कि असुरों के अधोगामी सुवर्भानु ने अन्धकार के साथ सूर्य का भेदन कर डाला। देवों ने उस सूर्य को प्रतिदान करने हेतु तपश्चर्या की इच्छा की तथा तदनुरूप कार्य भी किया। इस प्रकार अन्धकार का जो प्रथम विनाश हुआ वह कृष्ण अविः हो गया और जो अधिष्ठान से काटा गया वह अविर्वंशा (अनुत्पादित आत्मा) हो गया। तब भूमि निश्चित अल्पा थी। देवताओं ने अपनी इच्छा की पूर्ति हेतु सूर्य की उत्तरी भाग की किरणों से अविर्वंशा को स्पर्श कराया। तदनन्तर पृथिवी का फैलाव हुआ[4]। ऋग्वेद के अनुसार इन्द्र ने ही पृथिवी को फैलाया था[5]।

पृथ्वी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक भिन्न प्रक्रिया उपलब्ध होती है, जिसके अनुसार अग्नि के रेतस् से पृथ्वी की सृष्टि हुई, ऐसा कहा गया है। काठकसंहिता में कथित है कि प्रजापति ने आदि सलिल में अग्नि चयन किया था, जिससे यह पृथ्वी उत्पन्न हुई[6]। इस सन्दर्भ में तैत्तिरीयसंहिता का भी एक स्थल दर्शनीय होगा, जहाँ प्रजापति ने प्रथम चिति को देखा तथा उसने उसे एकत्रित किया। तत्पश्चात् वह चिति

---

1. ता० ब्रा० 9. 9. 12	हिरण्यगर्भः समवर्तताग्र इत्याज्येनाऽभ्युपाकृतस्य जुहुयादाग्नींध्रपरेत्य भूतानां जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां।
2. ऋ० सं० 10. 90. 17	पद्भ्यां भूमिः।
3. ऋ० सं० 2. 11. 7	वि समना भूमिरप्रथिष्ट।
द्र० वही 7. 86. 1	पप्रथच्च भूम।
द्र० वही० 6. 17. 7	प-प्राथ क्षां महिदंसो व्युर्वीम्।
4. तै० सं० 2. 1. 2.	सुवर्भानुरासुरः सूर्यं तमसाऽविध्यत तस्मै देवाः प्रायश्चित्तिमैच्छन्। तस्य यत् प्रथमं तमोऽपाघ्नन् सा कृष्णाविरभवत्...यद् अध्यस्थाद् अपाकृन्तन सा अविर्वंशा समभवत्। अथ वै तर्हि अल्पा पृथिव्यासीत्। तामविर्वंशाम्।
5. ऋ० सं० 8. 8. 9. 5	आदित्येभ्यः कामायालभन्त। ततो वा अप्रथत् पृथिवी। तत् पृथिवीम् अप्रथयः।
6. का० सं० 22. 9	स एतां प्रजापतिरपां मध्येऽग्निन्माचिनुत सेयमभवत्।

ही पृथ्वी बन गयी[1]। अग्नि के रेतस् से पृथ्वी सत्ता में आयी। इस सम्बन्ध में वहीं कथित है कि अग्नि ने वरुण की पत्नियों का ध्यान किया। परिणामस्वरूप उसका रेतस् जल में गिर गया तथा वही रेतस् पृथिवी बन गया। इस प्रकार के विवरणों से स्पष्ट होता है कि आपः ही पृथ्वी के सृजन का मुख्य घटक रहा है। शतपथ-ब्राह्मण में जल को अग्नि कहा गया है। पृथ्वी के घटक फेन की उत्पत्ति अग्नि और जल के संसर्ग से होती है, अर्थात् जब जल अग्नि द्वारा तपता है, तभी फेन उत्पन्न होता है। इस प्रकार फेन में अग्नि की सत्ता अवश्यम्भावी है। यह अग्नि जल का परिणाम है। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार फेन से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई, क्योंकि दबाव पड़ने पर यही फेन मिट्टी का रूप धारण कर लेती है[2]। यह मिट्टी ही पृथिवी का स्वरूप है। इस प्रकार जल से पृथ्वी की सृष्टि-प्रक्रिया अनुसन्धानित हुई। अब पृथ्वी के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन किया जायेगा।

आर्द्रा पृथिवी—

यह पृथ्वी पहले आर्द्र थी और बाद में ठोस हुई। इसके आर्द्र होने के पुष्ट प्रमाण ब्राह्मण-ग्रन्थों में यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं, जहाँ कहा गया है कि याज्ञिक देव जब कंकरी को एकत्रित करना प्रारम्भ किये, तब असुरगण उनसे प्रतिस्पर्धा करने लगे[3]। ये दोनों प्रजापति के ही बेटे थे। उस समय पृथिवी कमल-दल जैसे दोलायित हुई। यहाँ तक कि उस पृथिवी को वायु उड़ा ले जाती थी। इस प्रक्रिया में वह कभी देवों के पास जाती थी तथा कभी असुरों के पास। एक बार जब वह देवताओं के पास गयी, तब उन्होंने कहा कि आओ हम इसके ठहरने के स्थान को दृढ़ करें। तदनन्तर वह ठोस हुई तथा उसमें दो अग्नियों का आधान किया गया। जिस प्रकार चमड़ी को दृढ़ करने के लिए उसके चारों तरफ लौह कीलें लगा दी जाती हैं, उसी प्रकार इसकी प्रतिष्ठा को दृढ़ बनाने के लिए देवताओं (याज्ञिकों) ने इसके चारों तरफ कंकरी से बृंहण कर दिया[4]। काठकसंहिता के अनुसार भी यह पृथिवी निश्चित रूप से लहलहाते

---

1. तै सं० 5. 7. 5 — स प्रजापतिः प्रथमा चितिमपश्यत्। तामुपादधत् तदियमभवत्।

2. श० ब्रा० 6. 1. 3. 3 — स मृदमसृजतैतं द्वै फेनस्तप्यते यदप्स्वविष्टमानः प्लवते। स यदोपहन्यते मृदेव भवति।

3. तै० ब्रा० 1. 1. 3 — ता दिशोऽनुवातः समवहत्।

4. श० ब्रा० 2. 1. 1. 8-10 — अथ शर्करा सम्भरति देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे सा हेयं पृथिवी अलेलायद् यथा पुष्करपर्णमेव। तां ह स्म वातः संवहति सोऽपैव देवान् जगाम्। उपासुरान्। स यत्र देवान् उपाजगाम...तद् यथाशंकुभिः चर्म विहन्यात। एवमिमां प्रतिष्ठां शर्कराभिः पर्यबृंहत।

कमलदल जैसे हिलती रहती थी। वह आर्द्रा पृथिवी भयभीत थी कि अग्नि मुझे कहीं जला न दे तथा अग्नि भी डरता था कि यह पृथिवी कहीं मेरा सत्त्व ही नष्ट न कर दे[1]। अतः देवों ने कंकरों से इसे दृढ़ किया। मैत्रायणिसंहिता में भी कहा गया है कि यह पृथिवी पहले आर्द्रा थी[2]। तदनन्तर प्रजापति ने कंकरों से उसे ठोस एवं दृढ़ बनाया।

इस आर्दा पृथिवी पर क्रमशः नौ संख्या में सृष्टियाँ हुईं, जो एक तरह से पृथिवी के स्वरूप को निर्धारित करती हैं। इन नौ प्रकार की सृष्टियों का संकेत शतपथब्राह्मण में उपलब्ध होता है। उस सृष्टिकर्त्ता प्रजापति के मन में बहुप्रजाओं का सृजन करने की कामना हुई, तदनन्तर उसने अपने श्रम एवं तप के फलस्वरूप फेन को उत्पन्न किया तथा इसी क्रम में मृद, शुष्काप्, उषः, शिकता (बालू), शर्करा, अश्मा, अयः, हिरण्य एवं ओषधि वनस्पतियों को भी उत्पन्न किया। इस प्रकार उसने इस अखिल भूमण्डल को परिपूर्ण कर दिया[3]। यही नौ सृष्टियाँ हैं, जिनका क्रमिक विवेचन प्रस्तुत होगा।

प्रथम फेन सृजन—

यह वही फेन है, जो पृथिवी के उत्पन्न होने में प्रमुख कारण रहा है। पृथिवी को उत्पन्न करने की कामना से युक्त होकर तथा जल-भेदन करने के पश्चात् प्रजापति ने पुनः कामना की कि मैं बहुतों में एक होऊँ। तदनन्तर उसके श्रम एवं तपश्चर्या के परिणामस्वरूप फेन की उत्पत्ति हुई, जैसा कि ऊपर वर्णित भी है। इस फेन की उत्पत्ति के संन्दर्भ में आपः ने एकबार कहा कि अतितप्त हो जाने के बाद हम कहाँ होंगे ? इसी समस्या के समाधानार्थ उसने फेन को उत्पन्न किया[4]। आपः ने यह फेन-सर्जन का कार्य अग्नि से मिथुनीभाव करने पर ही किया। वह आपः त्रिधा था, उसके

1. का० सं० 8. 2 — अलेलेद वा इयं पृथिवी। सा अविभेद अग्निर्मा अतिध्यक्ष्यतीति। अविभेद् अग्निः हरो मे विनेक्ष्यतीति। आर्द्रेव हीयमासीत्। तां देवाः शर्कराभिः अदृंहन्।

2. मै० सं० 1. 6 3 — शिथिराता इयमग्र आसीत्। तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत।

3. श० ब्रा० 6. 1. 1. 13 — स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत…स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापमृष सिकतं शर्कराम् अश्मानम् अयोहिरण्यम् ओषधिं वनस्पतिं असृजत्। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत ता वा एता नव सृष्टयः।

4. श० ब्रा० 6. 1. 3. 2 — आपोऽब्रुवन्। क्व वयं भवामेति तप्यध्वमित्यब्रवीत्ता अतप्यन्त, ताः फेनम् असृजन्त तस्मादपां तप्तानां फेनो जायते।

स्वरूप से जो रूप प्रकट हुआ, वही यज्ञों में ग्राह्य हुआ; दूसरा नहीं। इसके अनन्तर फेन को उत्पन्न कर उसे वहीं स्थापित कर दिया गया, यह फेन का द्वितीयरूप है[1]। फेन न तो शुष्क था और न गीला ही, यह बात ब्राह्मणग्रन्थों से स्पष्ट हो जाती है[2]।

द्वितीय मृदसृजन--

फेन जब कुछ ठोस आकृति में परिवर्तित हो गया, तब वही मृद कहलाया। जल से उत्पन्न फेन ने इच्छा की कि मेरा अधिष्ठान कहाँ होगा ? अतः वह भी अग्नि से तपा तथा इसके अनन्तर मृद उत्पन्न हुआ[3]। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार वेदि-खनन-प्रकरण में यजमान के दो ही रूप बताये गये हैं, प्रथम मृद, द्वितीय आपः[4]। मृद (मिट्टी) की सत्ता सर्वप्रथम भी मानी जा सकती है; क्योंकि संवत्सरोपरान्त हिरण्याण्ड का जो कपाल था, उसका अधोभाग मिट्टी से युक्त था[5]। इस प्रकार जो मृद है, वही पृथिवी हुआ[6]।

तृतीय शुष्काप् सृजन—

पृथ्वी की तृतीय अवस्था सलिल का सूखा हुआ स्वरूप है। इससे सिद्ध होता है कि सूर्य की सत्ता उस समय हो गयी होगी, क्योंकि उसी की उष्णता से पृथ्वी के जल सूखने लगे थे। पृथ्वी का यह स्वरूप बहुत अद्भुत रहा होगा, तभी से पृथ्वी का नाम कूर्मपृष्ठ-निभा हो गया। चूंकि पूर्व में यह पृथ्वी स्निग्धा रही होगी, तभी बाद में वह शुष्कायमान हो गयी। इस सम्बन्ध में मात्र शतपथब्राह्मण के 6. 1. 1. 13 स्थल पर ही शुष्काप् का वर्णन उपलब्ध होता है। इसके अलावे यजुर्वेद का एक मन्त्र भी दर्शनीय होगा, जिसमें बताया गया है कि यह पृथ्वी पहले 'अविः' (स्निग्धा) थी[7]।

चतुर्थ ऊषःसृजन—

पृथ्वीतल के जलों के शुष्क हो जाने के बाद 'ऊष' अथवा 'ऊसर' पृथ्वी प्रकट

---

1. वही० 6. 5. 1. 2-3 — ता है ता आप एवैष त्रिचः। तद् या अमूराप एकं रूपं समहृश्यन्त ता एताः, तदेवैतद्रूपं करोति अथ फेनं जनयित्वा अन्ववदधाति। यदेव तत्फेनो द्वितीयं रूपम् असृज्यत।
2. तै० ब्रा० 1. 7. 1. 6-7 — न वा एष शुष्को नार्द्रो व्युष्टासीत्।
3. श० ब्रा० 6. 1. 3. 3 — फेनोऽब्रवीद्। क्वाहं भवानीति तप्यस्वेत्यं ब्रवीत्सोऽतप्यत स मृदसृजतैतद्वै फेनस्तप्यते।
4. श० ब्रा० 6. 4. 1. 3 — अथो द्वयं ह्येव एतद् रूपं मृच्च आपश्च।
5. श० ब्रा० 6. 3. 1. 28 — अथ यत्तत् कपालमासीद् एषा सा मृत्।
6. श० ब्रा० 14. 1. 2. 9 — यन्मृद इयं तत् (पृथिवी)।
7. यजु० सं० 23. 12 — आविरासीत् पिलिप्पिला।

हुई। अकारान्त होने के कारण धात्वर्थानुसार 'ऊष' का अर्थ दग्ध करनेवाला हो जायेगा। वस्तुतः ऊष शब्द से 'र' प्रत्यय करके ऊसर शब्द उसी प्रकार बनता है, जिस प्रकार मधु से मधुर बनता है। इस प्रकार ऊसर उपर्युक्त ऊसर का ही अपभ्रंशितरूप लगता है।

अब पृथ्वी तल पर ऊष की उत्पत्ति के सन्दर्भ में तैत्तिरीयसंहिता का वचन है कि द्यावापृथ्वी के साथ-साथ अग्निचयन करते हुए सर्वप्रथम देवों ने ऊष (ऊसर मिट्टी) को रखा। अलग होते हुए देवों ने कहा कि यज्ञीयभाग हमारा साथी हो। इस प्रकार जो द्युलोक का यज्ञीयभाग था, उसे इस पृथ्वी पर स्थापित किया गया, वही ऊषः हुआ तथा पृथिवी के यज्ञीयभाग को द्युस्थान में स्थापित किया गया, वही चन्द्रमा की कृष्णता है[1]। शतपथब्राह्मण में तो पशु को ही ऊष कहा गया है[2]। इस सन्दर्भ में कथित है कि द्युलोक में निश्चय ही पृथिवी के लिए इन पशुओं को प्रदान किया। अतः ऊषः का भाग पशुओं के लिये हितकारी होता है। यह ऊसर द्यवापृथिवी का रस तत्त्व ही है[3]। जैमिनीयब्राह्मण के अनुसार ऊष को पृथिवी से उत्पन्न धूम के साथ जोड़ा गया है[4]।

पशु–

ऊसर भूमि के तत्त्व-बोध के लिए पशु शब्द का अर्थ समझना आवश्यक होगा। उपर्युक्त प्रसंग में पशु शब्द पार्थिव का द्योतक नहीं है; क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थों में पशुओं को द्युलोक से आया हुआ कहा गया है तथा ऊसर भूमि पार्थिव पशुओं के स्वभाव से हितकारी भी नहीं हुआ करती, इसके लिए तो हरितभूमि की आवश्यकता होती है।

पशु शब्द का सामान्य अर्थ है कि जो चक्षुरिन्द्रिय से देखा जा सके अथवा जो चतुष्पाद हो[5]। शतपथब्राह्मण में कथित है कि प्रजापति ने जिन पशुओं में अग्नि

---

1. तै० सं० 5. 2. 3 — उषान् निवपति······द्यावापृथिवी सहाऽऽस्ताम्। ते अब्रूताम्। अस्त्वेव नौ सह यज्ञियमिति यदमुष्या यज्ञियमासीत् तदपामदधात् त ऊषा अभवन्।

2. श० ब्रा० 7. 1. 1. 6 — पशवः ऊषा।

3. वही 2. 1. 1. 6 — अथोषात्त सम्भरति असौ ह वै द्यौरस्यै पृथिव्याऽएतान्पशून्यप्रददौ तस्मात्पशव्यमूषरमित्याहु; पशवो ह्येवैते साक्षादेव तत्पशुभिरेवैनमेतत्समर्धयति······ द्यावापृथिव्यो रसं मन्यते।

4. जै० ब्रा० 1. 145 — उषान् एवासावमुत्तोऽस्यै शुल्कम् अकरोद् धूमम् इत इयम् अमुष्यौ।

5. वा० पु० 23. 88

को देखा, वे ही पशु कहलाये[1]। इन परापार्थिव पशुओं में भौतिक तथा सौर दोनों ही अग्नियों का सम्मिश्रण रहता है। ऐतरेयब्राह्मण में सम्पूर्ण पशुओं को आग्नेय कहा गया है[2]। शतपथब्राह्मण के एक अन्य स्थलपर कहा गया है कि पृथिवी के उपस्थ से पशुओं के हितकारी अग्नि को खोदकर निकाला गया[3]। इस प्रकरण का एंग्लिश अनुवाद भी दर्शनीय होगा[4]। चूंकि समस्त पशु अग्निस्वरूप हैं, इसलिए अशु अग्नियों में रमण करते हैं[5]। प्रजापति ने आग्नेय पशुओं को उत्पन्न किया था,[6] क्योंकि पशु ही अग्नि हैं, जैसा कि ऊपर कहा भी गया है। अन्य ब्राह्मणग्रन्थों में तो पशु को अन्तरिक्षस्थानीय वायु, मरुत तथा अपार्थिव वयांसि आदि के साथ सम्बन्धित किया गया है[7]। तभी तो अन्तरिक्षस्थ पशु रुद्र से आग्नेय योग प्राप्त करते हैं। सम्भवतः इसीलिए रुद्र पशुपति कहलाते हैं। रुद्र का वाहन आखु तो पशु ही है[8]। यहाँ तक कि द्युलोक की प्रजाएँ भी पशु हैं[9]। इस प्रकार यह निश्चितरूप से कथ्य होगा कि पृथिवी का ऊसर भाग मात्र पार्थिव परिणाम ही नहीं है, अपितु द्यु और अन्तरिक्षीय परिणाम भी हैं। इन पशुओं का उपर्युक्त ऊसर भाग में पूर्ण योगदान रहता है। इन पशुओं के साथ ऊसर का वर्णन पृथिवी का विस्तार करता है।

---

1. श० ब्रा० 6. 2. 1. 4 — तेषु एतम् अपश्यत तस्माद्वैते पशवः।
2. ऐ० ब्रा० 2. 6 — आग्नेयो वाव सर्वः पशुः।
   द्र० तै० ब्रा० 1. 1. 4. 3 — आग्नेया: पशवः।
3. श० ब्रा० 6. 4. 1. 2 — पृथिव्या उपस्थाद् अग्नि पशव्यम्।
4. Satapath Brahmaṇ Part III, Page 214 (Eggeling Tr.) by F. Maxmuller. — 'That is three kind to creatures and never harming the cattel-loving Agni weding up from the lap of the earth as Agni (did).
5. श० ब्रा० 6. 1. 4. 12 — तऽएते सर्वे पशवो यदग्निः। तस्मादग्नौ पशवो रमन्ते।
6. कपि० सं० 31. 19 — पशुर्वा अग्निः अग्निमुखाद् प्रजापतिः पशूनसृजत।
7. श० ब्रा० 4. 4. 1. 15 — वायु प्रणेत्रा वै पशवः।
   द्र० वही० 8. 3. 2. 9 — तस्मादन्तरिक्षायतना वै पशवः।
   द्र० वही० 9. 3. 3. 7 — पशवो वै वयांसि।
   द्र० तै० ब्रा० 3. 2- 1. 3 — अन्तरिक्षदेवत्या खलु वै पशवः।
   द्र० ऐ० ब्रा० 3. 19 — पशवो वै मरुतः।
8. श० ब्रा० 2. 6. 2. 10 — आखुस्ते पशुः।
9. श० ब्रा० 3. 7. 3. 9 — दैव्या वा एता विशो यत् पशवः।

6

पंचम सिकता सृजन—

ऊषोत्पत्ति के अनन्तर पृथिवी की पाँचवीं सृष्टि सिकता से होती है। सिकता की उत्पत्ति के सन्दर्भ में शतपथब्राह्मण का एक स्थल दर्शनीय होगा, जहाँ उस मृत्तिका ने कहा है कि हमारी स्थिति कहाँ होगी[1]? इसके अनन्तर वह अग्नि द्वारा तपायी गयी तथा इसके परिणामस्वरूप सिकता (बालू) की उत्पत्ति हुई, अर्थात् तपी हुई वह मिट्टी ही बालू हो गयी। मैत्रायणिसंहिता के अनुसार आदित्य निश्चयरूपेण अग्नि वैश्वानर है। यहाँ रहनेवाले उस आदित्य का भस्म ही सिकता है[2]। सिकता पृथिवी के ऊपरी सतह पर ही नहीं, अपितु इसके निचले अतिगर्त में भी मिलती है; किन्तु यहाँ सन्देहास्पद हो सकता है कि गर्त में स्थित सिकता आदिकाल में रही तो वहाँ आदित्य की रश्मियाँ कैसे पहुँचीं? जिससे उसके भस्म होने की बात सिद्ध हो सके। वस्तुतः यह विकासवादी सिद्धान्त के ही परिप्रेक्ष्य में सत्य हो सकता है।

अस्तु—शतपथब्राह्मण के अनुसार सिकता प्रकाशमान भास्कर के तुल्य है। अतः निश्चितरूप से सिकता अग्नि वैश्वानर का भस्म है[3]। यह सर्वविदित है कि रेतस् के कणों में चमक रहती है। शतपथब्राह्मण में सिकता को सलिलों (आपों) का पुरीष कहा गया है[4]।

यह सिकता दो प्रकार की होती है, शुक्लवर्णा तथा कृष्णवर्णा[5]। पाश्चात्य विद्वान् पार्टिंगटन ने बताया है कि रेतस् का विशुद्धतमरूप श्वेत है[6]। यह सिकता पृथिवी के अलावे अन्यान्यग्रहों में भी थोड़े बहुत अंशों में पायी जाती है[7]।

छठीं शर्करा-सृष्टि—

जिस प्रक्रिया द्वारा फेन से मिट्टी तथा मिट्टी से सिकता की उत्पत्ति हुई, ठीक

---

1. श० ब्रा० 6. 1. 3. 4 — स अतप्यत् सा सिकता असृज्यत्।
2. मै० सं० 1. 6. 3 — एष वा अग्निर्वैश्वानरो यदसावादित्यः स यद् इह आसीत तस्यैतद् भस्म यत् सिकता।
3. श० ब्रा० 3. 5. 1. 36 — भ्राजन्त इव हि सिकता। अग्नेर्वा एतद् वैश्वानरस्य भस्म यत् सिकता।
   द्र० वही० 7. 1. 1. 10-41 — अग्नेरेतद् वैश्वानरस्य रेतो यत् सिकता।
4. श० ब्रा० 7. 5. 2. 59 — सिकता वा अपां पुरीषम्।
5. श० ब्रा० 7. 3. 1. 43 — द्वे हि सिकते शुक्ला च कृष्णा च।
6. Partington Essay Page 725. — "The purest form of sane are white."
7. Encyclopedia Britanica Part XX, Page 655. — "It (Salica) has also been found as a constituent of various part of planets and has been recognized in stars."

उसी प्रकार से सिकता से शर्करा की भी उत्पत्ति मानी गयी है[1]। शर्करा का शाब्दिक अर्थ चूर्ण अथवा कंकर होता है। इसकी उत्पत्ति-सम्बन्धित आख्यान मैत्रायणीसंहिता में उपलब्ध होता है, जहाँ कहा गया है कि निश्चितरूप से इन्द्र ने वृत्र को मारने के लिये वज्र का प्रहार किया, इसके अनन्तर जो छींटे हुए वे शर्करा बन गये[2]। यहाँ वज्र का अर्थ जल के परमाणु से है, क्योंकि कहा भी गया है कि आपः वज्र हैं अथवा वज्र ही आपः हैं[3]। यह वज्र दो प्रकार का होता है, प्रथम क्षीर (आर्द्र) तथा द्वितीय शिव (शुष्क) होता है[4]। तैत्तिरीयसंहिता के अनुसार इन्द्र ने जब वृत्र के लिए वज्र का प्रहार किया, तब वह वज्र तीन भागों में विभक्त होकर पहला स्फ्य, दूसरा रथ, तथा तीसरा यूप बना। इस प्रकार उस वज्र के भीतर के जो शर बिखरे, वे शर्करा हो गये[5]।

इसी शर्करा से पृथिवीका दृंहण हुआ था। आर्द्रा पृथिवी के प्रसंग में शर्करा के इस गुण को बताया जा चुका है, जहाँ दल-दल के समान आर्द्रा पृथिवी को शर्करा द्वारा कठोर बनाया गया है। व्यवहार में भी भवन-निर्माण आदि के नींव में शर्करा कूटकर भूमि का दृंहण किया जाता है।

सप्तम (अश्म) सृजन—

शतपथब्राह्मण के अनुसार कालान्तर में वही शर्करा अपने लघुकणों से युक्त होने तथा संपीडन द्वारा संहत होकर अश्म बन गयी[6]। यहाँ तक कि वृत्र के शरीर को अश्मा कहा गया है[7]।

---

1. श० ब्रा० 6. 1. 3. 5 — सिकताभ्यः शर्करामसृजत।
2. मै० सं० 1. 6. 3 — इन्द्रो वै वृत्राय वज्रं प्राहरत् तस्या या विप्रुषा आसंस्ताः शर्करा अभवन्।
3. वही० 4. 1. 4 — आपो वज्रः।
   श० ब्रा० 1. 1. 1. 17 — वज्रो वा आपः।
   द्र० वही० 1. 7. 1. 20
   द्र० कौ० ब्रा० 12. 2 — आप इति तत्प्रथमं वज्र रूपम्।
4. मैं० स० 3. 9. 16 — द्वौ वै वज्रौ। क्षीरोऽन्यः शिवोऽन्यः यः शुष्कः स क्षीरो यः आर्द्रः स शिवः।
5. तै० सं० 5. 2. 6 — इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत् स त्रेधा व्यभवत्। स्फ्यस्तृतीयं रथस्तृतीयं यूपस्तृतीयं येऽन्तः शराः अशीर्यन्त ताः शर्करा अभवन्।
6. श० ब्रा० 6. 1. 3. 5 — शर्करा या अश्मानम्। तस्मात् शर्कराश्मैव अन्ततो भवति।
7. वही० 3. 4. 3. 13 — वृत्रो वै सोमः तस्य एतच्छरीरं यद् गिरयो यदश्मानः।

अष्टम (अयः एवं हिरण्य) सृजन—

उपर्युक्त सृष्टियों के क्रम में ही अयः एवं हिरण्य (स्वर्ण) आदि की भी उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है। इसके सृजन से तात्पर्य विशेषकर पृथिवी के खनिजों से है। सृष्टि-प्रक्रिया में खनिज सम्पदाओं का विशेष योगदान रहता है। शतपथब्राह्मण में अश्म (पाषाण) को अयः (लौह) अथवा अयः को हिरण्य (स्वर्ण) कहा गया है[1]। अश्म से लौह होने की बात महाभारत तक में भी कही गयी है[2]।

तैत्तिरीयब्राह्मण के अनुसार सुवर्ण धातु हिरण्य बन गयी[3]। इसी ग्रन्थ के एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि अग्नि का आपः से मिथुनीभाव करने पर जो रेतस् गिरा, वही हिरण्य बन गया[4]। ठीक यही प्रकरण शतपथब्राह्मण में आता है, जहाँ अग्नि के रेतस् के जल में गिरने के फलस्वरूप हिरण्य होने की बात कही गयी है[5]। पृथिवी के लौहमयी होने के सन्दर्भ में ऐतरेयब्राह्मण का एक स्थल दर्शनीय होगा, जहाँ बताया गया है कि असुरों ने इस लौहमयी पृथिवी को बनाया[6]। कथा इस प्रकार है कि देव और असुर इन लोकों पर जब आपस में लड़ने लगे, असुरों ने इन लोकों को अपना गढ़ बना लिया, जैसे शक्तिशाली राजा बनवाया करते हैं। उन असुरों ने इस पृथिवी को लोहे का दुर्ग बनाया, अन्तरिक्ष को चाँदी तथा द्युलोक स्वर्ण का। कौषीतकिब्राह्मण में भी इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है[7]।

इस प्रकार फेन से लेकर अयः हिरण्य तक पृथिवी का सृजन कर चुकने पर भी हम पृथिवी को कूर्मपृष्ठनिभा तथा लोमरहिता भी कहेंगे, क्योंकि अब तक वनस्पतियों का सृजन नहीं हुआ था। सर्वप्रथम यह पृथिवी निश्चितरूप से गंजी (लोमरहिता)

---

1. श० ब्रा० 6. 1. 3 5 — अश्मनोऽयस्तस्मादश्मनी योधमन्त्ययसौ हिरण्यं तस्माद्यो बहुघ्मात हिरण्यसंकाशमिवैव भवति।
2. म० भा० शा० प० 55. 24 — अश्मनो लौहमुत्थितम्।
3. तै० ब्रा० 2. 2. 4 — दुर्वर्णं हिरण्यमभवत्।
4. वही 1. 1. 3. 8 — तस्य रेतः परापतत् तद् हिरण्यमभवत्।
5. शत० ब्रा० 2. 1. 1. 5 — अग्निर्ह वाऽपोऽभिदध्यौ मिथुन्याभिः स्यामिति ताः सम्बभूव। तासु रेतः प्रासिञ्चत् तद् हिरण्यम्, तस्माद् एतदग्निसंकाशम्। अग्नेर्हि रेतः। तस्मादप्सु विन्दति अप्सु हि प्रासिञ्चत्।
6. ऐ० ब्रा० 1. 23 — देवासुरा एवा एषु लोकेषु समयं तते वा असुरा इमानेव लोकान् पुरो कुर्वत यथो जीयासो बलीयास···।
7. कौ० ब्रा० 8. 8 — उषसदो सुरा एषु लोकेषु पुरोऽकुर्वता यस्मयोमस्मिन्नजतामन्तरिक्षलोके हरिणो हादो दिवि चक्रिरे।

थी[1]। इसी स्वरूप को ऐतरेयब्राह्मण तथा ताण्ड्यब्राह्मण आदि ग्रन्थों में बतलाया गया है[2]। इस पृथिवी की लोमरहितता का वर्णन मैत्रायणीसंहिता में भी उपलब्ध होता है[3]। इस पृथिवी के लोम वस्तुतः औषधि वनस्पतियाँ ही हैं[4]। ठीक यही विचार जैमिनीयब्राह्मण 2. 241 में दुहराया गया है; जहाँ रुक्षा पृथिवी के स्थान पर रिक्षा का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ लोम रहितता ही है।

नवम औषधि-वनस्पति-सृजन—

औषधि-वनस्पतियों के सृजन में सोम का विशेष हाथ रहता है। सम्भवतः इसीलिए सोम को औषधियों का स्वामी भी कहा जाता है[5]। औषधि के स्वामी सोम का निवास द्युलोक है। द्युलोक से पृथिवी पर सोम को लाने में वृत्र एवं आदित्य-रश्मियाँ सहायक होती हैं। जैमिनीयब्राह्मण में तो कहा भी गया है कि सुपर्ण ने सोम राजा का जो अपहरण एवं भेदन किया था, उसके परिणाम में निकले हुए छींटे ही औषधि वनस्पतियाँ हुईं। निश्चय ही ये औषधियाँ सौम्य होती हैं[6]। शतपथब्राह्मण की सृष्टि के उपक्रम में उन्तीसवें स्तोम द्वारा वनस्पतियों की सृष्टि हुई, जिसका अधिपति सोम हुआ है[7]। यहाँ उन्तीसवाँ स्तोम इसलिये कहा गया है कि हाथ की अँगुलियाँ दस हैं तथा दस ही पैरों की और नव संख्यागत प्राण हैं, इस प्रकार इसकी संख्या उन्तीस हो जाती है। शतपथब्राह्मण के तृतीयकाण्ड में एक स्थल उपलब्ध होता है, जिसके अनुसार देवता, दिव (द्यु) तथा वृत्र ये तीनों ही सोम थे। महान् गिरि भी सोम के ही रूप थे। उसका शरीर पाषाण सदृश था, इसी पाषाणमय सोम के शरीर पर

---

1. श० ब्रा० 2. 2. 4. 3 — काल्वाली कृता हैव तर्हि पृथिवी व्यास्।
   द्र० का० श० ब्रा० 1. 2. 4
2. ऐ० ब्रा० 24. 22 — इयं वा अलोमिके वाग्र आसीत्।
   द्र० ता० ब्रा० 20.14. 5 — त इमे लोका अभवन् रुक्षा अनुपजीवनाः।
3. मै० सं० 1. 6. 9 — ऋक्षा ह वा इयमग्र आसीत, तस्य देवा रोहिण्यां वीरुधोऽरोहयन्।
4. जै० ब्रा० 2. 54 — ओषधिवनस्पतयो वै लोमानि।
5. श० ब्रा० 8. 4. 3. 17 — वनस्पतयोऽन्त्रासृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीदिति।
   द्र० तै० ब्रा० 3. 9. 17. 1 — सोमो वा ओषधीनां राजा।
6. जै० ब्रा० 1. 35 — सोमं वै राजानं यत् सुपर्ण आहरत् समभिनत्, तस्य वा विपुषो अपतंस्ता एवेमा ओषधयोऽभवन्। सर्वा उ ह वै सौम्या ओषधयः।
7. श० ब्रा० 8, 4. 3. 17 — नवविंशत्या स्तुवतेति दशहस्त्या अंगुलयो दशपाद्या नव प्राणास्तैरेव तदस्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्तेति।

औषधियाँ उत्पन्न हुईं, ऐसा श्वेतकेतु कहते हैं[1]। इसी सन्दर्भ में काण्वसंहिता के अनुसार सालावृका[2] ने जब यतियों[3] का भक्षण कर डाला, तब उन यतियों के सिर गिर पड़े, जो खजूर के वृक्ष हो गये तथा जो भाग सोमपीठों के ऊपर गिरे, वे करीर के वृक्ष वन गये[4]।

मैत्रायणिसंहिता के अनुसार इन्द्र और आपः के सहयोग से इस पृथ्वी पर औषधियों की उत्पत्ति हुई। यज्ञ करने के इच्छुक इन्द्र ने वृत्र का जल के मध्य में भेदन कर दिया। इसी के परिणाम में सदाबहार औषधियाँ तथा दर्भ (कुश) आदि उत्पन्न हुए[5]।

इन्द्र और सोम ही नहीं; बल्कि प्रजापति भी औषधियों के जनयिता हैं। जैमिनीयब्राह्मण के अनुसार जहाँ यज्ञ (प्रजापति) का सिर विच्छिन्न हुआ तथा उससे जो रस प्रवाहित हुआ, वही उतीका नामक वनस्पति हुई[6]। तैत्तिरीयब्राह्मण के अनुसार वर्षा होने के बाद औषधियों के उत्पन्न होने की वात कही गयी है[7]। इस

---

1. श० ब्रा० 3. 4. 3. 13 — देवो वै सोमो दिवि हि सोमो वृत्रो वै सोम आसीत्। तस्यैतच्छरीरं यद्गिरयो यद् अश्मानः, तदेष उशाना-मोषधिर्जायते। इति ह स्माह श्वेतकेतुरौद्दालकिः।
   द्र० वही 4. 2. 5. 15
2. मैंक्डानल ने सालावृक्क का अर्थ लकड़बग्घा किया है। — (वैदिक इन्डेक्स अनु० रामकुमार राय, पृ० 494)
3. वै० ई० भाग-2, पृष्ठ 205 — मैंकडानल ने ही इसका अर्थ बताया है कि ये यति एक ऐसे कबीले के लोग हैं, जिन्हें इन्द्र ने सालावृकों को दे दिया था।
4. का० सं० 11. 10 — यतीन् वै सालावृकेया आद्रं स्तेषां शीर्षाणि परापतंस्ते खर्जूरा अभवन् यस्सोमपीथस्य ऊर्ध्वोऽपतत्, तानि करीराणि।
5. मै० सं० 3. 6. 3 — यज्ञं शकेयम् इति। इन्द्रो वै वृत्रम् अप्सु अद्ध्यह्न्। तासां यद् यज्ञियं मेध्यमासीत् तदुतक्रामत् ता इमा ओषधयोऽभवन्।
6. जै० ब्रा० 1. 354 — यज्ञस्य वै यत्र शिरोऽच्छिद्यत तस्य यो रसः प्राणेदत् त एवोतीका अभवन्।
7. तै० ब्रा० 2. 1. 1 — यस्या ओषधीर्न जनयाम इति ते दिवो वृष्टिमसृजत्। यावन्तः स्तोकाः अवाद्यन्त। तावतीरोषधयोऽजायन्त इति।

प्रकार पृथिवी सम्बन्धी नव संख्यागत सृष्टियों का क्रमिक अनुसंधान किया गया। अब पृथिवी के कुछ अन्य स्वरूपों का वर्णन किया जायेगा।

अग्निगर्भा-पृथ्वी—

ब्राह्मणग्रन्थों में पृथिवी के अग्निगर्भा होने के सन्दर्भ में उसे आग्नेयी कहा गया है[1]। जैमिनीय-उपनिषद्ब्राह्मण में इस लोक को अग्नियुक्त बतलाया गया है[2]। यह लोक पृथिवी ही हैं; क्योंकि जीवन हेतु पृथिवी लोक की प्रधानता होती है। इसके आग्नेयी होने का एक कारण और भी है कि पार्थिव पदार्थों में भी प्रायः आग्नेय तत्त्व अधिक होते हैं, जिसका सर्वाधिक अंश पृथिवी के गर्भ में उपलब्ध होता है[3]। माता जैसे अपने गर्भ या उपस्थ में पुत्र की धारणा करती है, उसी प्रकार यह पृथिवी भी अपने गर्भ में अग्नि को धारण करे, ऐसी कामना शतपथब्राह्मण में की गयी है[4]। इसी सन्दर्भ में इस लोक को त्रिवृत्त कहा गया है[5]। क्योंकि अग्नि-पृथिवी-औषधियों से यह लोक (पृथिवी) त्रिवृत् है[6]।

परिमण्डला पृथ्वी—

यह पृथिवी परिमण्डल अथवा वायु-मण्डल से व्याप्त रहती है[7]। इस सम्बन्ध में एग्लिंग का अनुवाद महत्त्वपूर्ण है[8]। जैमिनीयब्राह्मण के अनुसार यह प्रजापति ही अग्निष्टोम परिमण्डल स्वरूप होकर स्थिर हुआ था, जिसका अनुकरण अन्य देवताओं ने भी किया था। परिणामस्वरूप यह द्यु, अन्तरिक्ष पृथिवी परिमण्डलरूप ही हैं[9]।

---

1. ता० ब्रा० 15. 4. 8 — आग्नेयी पृथिवी।
2. जै० उ० ब्रा० 1. 37. 2 — आग्नेयोऽयं लोकः।
3. श० ब्रा० 14. 9. 4. 21 — अग्निगर्भा पृथिवी।
4. वही 6. 5. 1. 11 — माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं विभर्तु गर्भऽएति, यथा माता पुत्रमुपस्थे विभृयादेवमग्निं गर्भे बिभर्त्वित्येतत्।
5. वही 6. 5. 3. 2 — त्रिवृत् हि इयम्।
6. ता० ब्रा० 10. 1. 1 — अग्निना पृथिव्या ओषधिभिः तेनायं (पृथिवी) लोकः त्रिवृत्।
7. श० ब्रा० 7. 1. 1. 37 — परिमण्डला उ वा अयं लोकः।
8. Satapath Brāhman Part III (Eggeling Tr.) ed. by F. Maxmuller, Page-309. — "This world doutless is circular."
9. जै० ब्रा० 1. 257 — स एष प्रजापतिः अग्निष्टोमः परिमण्डलो भूत्वा अनन्तो भूत्वा शये तदनुकृतीदम् अपि अन्या देवताः परिमण्डला''''परिमण्डला द्यौ परिमण्डलमन्तरिक्षम्, परिमण्डला इयं पृथिवी।

सर्पराज्ञी पृथिवी—

ब्राह्मणग्रन्थों में पृथिवी के लिए सर्पराज्ञी भी शब्द आया है। इसको सर्पराज्ञी क्यों कहा जाता है इसका स्पष्टीकरण ऐतरेयब्राह्मण से होता है, जहाँ यह बतलाया गया है कि निश्चितरूप से यह पृथिवी सर्पण करनेवाले जीवों की साम्राज्ञी है[1]। यह सर्पण करनेवाले कौन हैं? इसका उत्तर तैत्तिरीयब्राह्मण के एक स्थल पर उपलब्ध होता है, जहाँ कहा गया है कि इन्द्र, मित्र, बृहस्पति, सूर्य तथा चन्द्रमा आदि देवता ही सर्प हैं। यह पृथिवी इन्हीं देवों की रानी है[2]। शतपथब्राह्मण के अनुसार यह लोक ही सर्प है, जो इस पृथिवी के प्राण तथा अन्तरिक्ष के पशु वयांसि आदि सबके साथ सर्पण करते हैं[3]। इस प्रकार पृथिवी के साथ उसका सारा मण्डल भी सर्पण करने लगता है[4]।

अतः यह पृथिवी विस और दधिरूपा भी है। विसों (कमलनालों) में छिद्र और खोखलापन रहता है, ठीक यही स्थिति पृथिवी की भी होती है, इसके भीतर की मृत्तिका और रेतस् आदि के बीच में छिद्र होते हैं[5]। इस पृथिवी का ऊपरी भाग निश्चितरूप से दधि के समान है, क्योंकि दधि का ऊपरी भाग संहत रहता है। इसके नीचे कुछ आर्द्र भाग रहता है तथा इसके नीचे कुछ जल भी रहता है[6]। इस प्रकार इस विशाल पृथिवी की सृष्टि प्रक्रिया अनुसंधानित हुई।

अन्तरिक्ष सृजन—

पृथिवी की सृष्टि के बाद ही अन्तरिक्ष का सृजन हुआ होगा। इस सन्दर्भ में भी बहुत होने की कामना से युक्त प्रजापति ने अग्नि द्वारा पृथिवी के साथ मिथुनी-भाव कराया, जिसके फलस्वरूप आण्ड की उत्पत्ति हुई। उस आण्ड के पुष्ट होने की इच्छा से प्रजापति ने उसको सेया। तदनन्तर अण्डविस्फोट होने पर उसके गर्भ में स्थित पदार्थ वायु के रूप में सृष्ट हुए। इस प्रक्रिया में उसका जो अश्रुपात हुआ उससे वयांसि उत्पन्न हुए, पुनः कपालस्थित रस मरीचि हुए तथा रिक्त कपाल ही अन्तरिक्ष

---

1. ऐ० ब्रा० 5. 23 — इयं वै सर्पराज्ञी इयं हि सर्पतो राज्ञी।
   द्र० जै० ब्रा० 3. 304
2. तै० ब्रा० 2. 2. 6. 2 — देवा वै सर्पाः तेषामियं राज्ञी।
3. श० ब्रा० 7. 4. 1. 25 — इमे वै लोकाः सर्पाः ते ह्यनेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किञ्च।
4. श० ब्रा० 7. 4. 1. 57 — इमे वै लोकाः सर्पायद्धि किञ्च सर्पत्येष्वेव तल्लोकेषु सर्पति।
5. श० ब्रा० 5. 4. 5. 14 — यानि विसानि तान्यस्यै पृथिव्यै रूपम्।
6. वही० 7. 5, 1, 3 — दधि हैवास्य (भू) लोकस्य रूपम्।

बना[1]। इस प्रकार प्रजापति ने ही समस्त लोकों का सृजन किया, जिससे अग्नि से युक्त पृथिवी वायु से युक्त विष्णु के डग भरने के लिए अन्तरिक्ष तथा आदित्य से युक्त द्युलोक स्थित हुए[2]। ये समस्त सृष्टियाँ अन्तरिक्ष के स्वरूप को परिपूर्ण करती हैं; इसलिए इसके व्यापक सृष्टि का वर्णन उचित होगा।

अग्नि और पृथिवी का मिथुन—

सृष्टि के आदि में स्थित उस व्यापक सलिल में एकमात्र प्रजापति अथवा ब्रह्म था। प्रजापति ने उस आपः में स्थित अग्नि से पृथिवी का मिथुनीभाव कराया, जो अन्तरिक्ष की उत्पत्ति का मूल कारण बना[3]। ऋग्वेद में अन्तरिक्ष को विराट् पुरुष के नाभि से उत्पन्न बताया गया है[4]।

वायुसृजन—

अन्तरिक्ष में सर्वप्रथम भूत वायु विद्यमान था। गोपथब्राह्मण के अनुसार 'ऊँकार' के द्वितीय स्वरमात्रा से वायु की उत्पत्ति मानी गयी है[5]। आण्ड के गर्भ में स्थित पदार्थ से ही वायु का सृजन हुआ तथा इसके गतिमान होने की विशिष्ट शक्ति उत्पन्न हुई। वैसे तो वायु अदृश्य पदार्थ है, किन्तु जैमिनीयब्राह्मण में कहा गया है कि यह वायु अन्तरिक्ष में दीप्त होता है[6]। यही बात माध्यन्दिन-यजुर्वेदसंहिता में भी कही गयी है कि वायु तीव्र तेजवाली है[7]। इस सन्दर्भ के पुष्टिकरण में शतपथब्राह्मण के

---

1. श० ब्रा० 6. 1. 2. 1-2 — सोऽकामयत् प्रजापतिः भूय एवं स्यात् प्रजायेत इति सोऽग्निना पृथिवीं मिथुनम् समभवत्। ततः आण्डं समवर्तत् तदभ्यमृशत्। पुष्यतु इति पुष्यतु। भूयोऽस्तु इत्येव तदब्रवीत। स यो गर्भोऽन्तरासीत् स वायुरसृज्यत् अथ यदश्रुसंक्षरितमासीत् तानि वयांसि अभवन् अथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत् ता मरीचयोऽभवन्नथ यत् कपालमासीत् तदन्तरिक्षमभवत्।
2. श० ब्रा० 6. 5. 4. 7 — प्रजापतिरिमं लोकमसृजत् वात्सप्रेणाग्निं विष्णुक्रमैर्वै प्रजापतिरन्तरिक्षमसृजत् वात्सप्रेण वायु विष्णुक्रमैर्वै प्रजापतिर्दिवमसृजत् वात्सप्रेणादित्यम्।
3. श० ब्रा० 6. 1. 2. 1
4. ऋ० सं० 10. 90. 14 — नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्।
5. गो० ब्रा० पू० 1. 18 — तस्य द्वितीयया स्वरमात्रयाऽन्तरिक्षं वायुं यजुर्वेदं भुव इति व्याहृतिस्त्रैष्टुभं छन्द······।
6. जै० ब्रा० 1. 192 — वायुर् अन्तरिक्षे दीप्यते।
7. यजु० सं० 1. 24 — वायुरसि तिग्मतेजाः।

7

एक स्थल का उल्लेख किया जा सकता है, जहाँ प्राण से अग्नि तथा अग्नि के दीप्त होने की बात कही गयी है[1] । इस अन्तरिक्ष वायु की तीव्रता का उल्लेख ताण्ड्यब्राह्मण में भी मिलता है[2] ।

यह वायु सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में और पृथिवीमण्डल के ऊपर एक चुम्बकीय क्षेत्र बनाती है। इसी कारण वैद्युतवायु तथा अपरवायु तिरछी गति में चलती है। जैमिनीयब्राह्मण में उपयु‍र्क्त मत की पुष्टि की गयी है[3] । यह वायु एक ऐसा सूत्र है, जिसके माध्यम से आदित्य समस्त लोकों कों नियंत्रित किये हुए हैं[4] ।

वयांसि सृजन—

वयः का सामान्य अर्थ तो पक्षी है, परन्तु ये वयांसि पार्थिव अथवा पृथिवी-मण्डल में भ्रमण करनेवाले पक्षियों से सर्वथा भिन्न हैं। इन वयांसों का सम्बन्ध अग्नि से निश्चितरूप से है[5] । शतपथब्राह्मण के अनुसार धूम इस अग्नि का श्रवः और वयः है[6] । जैमिनीयब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने जब मत्स्य तथा सरीसृपादि का सृजन कर लिया, तब वे उनसे दूर हो गये, जो वयांसि होते गये[7] । वायु के साथ वयांसि-उत्पत्ति का विवरण शतपथब्राह्मण में उपलब्ध होता है, जहाँ वर्णित है कि एकाकी प्रजापति ने बहुत होने की कामना से श्रम एवं तपस्या किया। उनके इस तपश्चर्या के अनन्तर प्रजाओं का सृजन प्रारम्भ हुआ, जिनकी विशेषता थी कि सृष्ट होकर वे दूर होने लगे तथा वे ही वयांसि हुए। इस प्रकार द्विपादी प्रजापति की प्रजाएँ वयांसि हैं[8] ।

---

1. श० ब्रा० 10. 6. 2. 11 — प्राणेन वाऽग्निर्दीप्यते अग्निना वायुः । वायुना आदित्यः, आदित्येन चन्द्रमाः ।
2. ता० ब्रा० 1. 7. 3 — वायोष्ट्वा तेजसा सूर्यस्य त्वा वर्चसा ।
3. जै० ब्रा० 3. 310 — तस्माद् अयं वायुः अस्मिन् अन्तरिक्षे तिर्यङ् पवते ।
4. श० ब्रा० 8. 7. 3. 10 — तदसावादित्य इमान् लोकान् सूत्रे समावयते तद् यत् तत् सूत्र वायुः सः...।
5. तै० सं० 5. 7. 6 — वयो वा अग्निः यदग्निचित् पक्षिणोऽश्नीयात् तमेवाग्निम् अद्यात् ।
6. श० ब्रा० 7. 3. 1. 29 — धूमो वा अस्य (अग्नेः) श्रवो वयः ।
7. जै० ब्रा० 1. 187 — स तृतीया असृजत, ता अस्य परैवाभवन् तानि वयांसि अभवन् ।
   द्र० वहां 2. 218
8. श० ब्रा० 2. 5. 1. 1 — प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास । स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत । स प्रजा असृजत् ता अस्य प्रजा सृष्टा पराबभूवुः । तानीमानि वयांसि पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम् । द्विपाद् वा अयं पुरुषस्तस्माद् द्विपादो वयांसि ।

जैमिनीयब्राह्मण के अनुसार इन्द्र ने त्वष्टा के त्रिशीर्षा नामक पुत्र के सिर काट लिये, जो वयांसि हो गये। तब सोम पान शीर्ष था वह कपिञ्जल हुआ। सोम चूँकि भूरे रंगों का होता है, इसलिए कपिञ्जल भी भूरे रंग का हुआ। पुनः जो सुरायुक्त मुख था, वह कलविंक (गौरेया) पक्षी हुआ। यह मतवाले के समान शब्द करता है और अन्ततः जो अन्न खानेवाला मुख था वह तित्तिर हुआ[1]। वस्तुतः यह त्रिशीर्षा ही विश्वरूप है। यह इस पृथिवी से लेकर अत्यन्त दूर तक फैला हुआ था। इन्द्र ने जब इसका वध कर डाला तब वह वृत्र महामेघ होकर आपः परमाणु 'आग्नेय' के प्रभाव से वयांसि बन गया। ये वयांसि अन्तरिक्ष सृजन के प्रारम्भ में ही सृष्ट हुए थे। उस समय, चूँकि वृत्र का अस्तित्व नहीं था, यहाँ तक कि आदित्य-सृजन भी नहीं हुआ था, इसलिए वृत्र के अंशों से उत्पन्न होने वाले वयांसि की बात निराधार हो जाती है, परन्तु सत्य तो यह है कि ये वयांसि उत्तरकालिक थे। ये अन्तरिक्षीय कपिंजल कलविंक तथा तित्तिर पक्षी नहीं हैं। इसकी दिव्यता यजुर्वेदसंहिता में वर्णित है, जहाँ इसकी तुलना बड़े दिव्य सुपर्ण से की गयी है[2]।

मरीचिवर्ग—

वायु तथा वयांसि के क्रम में मरीचियों का भी सृजन हुआ था। यह मरीचि मरुत ही हैं; क्योंकि ये मरुत के गणों में से ही एक हैं। मरुतों के गण सात-सात की संख्या में उनचास तक होते हैं[3]। इन मरीचियों का जन्म अण्ड के कपाल से लगे रस से हुआ था[4]। इन मरीचियों के पिता अग्नि हैं; क्योंकि इसमें अग्नि का अंश प्रमुखरूप से विद्यमान है। तभी तो जैमिनीयब्राह्मण में कथित है कि मरीचियाँ चिन्गारियों की भाँति चमकती हैं[5]। पुरुष प्रजापति द्वारा ईशान मुख से मरुतों की सृष्टि हुई[6]। सम्भवतः इसीलिए अथर्ववेद में कहा गया है कि मरुत जो ईशान हैं, वे जल द्वारा गतिमान होते हैं[7]।

---

1. जै॰ ब्रा॰ 2. 154 — तस्य ह वज्रेण शीर्षाणि प्रचिच्छेद तान्येव वयांसि अभवन् तद् यत् सोमपानम्, आसीत् स कपिंजलोऽभवत्, तस्मात्स बभ्रुरिव। बभ्रुरिव हि सोमः। अथ··· तस्मात्स बहुरूप इव।
2. यजु॰ सं॰ 18. 51 — दिव्यं सुपर्णं वयसा बृहन्तम्।
3. श॰ ब्रा॰ 9. 3. 1. 25 — सप्त सप्त हि मारुतगणः।
4. वही 6. 1. 2. 1 — अथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत् ता मरीचयोऽभवन्।
5. जै॰ ब्रा॰ 1. 45 — मरीचयो विस्फुलिंगाः।
6. वही 3. 381 — ततो मरुतोऽसृजत ईशानमुखान्।
7. अथर्व॰ 4. 27. 4 — ये अद्भिः ईशानाः मरुतः चरन्ति।

मरुतों आदि की गतियाँ छन्दों में उसी प्रकार होती हैं, जिस प्रकार तरंगों में उतार-चढ़ाव होता है। मरुतों के छन्दों के सन्दर्भ में ताण्ड्यब्राह्मण में कहा गया है कि जो क्षुद्र छन्द हैं, वे मरुतों के ही हैं[1]।

अन्तरिक्ष में असुरों ने मरुतों के कारण ही रजत-पुरों का निर्माण किया था। इस प्रकार इन मरुतों ने श्वेत-रूप को प्राप्त कर लिया। मरुतों का प्रभाव दिशाओं तक भी पहुँचता है। दिशाएँ मरुतों की गति और इनके चक्र को ठीक रखती हैं। ये मरुत वृष्टि के नेता भी हैं, तभी तो वे सृष्ट-वृष्टि को वायुमण्डल में दूर-दूर तक ले जाते हैं[2]।

अन्ततः मरुतों के जन्म में अग्नि तथा विद्युत् का सहयोग महत्त्वपूर्ण है।

अन्तरिक्षस्थ पशु—

ये अन्तरिक्षस्थ पशु पूर्ववर्णित परा-पार्थिव पशुओं से भिन्न होते हैं। इन पशुओं का जन्म प्राण[3], आपः[4] और अग्नि[5] के परमाणुओं से हुआ। ऋग्वेद में इन पशुओं को वायव्य पशु कहा गया है[6]। कहीं-कहीं पर तो इन पशुओं को अग्निमुख भी कहा गया है[7]। सम्भवतः इसीलिए जैमिनीय-ब्राह्मण में दीप्तिमान् पशुओं के उत्पन्न होने की बात कही गयी है कि जो पशु अग्नि और मरुतों से उत्पन्न हुए, वे चमकते हैं[8]।

---

1. ता० ब्रा० 17. 1. 3	मरुत्स्तोमा वा एष यानि क्षुद्राणि छन्दांसि, तानि मरुताम्।
2. कपि० सं० 47. 7	मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति।
द्र० तै० सं० 2. 4. 10	अग्निर्वा इतो वृष्टिम् उदीरयति, मरुतः सृष्टां नयन्ति।
3. तै० ब्रा० 3. 2. 8. 9	प्राणाः पशवः।
श० ब्रा० 7. 5. 2. 6	स (प्रजापतिः) प्राणेभ्यः एवाधिपशून् निरमिमीत।
4. जै० ब्रा० 3. 146	आपो वा एते पशव इति।
मै० सं० 1. 4. 9	पशवो वै सलिलम्।
5. तै० ब्रा० 1. 1. 4. 3	आग्नेयाः पशवः।
श० ब्रा० 6. 4. 1. 2	पशुरेष यदग्निः।
ऐ० ब्रा० 2. 6	आग्नेयो वाव सर्वः पशुः।
कपि० सं० 38. 1	आग्नेया वै पशवः।
6. ऋ० सं० 10. 90	पशूंतांश्चक्रे वायव्यान्।
7. मै० सं० 3. 3. 10	अग्निमुखान् वै प्रजापतिः पशून् असृजत।
8. जै० ब्रा० 1. 140	ततो रेवतयः पशवोऽसृज्यन्त।

ये पशु अन्तरिक्ष की माया हैं और पृथिवी से द्युलोक तक पहुँचते हैं। इन पशुओं में अन्तरिक्षीय अश्व प्रमुख हैं, जिसे अप्सुजा भी कहा जाता है। अन्तरिक्ष के अधिकांश पशुओं का रूप लोहित होता है[1]। ये पशु मरुतों से भिन्न स्थिति में रहते हैं। ये अनियमित गति में स्वेच्छाचारी होते रहते हैं, इसलिए इन्हें 'असंश्लिष्टा' भी कहा गया है[2]।

इस प्रकार अन्तरिक्ष-पदार्थों का सृष्टि-विवेचन कर चुकने पर अन्तरिक्ष की सृष्टि प्रक्रिया पूरी होती है। अन्तरिक्ष की सृष्टि का वर्णन इस सृष्टि-विवेचन के प्रारम्भ में ही सांकेतिकरूप में कर दिया गया है। अब उसका थोड़ा विस्तार किया जायेगा, जो शतपथब्राह्मण के आहवनीय तथा गार्हपत्य अग्नि के प्रकरण में वर्णित है कि सृष्टि के प्रारम्भ में द्यु और पृथिवी दो ही लोक थे। जब ये दोनों अलग-अलग होने लगे, तब मध्य भाग अन्तरिक्ष हो गया। निश्चय ही यह नाम ईक्षण करने से सार्थक होता है[3]। इस सन्दर्भ में एग्लिंग महोदय का अंग्रेजी अनुवाद महत्त्वपूर्ण है, जहाँ ईक्षण को स्पष्ट कर दिया है[4]। ताण्ड्यब्राह्मण के अनुसार वामदेव ने आवश्यक समझकर अन्तरिक्ष का निर्माण किया था[5]। प्रजापति ने 'भुवः' शब्द का उच्चारण मात्र करके इस विशाल अन्तरिक्ष को उत्पन्न किया था[6]। तैत्तिरीयब्राह्मण के अनुसार प्रजापति के रुदन करने से जो अश्रु प्रवाहित हुआ तथा पृथिवी के सृजनोपरान्त जिन दो पदार्थों का उन्होंने स्पर्श किया, वही अन्तरिक्ष बन गया[7]।

---

1. ता० ब्रा० 16. 6. 2	एतद्वै पशूनां भूयिष्ठं रूपं यदरोहितम्।
द्र० कपि० सं० 37. 3	तस्माद् रोहितरूपं पशवो भूयिष्ठाः।
2. ता० ब्रा० 13. 4. 6	तस्माद् असंश्लिष्ठा पशवः।
3. श० ब्रा० 7. 1. 2. 23	स हैवेमावग्रे लोकावासतुः तयोर्वियतोर्योऽन्तरेणाकाश आसीत्, तदन्तरिक्षमभवत् ईक्ष हैतन्नाम।
4. Satapath Brāhman Part III (Eggeling Tr.) ed. by F. Maxmuller, Page-318.	'At first these two worlds (heaven and earth) were together and when the parted as under, the space which was between (antar) them became that air (antariksha) for Iksha indeed it was there.......
5. ता० ब्रा० 7. 9. 5	अयं वै लोको मध्यमो वामदेव्यम्। एतस्माद् वा इमौ लोकौ विष्वञ्चौ असृज्येताम्।
6. श० ब्रा० 11. 1. 6. 3	स भूरिति व्याहरत्सेयं पृथिव्यभवद् भुव इति तदिदमन्तरिक्षमभवत्, स्वरिति साऽसौ द्यौरभवत्।
द्र० वही 2. 1. 4. 11	भुव इत्यन्तरिक्ष, स्वरिति दिवमेतावद् वा...।
7. तै० ब्रा० 2. 2. 9. 4	यदश्रमभृष्ठ तदन्तरिक्षमभवत्।

अतिरिक्त लोकसृजन—

वैसे तो इस ब्रह्माण्ड में मुख्यतः तीन ही लोक हैं—पृथिवी, द्यु तथा अन्तरिक्ष; जिनका सृष्टि-विवेचन किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त भी कुछ लोक हैं, जिनका विवेचन वायुपुराण में उपलब्ध होता है। यह पुराण गायत्री, प्राणायाम-मंत्र में जितने लोक गिनाये गये हैं, उनका वर्णन करता है। इसके अनुसार भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्य नामक सात लोक एक के ऊपर एक छत्राकाररूप में अवस्थित हैं[1]। इनमें से प्रथम तीन लोक तो पृथिवी अन्तरिक्ष तथा द्युलोक ही हैं, जिनका वर्णन ब्राह्मण-ग्रन्थों में किया गया है। यथा प्रजापति द्वारा 'भूः', भुवः, तथा स्वः आदि शब्द कथन से भूर्लोक (पृथिवी) भुवर्लोक (अन्तरिक्ष) तथा स्वर्लोक (द्युलोक) का सृजन हुआ।

महर्लोक—

इन लोकों से भिन्न 'महः' लोक की उत्पत्ति ब्रह्मा (प्रजापति) के 'महः' इस कथन से हुई। इस लोक पर कल्पपर्यन्त रहने वाले कल्पवासी देवगण रहते हैं। यहीं सप्तर्षि, देवता, गन्धर्व, राक्षस, मनु तथा पितर आदि निवास करते हैं। महर्लोकीय देवता समयानुसार भूलोक पर अवतरित भी होते रहते हैं।

जन एवं तपः लोक—

ब्रह्मप्रलय में महर्लोक के रिक्त हो जाने पर वहाँ के निवासी 'जनः' लोक में शरण लेते हैं तथा 'तपः' लोक में सनक-सनन्दनादिक ब्रह्मपुत्र तथा ऋभु आदि देवगण निवास करते हैं। इसी हेतु इन लोकों का निर्माण हुआ।

दिशाएँ—

इन पौराणिक लोकों के बाद ब्राह्मणग्रन्थों में ही एक अन्य लोक का भी वर्णन मिलता है, जैसा कि जैमिनीयब्राह्मण में दिशाओं को चौथा लोक कहा गया है[2]। यहाँ चौथा लोक इस लिए कहा गया है कि पृथिवी, द्यु तथा अन्तरिक्ष इन तीनों की सत्ता तो ब्राह्मणग्रन्थ मान ही चुके हैं। तदनन्तर दिशाओं का चौथे लोक के रूप मे आना स्वाभाविक ही है। यहाँ तक कि तीनों लोकों के व्यवस्थापन में दिशाओं का विशेष योगदान होता है। पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यु आदि लोक दिशाओं के घेरे में आबद्ध रहते हैं। तभी तो ब्राह्मणग्रन्थों में इन दिशाओ के लिए परिधि शब्द कहा गया है[3]।

दिशाएँ शिक्य होती हैं; क्योंकि दिशाओं से ही लोकत्रय समर्थ होते हैं[4]।

1.	वा० पु० 50. 80	एते सप्त कृता लोकाश्छत्राकारा व्यवस्थिताम्।
2.	जै० ब्रा० 2. 179	एष ऊ ह वै चतुर्थो लोको यद्दिशः।
3.	तै० ब्रा० 2. 1. 5. 2	दिशः परिधयः।
	द्र० ऐ० ब्रा० 5. 28	दिशः परिधयो।
4.	श० ब्रा० 6. 7. 1. 16	दिशः शिक्यम्, दिग्भिर्हीमे लोकाः शक्नुवन्ति स्थातुम्। यच्छक्नुवन्ति तस्माच्छिक्यम्।

अर्थात् दिशाएँ रस्सी के फन्दे के बाँधने के समान इन लोकों को नियंत्रित रखती हैं। जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण के अनुसार तो पशुओं तथा प्रजाओं की उत्पत्ति के बाद प्रजापति ने दिशाओं का सृजन किया था[1]। जैमिनीयब्राह्मण के अनुसार दिशाओं की संख्या नौ है[2], जिसमें चार दिशाएँ चार अवान्तर दिशाएँ तथा ऊर्ध्व कुल नौ होती हैं। कहीं-कहीं तो 'अधः' को मिलाकर दश दिशाएँ मानी गयी हैं। शतपथब्राह्मण के अनुसार हिरण्याण्ड के कपाल से ही दिशाएँ बनीं। कपाल में जो लिप्तरस था, वही अवान्तर दिशाएँ हुईं। चूँकि रस भौतिक द्रव्य था, इसलिए इससे उत्पन्न अवान्तर दिशाएँ भी भौतिक कहलायीं[3]।

ये दिशाएँ सूचियों का स्वरूप भी होती हैं, अर्थात् पृथिवी के लौहमयी होने में इन दिक्सूचियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। ब्राह्मणग्रन्थों में दिशाओं को लौह सूची कहा गया है[4] तथा अवान्तर दिशाओं को रजतसूची बताया गया है। मरुतों के कारण ही इन रजतसूचियों का निर्माण हुआ[5]।

अन्तरिक्ष में दिशाओं की सूचियाँ छन्दों पर आश्रित होती हैं। अनेक मरुद्गणों के छन्द इन सूचियों का निर्माण करते हैं। सम्भवतः इसीलिए छन्दों को भी दिशाएँ कहा गया है[6]। ये छन्द तरंगों में गतिमान होते हैं, जो अश्व-गति में आश्रित रहती हैं। छन्दों के लिए 'वाजिनः' का भी प्रयोग मिलता है[7]। ये अश्व आदित्य के प्रभाव से प्रभावित होते हैं, जो तरंगों से चलकर पुनः मरुतों से मिलकर दिशाओं तक पहुँच जाते हैं।

वस्तुतः इन आठों दिशाओं का तथा एक अवान्तर दिशा की उत्पत्ति अन्तरिक्षीय

---

1. जै० उ० ब्रा० 15. 2. 3. 4 — तदस्य प्रजा अनूपतिष्ठन्ते एस्मादासु प्रजासु रूप.ण्य-धिगम्यते अपरिमितं मनोऽस्य तत्। ततो दिशोऽसृजत्। तदस्य दिशोऽनुपतिष्ठन्ते।
   द्र० जै० ब्रा० 3. 3. 55 — प्रजापतिर्वा इमान् लोकान् इमा दिशोऽसृजत।
2. जै० ब्रा० 2. 311 — चत्वारो दिशः, चत्वारोऽवान्तरदिशः, ऊर्ध्वा दिङ् नवमी।
3. श० ब्रा० 6. 1. 2. 3 — यः कपाले रसो लिप्त आसीत्ता अवान्तर दिशोऽभवन्। यत्कपालमासीत्ता दिशोऽभवन्।
4. श० ब्रा० 13. 2. 10. 3 — दिशो वै लौहमय्यः (सूच्यः)।
   द० तै० ब्रा० 3. 9. 6. 5 — दिशो वै अयस्मय्यः।
5. श० ब्रा० 13. 2. 10. 2 — अवान्तर दिशो रजताः।
6. वही 8. 3. 1. 12 — छन्दांसि वै दिशः।
7. गो० ब्रा० उ० 1. 20 — छन्दांसि वै वाजिनः।

विभुओं एवं आदित्य-रश्मियों के संयोग से होती है। शतपथब्राह्मण के अनुसार दिशाएँ ही 'यजुष्' हैं। ये निश्चय ही विश्वेदेवा वैश्वानरा हैं, जिन्होंने इन लोकों अथवा उषा (अग्नि रखने वाला लघु मृत्पात्र) में चौथे याजुष्मन्त्र से दिशाओं को स्थापित किया[1]। इन समस्त लोकों का सृजन प्रजापति ने अपनी प्रजा-कामना से युक्त श्रम-तपस्या के अनन्तर किया[2]। तैत्तिरीयब्राह्मण के अनुसार स्वर्ग लोक के अनन्त पार में तपोलोक है, जिसकी प्रतिष्ठा 'तेज' है। अर्थात् वह तेज तप के ही आश्रित रहता है। इसी प्रकार समस्त लोकों की प्रतिष्ठा की गयी है[3]।

ऐतेरेयब्राह्मण के अनुसार वायु ने अन्तरिक्ष लोक को दृढ़ किया[4] तथा इसी ग्रन्थ के अनुसार यजमान 'ऋतावायस्य रोदसी' इस मन्त्र से द्यावा-पृथिवी के तथा 'प्र वो देवाय अग्नये' इस मन्त्र से अन्तरिक्ष के निर्माण में सहयोग करता है। तदनन्तर वह उन सब आस्थानों में प्रविष्ट होता है[5]। शतपथब्राह्मण के एक स्थल के अनुसार पृथिवी तथा अन्तरिक्ष के दृढ़ीकरण के सन्दर्भ में प्रजापति ने सोचा कि ये लोक किस प्रकार ध्रुव एवं प्रतिष्ठित होगें? इसके अनन्तर, उसने पृथिवी को तो नदी एवं पर्वतों से दृढ़ बनाया, पक्षियों एवं किरणों द्वारा अन्तरिक्ष को तथा बादलों एवं नक्षत्रों द्वारा द्युलोक को दृढ़ बनाया[6]।

रात्रि एवं दिन के सृष्टि-प्रसंग में ज्योत्स्ना-सृजन--

पृथिवी तथा अन्तरिक्ष आदि लोकों के सृष्ट हो जाने पर एवं इस अखिल ब्रह्माण्ड में सूर्य के सत्तावान् हो जाने पर केवल प्रकाश ही प्रकाश रहा होगा। इसी प्रकाश की संज्ञा दिन है। यह तभी संभव है जब सूर्य अपने राशि पर स्थिर हो, यही रहा भी होगा। मैत्रायणीसंहिता के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भिक चरण में निश्चित ही

1. श० ब्रा० 6. 5. 2. 6 — दिशो हैतद् यजुः। एतद् वं विश्वेदेवा वैश्वानरा एषु लोकेषु उखायाम् एतेन चतुर्थेन यजुषा दिशोऽदधुः।
2. ऐ० ब्रा० 25. 7 — प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान् स्यामिति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वेमान् लोकान् असृजत। पृथिवीमन्तरिक्षं द्यौः।
   द्र० श० ब्रा० 10. 1. 1. 2 — महदुक्थं सह हीमे लोका असृज्यन्त।
3. तै० ब्रा० 3. 11. 1. 2 — लोकोऽसि स्वर्गोऽसि अनन्तोऽस्य पारोऽसि...तपोऽसि लोकेऽश्रितम्। तेजसः प्रतिष्ठा।
4. ऐ० ब्रा० 10. 41 — वायुना हीदं यदन्तरिक्षं न समृच्छति।
5. द्र० वही
6. श० ब्रा० 11. 8. 1. 2 — पर्वतैर्नदीभिश्चेमा मृदं वयोभिश्च मरीचिभिश्चान्तरिक्षं जीमूतैश्च नक्षत्रैश्च दिवम्।

केवल दिन था। देवताओं ने रात्रि की आवश्यकता महसूस की तथा इसी जिज्ञासा की पूर्ति हेतु रात्रि उत्पन्न हुई[1]।

तैत्तिरीयब्राह्मण के अनुसार असुरों की उत्पत्ति के प्रसंग में रात्रि की उत्पत्ति हुई, इस संदर्भ का सायणभाष्य महत्त्वपूर्ण है[2]। मैत्रायणि संहिता के देवता निश्चयं ही ब्राह्मणग्रन्थों के प्रजापति हैं। ऐतरेयब्राह्मण के अनुसार बहुप्रजाकामी प्रजापति ने तीनों लोकों को तपाया। इन लोकों के तपाये जाने के अनन्तर क्रमशः पृथिवीलोक से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु तथा द्युलोक से सूर्य नामक ज्योतियों की उत्पत्ति हुई। दिन में सूर्य ही एक ऐसा ज्योतिपुंज है, जो प्रायः तीनों लोकों को प्रकाशित करता है। इस प्रकार सूर्य ही दिन और रात्रि की उत्पत्ति का एकमात्र कारण है[3]। यही बात शतपथब्राह्मण में भी दुहरायी गयी है[4]। इस प्रकार जब सूर्य अपना राशि छोड़कर पूरे ब्रह्माण्ड में चक्कर लगाने लगा तथा नित्य उसमें उदित एवं अस्त (प्रभात एवं सन्ध्या) होनेवाली बात सिद्ध होने लगी, तभी से आज और कल का विधान हुआ।

शतपथब्राह्मण के अनुसार देवताओं के सृजनहेतु प्रजापति ने दिन को बनाया तथा असुरों के सृजन हेतु रात्रि का निर्माण किया था[5]।

ज्योतियों के सम्बन्ध में शतपथ-ब्राह्मण का वचन है कि अग्नि ही प्रथम विश्वज्योति है, क्योंकि इस भू-लोक पर अग्नि ही पूरे विश्व में अधिष्ठित है। प्रजाएँ भी विश्वज्योति हैं, क्योंकि प्रजाएँ ही इस विश्वज्योति को प्रजननद्वारा धारण की

---

1. मै० सं० 1. 5. 12	अहर्वाव तर्हि आसीन्न रात्रिः। ते देवा रात्रिमसृजन्त। ततः श्वस्तनमभवत्.......सा वै रात्रिः सृष्टा पशून्भिसममिलत्।
2. तै० ब्रा० सा० भा० 2. 2. 9. 5	सा तनूः शारीराकारं परित्यज्य तमोयुक्ता रात्रिरभवत्।
3. India of the age of the Brāhmanic, Page-260.	'The sun is mainly responsible for the creation of day and night.
4. श० ब्रा० 9. 4. 1. 8	असौ वाऽऽदित्यः स ँहित एष ह्यहोरात्रिं संदधाति। विश्वेसामेत्येष ह्येव सर्वँ साम सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस इति।
5. श० ब्रा० 11. 1. 6. 10	स यदस्मै देवान्त्ससृजानाय दिवैवास तदहरः कुरुताथ यदस्माऽअसुरान्तससृजनाय तम ईवासतँ रात्रिमकुरुत तेऽहोरात्रे।
द्र० श० ब्रा० 6. 5. 4. 7	प्रजापतिरहरसृजत वात्सप्रेण रात्रिं विष्णुक्रमैर्वै प्रजापतिः पूर्वपक्षानसृजत।

थीं[1]। यह ज्योति ही 'हिरण्य' तथा 'छन्दाग्नि' है। अतः यजमान हिरण्याग्नि का ही चयन करता है[2]।

इसी प्रकार अन्तरिक्षलोक में स्थित वायु भी ज्योतिस्वरूप है, जिसे अग्नि-मारुत भी कहते हैं। देवताओं ने एकबार पृथिवी तथा सूर्य को 'ऊखा' बनाया था, जिसके कारण मारुतचक्र चलता रहता है[3]। यह मारुत वायु ही अन्तरिक्ष में वैद्युत् चुम्बकीय चक्र बनाते हैं। द्युस्थानीय सूर्य ज्योतिस्वरूप हैं, जो स्वतः सिद्ध है। ऐसे सूर्य की उत्पत्ति का वर्णन गोपथब्राह्मण में किया गया है कि सोम के तीसरे अक्षर से यह उत्पन्न हुआ[4]। इस प्रकार लोकों की सृष्टि के अनन्तर अहोरात्र सहित ज्योत्स्ना आदि का क्रमिक सृष्टि-विवेचन किया गया है। इसी के अनन्तर मासों, अर्धमासों तथा तथा संवत्सर आदि का भी विधान हुआ।

संवत्सरादि-सृष्टि—

विश्व-सृष्टि-व्यवस्था को संचालित करने के लिए अहोरात्र के पश्चात् ऋतु तथा संवत्सरों का विधान अत्यावश्यक था। विश्वसृष्टि की समस्त क्रियाएँ इन्हीं मास ऋतु अथवा संवत्सरों के चक्र में सम्पन्न होती रहती हैं। सामान्यतया छः ऋतुओं अथवा बारह मासों का संयोग ही संवत्सर कहलाता है।

यह संवत्सर स्वयं आत्मा और वाक् के मिथुन से उत्पन्न होता है तथा पुनः अपने में से एक 'वाक्' शक्ति उत्पन्न करता है। इसी वाक् द्वारा वह ऋक्, यजुः, साम, छन्दोयज्ञ तथा पशुओं आदि समस्त वस्तुओं एवं पदार्थों का सृजन करता है। व्युष्टि-प्रक्रिया द्वारा सूर्य संज्ञा-विहित संवत्सर, रात्रि या एकाष्टका नामक 'वाक्' से युक्त रहता है। यही उसकी पत्नी है। इसी के द्वारा वह सम्पूर्ण विश्व का सृजन करता है। शक्तिमती होने के कारण वाणी को कभी-कभी संवत्सर भी कहा जाता है[5]। संवत्सर

1. श० ब्रा० 7. 3. 2. 25 — अग्निर्वै प्रथमा विश्वाज्योतिरग्निर्हँवास्मिल्लोके विश्वं ज्योतिरग्निमेवैतदुपदधाति तामन्तर्हिता॑ रेतः सिग्भ्यामुपदधातीमौ वै लोकौ रेतः।...।
2. श० ब्रा० 10. 2. 7. 6-7 — ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरिन्द्राग्नोऽअमृत॑ हिरण्यम-मृतमिन्द्राग्नी। तावेताविन्द्राग्नीऽएव चिन्वन्ति।
3. वही 6. 5. 2. 11 — योऽयमग्निरूखायामेतमेव तद्देवा आत्मानं कृत्वेमां लोकानक्रमन्त।
4. गो० ब्रा० पू० 1. 19 — तस्य तृतीयया स्वरमात्रया दिवमादित्यं सामवेदं स्वरिति व्याहृतिर्जागतं छन्दः सप्तदशस्तोममुदीचीं दिशं वर्षा ऋतु ज्योतिरध्यात्मं चक्षुषीदर्शनमिति इन्द्रियाण्यन्वभवत्।
5. ता० ब्रा० 10. 12. k — वाक् संवत्सरः।

को अहोरात्र भी कहा जाता है; क्योंकि सम्पूर्ण संवत्सर में अहो-रात्र ही तो होते हैं[1]। अहोरात्र में हर एक दिन को संवत्सर का दिन कहा जाता है[2]।

गोपथब्राह्मण के अनुसार उदयनीय तथा अतिरात्र के प्रसंग में कथित है कि यजमानों ने देवयुक्त स्वर्ग-लोक हेतु यज्ञ किया तथा वे देवों के सालोक्य एवं सायुज्य प्राप्त करने में सफल भी हुए। तदनन्तर संवत्सर का जन्म हुआ[3]। शतपथब्राह्मण के अनुसार पुरोडाश-करण में 'अच्छा-वाक्' के सन्दर्भ में यजमान ऋतग्रहों का अनुकरण करता है, अर्थात् उसको आहुति देता है। वह यह कार्य इसलिए करता है कि 'अच्छा-वाक्' मिथुन है, जो इन्द्र-अग्नि का होता है। इन्द्र तथा अग्नि भी जोड़े हैं। जोड़े का तात्पर्य प्रजनन से है। इस प्रकार उत्पत्ति करनेवाले उपर्युक्त जोड़ों से संवत्सर की उत्पत्ति होती है[4]। अच्छावाक् के स्थिर हो जाने पर ही ऋतग्रहों को आहुति दी जाती है। संवत्सर के बारह महीनों के कारण बारह ग्रहों को लेने का विधान है। वैसे तेरहवाँ भी लिया जा सकता है; क्योंकि एक अधिक मास भी होता है। ये सब द्रोण कलश से ही लिए जाते हैं। चूंकि द्रोणकलश प्रजापति होता है, अतः इसी में ऋतुओं और संवत्सर को उत्पन्न किया गया[5]। विष्णु के डग भरने के अनन्तर ही प्रजापति ने अर्धमासों, ऋतुओं तथा संवत्सर का निर्माण कर दिया था[6]। षड्विंशब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने ही इस सत्र संवत्सर का सृजन किया था[7]।

---

1. कौ० ब्रा० 17. 5 — एतावान्वै संवत्सरो यदहोरात्रम्।
2. तै० ब्रा० 3. 9. 22. 1 — एकं वा एतद्देवानां अहः संवत्सरः।
   द्र० ता० ब्रा० 9. 1. 23-24 तथा 9. 1. 25-28
3. गो० ब्रा० पू० 4. 10 — अथ यदुदयनीयमतिरात्रमुपयन्ति स्वर्गमेव तल्लोकं देवं देवता यजन्त स्वर्गो लोको देवता भवति। स्वर्गस्य लोकस्य देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति, य एतदुपयन्ति तद्वा एतत्संवत्सरस्य जन्म।
4. श० ब्रा० 4. 3. 1. 3 — ऋतुग्रहैश्चरति तद्यत्सन्नेऽच्छावाक् ऋतुग्रहैश्चरति मिथुनं वा अच्छावाक् ऐन्द्राग्नि ह्यच्छावाको द्वौ हीन्द्राग्नि द्वन्द्वं हि मिथुनं प्रजननं स एतस्मान्मिथुनात्प्रजननादृतून्संवत्सरं प्रजनयन्ति।
5. वही 4. 3. 1. 6 — द्रोण-कलशादगृह्णाति। प्रजापतिर्वै द्रोण-कलशः स एतस्मात्प्रजापतिः ऋतूंत्संवत्सरं प्रजनयति।
6. वही 6. 5. 4. 7 — प्रजापतिः अर्धमासान् असृजत वात्सप्रेण मासान्विष्णुक्रमैर्वै प्रजापतिः ऋतूनसृजत। वात्सप्रेण संवत्सरं तद्यद्विष्णुक्रमवात्सप्रेणा भवत एतदेव तेन सर्वं सृजते।
7. ष० वि० ब्रा० 5. 2. 1 — प्रजापतिर्वा एतत्सत्र सहस्रसंवत्सरमसृजत।

सृष्टि के आदि में एकमात्र अवस्थित बहुप्रजाकामी प्रजापति ने सोलह प्रकार की आत्माओं को आच्छादित तथा प्रतिष्ठित किया। इसी क्रम में ऋतुओं, मासों, अर्धमासों एवं अहोरात्रों का सृजन भी हुआ[1]। इस सन्दर्भ में जैमिनीयब्राह्मण का भी एक स्थल उपलब्ध होता है, जहाँ प्रजापति द्वारा पार्थिव लोक की तीन ऋतुओं की उत्पत्ति की बात कही गई है। प्रथम ऋत्विज् के तपने से 'ग्रीष्म-ऋतु' उत्पन्न हुई, द्वितीय के तपने से वर्षा तथा तृतीय से हेमन्त ऋतु की उत्पत्ति हुई। इन ऋतुओं को दो प्रकार से व्यवस्थित किया गया है, अर्थात् ग्रीष्म-ऋतु से वसन्त, वर्षा-ऋतु से शरद् तथा हेमन्त-ऋतु से शिशिर उत्पन्न होकर षड्ऋतुओं का विधान करते हैं। इन षड्ऋतुओं को भी द्विधा विभक्त करके तप की प्रक्रिया से बारह महीने उत्पन्न हुए। प्रजापति ने इन बारह महीनों से भी तपाया तथा इन महीनों को द्विधा विभक्त किया, जिससे चौबीस अर्धमासों का सृजन हुआ। इसी क्रम में अहोरात्रों का भी सृजन स्वीकार्य है[2]। एक स्थल पर संवत्सर का स्रष्टा प्रजापति स्वयं संवत्सर बन गया है[3]। इस सन्दर्भ में शतपथब्राह्मण पर सायणभाष्य महत्त्वपूर्ण है, जहाँ प्रजापति ही संवत्सर है[4]।

---

1. जै० उ० ब्रा० 15. 1 — प्रजापतिर्वा वेदमग्र आसीत्। सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय भूमानं गच्छेयमिति स षोडषधाऽऽत्मानं व्याकुरुत।.... तत्संवत्सरमसृजत। तदस्य संवत्सरोऽनुपतिष्ठते समाप्तिः कर्मास्य तत् कर्मणा हि समाप्नोति तद् ऋतूनसृजन्त···। मासानर्धमासानहोरात्राण्युपसोऽसृजत।

2. जै० ब्रा० 3. 1 — स तपोऽतप्यत् स आत्मान् ऋत्वियम् अपश्यत्। ततस्त्रीन् ऋतून् असृजतेमान्' एवं लोकान्। यद् ऋत्वियाद् असृजत् तद् ऋतूनां ऋतुवम्। यद् ऋत्वियाद् अजनयत् तस्मात् ऋत्विज इत्याख्यायन्ते। स यत् प्रथमं अतप्यत ततो ग्रीष्ममसृजत। तस्मात् स बलिष्ठः तपति य द्वितीयं अतप्यत ततो वर्षा असृजत्···ततो हेमन्तम् असृजत···तान् द्वेधा व्यौहन् ते षड्ऋतवो अभवन्, स ग्रीष्माद् एव वसन्तं निरमिमीत···।

3. जै० ब्रा० 3. 2 — स एवैष प्रजापतिः संवत्सरोऽभवत्।

4. सा० भा० श० ब्रा० 11. 1. 6. 3 — यः अहं इमा देवताः सृष्टवानस्मि। सोऽहं सर्वस्रष्टव्यं कृत्स्नं जगत् अत्सारिषं छद्मगतया प्राप्तवानस्मि यस्मादेव सर्वं वा अत्सारिषं इत्यवबोधयत, तस्मात् सः प्रजापतिः संवत्सरः अभवत्, स एव हि परोक्षवृत्या संवत्सरः इत्युच्यते।

संवत्सर-सृष्टि का यज्ञ-रूपक भी दिया गया है, जहाँ पुरुष के भिन्न-भिन्न भाग संवत्सर यज्ञ के भिन्न-भिन्न भागों से उपमित किये गये हैं। इसका प्राण प्रायणीय अतिरात्र है तथा प्राण के द्वारा ही ये गतिमान होते हैं। 'वाक्' आरम्भणीय दिन होता है। इसीलिए जो कुछ आरम्भ करना होता है, उसे वाक् द्वारा तथा दिन में ही प्रारम्भ किया जाता है[1]।

ऋतु तथा संवत्सर का स्वरूप

मुख्यतः तीन सौ साठ दिनों, चौबीस अर्धमासों, बारह मासों अथवा छः ऋतुओं के संयोग को संवत्सर कहते हैं[2]। जैसा कि पूर्व के प्रकरणों में कहा भी गया है। कभी-कभी अधिक मास होने पर संवत्सर में तेरह महीने या कुल छब्बीस अर्धमासों अथवा सात ऋतुओं को ग्रहण किया जाता है[3]। यह संवत्सर एक आत्मा है,[4] यहाँ तक कि

---

1. श० ब्रा० 12. 2. 4. 1 — पुरुषो वै संवत्सरः तस्य प्राण एव प्रायणीयोऽतिरात्रः। प्राणेन हि प्रयन्ति वागेवारम्भणीयमहर्वाचा ह्यारभन्ते यद् यदारभन्ते।

द्र० गो० ब्रा० पू० 5. 3. 1

2. कौ० ब्रा० 11. 7. — त्रीणि वै षष्टिशतानि संवत्सरस्याह्ना संवत्सरस्य वाऽऽस्यै।

द्र० श० ब्रा० 8. 2. 4. 13 — अथ संवत्सरो वाव प्रतूर्तिरष्टादशस्तस्य द्वादश मासा षड् ऋतवः संवत्सरमेव।

द्र० म० ब्रा० 1. 5. 15 — स त्वाह्ने··परिददात्वहस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वाहोरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रौ त्वार्द्धमासेभ्यः परिददात्वर्धमासास्त्वा मासेभ्यः परिददातु मासास्त्वा ऋतुभ्यः परिददत्ववृत········।

3. श० ब्रा० 8. 2. 4. 19 — संवत्सरो वाव गर्भाः पञ्चविंशस्तस्य चतुर्विंशतिरर्धमासा संवत्सर एव गर्भाः पञ्चविंशस्तद्युत्तमाह गर्भा इति संवत्सरो ह त्रयोदशो मासो गर्भो भूत्वा ऋतून्प्रविशति।

द्र० वही 8. 2. 4. 17 — अथ संवत्सरो वाव सम्भरणस्त्रयोविंशतस्य त्रयोदशमासा सप्तऽर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव।

द्र० वही 8. 2. 4. 22 — अथ संवत्सरो वाव प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिँशस्तस्य चतुर्विंशतिरर्धमासा षड्ऋतवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव।

द्र० वही 10. 2. 2. 1-2 — तस्याहोरात्राण्यर्धमासा ऋतवः षष्टिर्मासस्याहोरात्राणि मासि वै संवत्सरस्याहोरात्राण्याप्यन्त। चतुर्विंशतिरर्धमासास्त्रयोदशमासास्त्रय ऋतवस्ताः शतंविधा।

4. श० ब्रा० 8. 4. 1. 7 — देवताश्च भूत्वा संवत्सरत्रयाणिं···एतदात्मनो भविष्यतीति।

वही स्रष्टा प्रजापति भी है[1]। इसके साथ ही साथ उसका सम्बन्ध महीनों तथा ऋतुओं आदि के कालांशों से भी है[2]। इस संवत्सर के सृजन का रहस्य सम्भवतः यह है कि विश्व में जिस किसी की सृष्टि होती है, वह वर्ष अथवा काल के अन्तर्गत ही होती है[3]। सृष्टि से इतर स्थिति (संहार) का सम्बन्ध भी संवत्सर से किया गया है। वह समस्त जीवों का पालक है[4]। संवत्सर का एक नाम 'मृत्यु' भी है: क्योंकि वह समस्त भूतों के जीवन को क्षीण करता है तथा उसका अन्त कर देता है। इसके अहोरात्रों द्वारा समस्त जीव प्रकारान्तर से संवत्सर में ही विश्राम पाते हैं[5]। सम्भवतः इसीलिए इसे विवर्त भी कहा जाता है, जिसके अन्तर्गत समस्त जीव विवर्त (चक्कर) लगाते रहते

---

1. श० ब्रा० 10. 2. 2. 1 — संवत्सरो वै प्रजापतिः।
   द्र० वही 2. 2. 3. 18 — प्रजापतिर्वा अग्निः। संवत्सरो वै प्रजापतिः।
   द्र० वही 3. 2. 2. 4, 5
   तथा 5. 1. 2. 9
   द्र० तै० ब्रा० 1. 4. 10. 1
   तथा गो० ब्रा० उ० 3. 8।
   द्र० कौ० ब्रा० 6. 15 — स एष प्रजापतिरेव संवत्सरः।
2. ता० ब्रा० 10. 3. 6 — स (संवत्सर) एव प्रजापतिस्तस्य मासा एव सहृदीक्षिणा।
   द्र० श० ब्रा० 14. 4. 3. 23 — यो वै स संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलो।
   द्र० वही 1. 6. 3. 35 — स वै संवत्सर एव प्रजापतिस्तस्यैतानि पर्वाण्यहोरात्रयोः सन्धी पौर्णमासी चामावास्या चतुर्मुखानि।
3. कौ० ब्रा० 19. 9 — संवत्सरे वै रेतः सिक्तं जायते···तदेतस्याह्नोरूपं ते हि द्यावापृथिवी विश्वशंभुवेति द्यावापृथिवीयं पनाय्यमोजा अस्मै समिन्वतामिति संवत्तत्संवत्सरमभिवदति।
   द्र० गो० ब्रा० पू० 2. 15 तथा
   ता० ब्रा० 10. 1. 9 तथा
   तै० ब्रा० 3. 11. 10
4. श० ब्रा० 8. 4. 1. 17 — अथ संवत्सरो वा सम्भरणः संवत्सरे हि सर्वाणि भूतानि सम्भृतः।
5. श० ब्रा० 10. 4. 3. 1 — एष वै मृत्युर्यत्संवत्सरः। एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यामायुः क्षीणोत्यथम्रियन्तेकमस्मादेष एव मृत्युः स यो हैतं मृत्युं संवत्सरं वेद।

हैं[1]। संवत्सर को सरावत्सर भी कहा गया है, क्योंकि इसके अन्तर्गत समस्त सृष्टियाँ आ जाती है[2]।

इस प्रकार संवत्सर अथवा सरावत्सर प्रजापति को, काल के अन्तर्गत होनेवाली समस्त सृष्टि का नियन्त्रक कालात्मा भी कहा जा सकता है। तैत्तिरीय-ब्राह्मण में संवत्सर को ऋतु कहा गया है[3]। इसके मानवीकरण के सन्दर्भ में ताण्ड्यब्राह्मण में कहा गया है कि वसन्तऋतु संवत्सर का मुख है, ग्रीष्म तथा वर्षा पक्ष हैं तथा हेमन्त पुच्छ है[4]।

सूर्य को संवत्सर की आत्मा कहा गया है[5]। पर्व अहोरात्रि-सन्धि, पूर्णमासी तथा अमावास्या उस संवत्सर के चार मुख हैं। ऋतु, मास संवत्सर पुरुष के अंग हैं तथा उत्तरायण एवं दक्षिणायन इसके दो पार्श्व हैं। संवत्सर सूक्ष्म कालात्मा भी है। यह वही आत्मा है, जो मनुष्य के भीतर विद्यमान रहती है। यही प्राण,[6] अग्नि, आदित्य[7] तथा पुरुष[8] आदि अनेक संज्ञाओं से जाना जाता है। चूँकि यह समस्त भूतों

---

1. श० ब्रा० 8. 4. 1. 25 — अथो संवत्सरो वा विवर्तो ······संवत्सराद्धि सर्वाणि भूतानि विवर्तन्ते।
2. श० ब्रा० 11. 1. 6. 12 — सर्वं वाऽअत्सारिष् य इमा देवता असृक्षीति स संवत्सरोऽभवत्संवत्सरो ह वै नामैतत् संवत्सर इति।
3. द्र० तै० ब्रा० 3. 8. 3. 3
4. ता० ब्रा० 2. 15. 2 — तस्य वसन्त ऋतुमुखं ग्रीष्मश्च वर्षा च पक्षौ शरन्मध्यं हेमन्तः पुच्छम्।
5. ता० ब्रा० 4. 7. 1 — आत्मा वा एष संवत्सरस्य यद्विषुवान्।
   द्र० श० ब्रा० 12. 2. 3. 6-7 — आत्मा वै संवत्सरस्य विषुवानङ्गानि मासा।
6. श० ब्रा० 6. 3. 1. 25 — संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्वाव यस्य मात्रा तावत्तद् भवति।
   द्र० वही 6. 3. 2. 10 तथा 6. 6. 1. 4
   द्र० ता० ब्रा० 5. 10. 3-7 13. 17. तथा तै० ब्रा० 1. 4. 10. 2
7. श० ब्रा० 10. 2. 4. 3 — स यः स संवत्सरोऽसौ स आदित्यः।
   द्र० 14. 1. 1. 27 — एष वै संवत्सरो य एष तपति।
8. श० ब्रा० 12. 2. 4. 1 — पुरुषो वै संवत्सरः।
   द्र० गो० ब्रा० 5. 3

को तपाता है, इसीलिए इसका एक नाम तप भी है[1]। आदित्य तथा अग्नि वैश्वानर को संवत्सर के साथ समीकृत किया जाता है, इस समीकरण के पश्चात् सौर वर्ष के आधार पर उस संवत्सर को कालात्मा के रूप में कल्पित किया जाता है। सूर्य के प्रमुख तत्त्व प्रकाश एवं तपस् तेज का उल्लेख प्रायः मिलता है[2]। संवत्सर से संबन्धित स्वर्ग के वर्णन में भी वर्ष का स्वरूप मिलता है[3]। संवत्सर के स्वर्ग को षट्त्रिंश वाक् भी कहा गया है, जहाँ पहुँच जाने पर किसी भी प्रकार का क्लेश नहीं मिलता है[4]।

संवत्सर का यह स्वर्ग आत्यन्तिक नहीं है, अर्थात् यह स्वर्ग मध्यवर्ती है तथा इससे परे भी सुवर्ग लोक है[5]। संवत्सर एक ऋतु भी है, जिसमें अन्य ऋतुओं से कोई अन्तर नहीं होता है[6]। कारण कि भिन्न-भिन्न वस्तुएँ जो तीन,[7] पाँच[8], छः[9] अथवा सात[10] की संख्या में बतलायी गई हैं, वे इस संवत्सर के ही अंग मात्र हैं। तेरहवाँ महीना भी संवत्सर का है[11]।

---

1. श० ब्रा० 8. 4. 1. 14 — संवत्सरो वा तपो नवदशः तस्य द्वादशमासाः षड् ऋतवः।…संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि तपति।
2. अ० वे० 3. 5. 8 — संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि….।
   द्र० वही 1. 28. 13
3. श० ब्रा० 6. 7. 4. 11 — स वा अर्धमेव संवत्सरस्य विष्णुक्रमान्क्रमते अर्धवात्सप्रेणोप्रतिष्ठिते, मध्येह संवत्सरस्य स्वर्गो लोकः।
   द्र० श० ब्रा० 8. 6. 1. 4, ता० ब्रा० 18. 2. 4 तथा तै० ब्रा० 2. 2. 3. 6 एवं 3. 9. 2. 2
4. श० ब्रा० 8. 4. 1. 25 — संवत्सरो वाव नाकः षट्त्रिंशस्तस्य चतुर्विंशतिरर्धमासा द्वादशमासास्तद्यत्तमाह नाक इति न हि तत्र गताय कस्मैचनाकं भवति।
5. श० ब्रा० 6. 7. 4. 11 — मध्ये ह संवत्सरस्य सुवर्गो लोकः।
6. तै० ब्रा० 10. 10. 4 — अग्निष्टोम उक्थ्योऽग्नि ऋतु प्रजापति इति……संवत्सरस्य नामधेयानि।
   द्र० वही 3. 9. 91 — ऋतवः संवत्सरः।
7. श० ब्रा० 3. 4. 4. 7 — त्रयो वा ऋतवः संवत्सरस्य।
8. श० ब्रा० 3. 1. 4. 20 — पंचर्तवः संवत्सरः।
9. वही 1. 2. 5. 12 — षड्वा ऋतवः संवत्सरस्य।
10. वही 6. 6. 1. 14 — सप्तर्तवः संवत्सरः।
11. श० ब्रा० 5. 4. 5. 23 — द्वादश ह वै त्रयोदश वा संवत्सरस्य महिमा।
    द्र० वही 3. 6. 4. 24
    द्र० कौ० ब्रा० 5. 8 — संवत्सरो यदेष त्रयोदशो मासस्तदत्रैव।

कल्प-सृजन—

यह कल्प अपने पाँच अवस्थाओं तथा अवान्तर अवस्थाओं से मिलकर निर्मित हुआ है। यह विभिन्न अवस्थाओं में विभाजित होकर अनेक कल्पों में परिवर्तित हो जाता है। अग्नि-सोम ही प्रमुख कल्प हैं, जिससे अन्य कल्पों की सृष्टि होती है। यह कल्प, ब्रह्म और प्राण का संयुक्तरूप है[1]। इससे स्पष्ट होता है कि कल्प के अन्तर्गत प्राणमयकोष का सम्पूर्ण क्षेत्र आ जाता है, जो ब्रह्म-प्राण के संयोग से निर्मित हुआ रहता है।

एक तरफ तो ये कल्प बृहतों से भिन्न हैं; जिनको शुद्ध-सृष्टि कहा गया है और दूसरी तरफ ये उषाओं से भिन्न हैं, जिनको अशुद्ध सृष्टि कहा जाता है। यह कल्पकाल निर्धारण में एक सहयोगी घटक है। स्वर के सामीप्य अर्थ में इस कल्प को जगती, त्रिष्टुप्, गायत्री तथा अनुष्टुप् आदि संज्ञाओं से भी जाना जाता है।

नक्षत्रसृजन—

सृष्टि-क्रम में मास, संवत्सर तथा अहोरात्रों के सृष्ट हो जाने के बाद अन्तरिक्ष तथा द्युस्थान में नक्षत्रों की भी सृष्टि हुई। विश्वसृष्टि की प्रक्रिया में नक्षत्रों के सृजन की कालगणना में सहजता के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान है। शतपथब्राह्मण के अनुसार बहुप्रजाकामी प्रजापति ने आदित्य तथा द्यु को मिथुन बनाया। इसके फलस्वरूप आण्ड की उत्पत्ति हुई। प्रजापति ने उस आण्ड का स्पर्श किया तथा उसे 'रेतस्' धारण करने को कहा। इसके फलस्वरूप चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई। तदनन्तर जो रेतस् अश्रुरूप में बहा, वही नक्षत्र बन गया[2]।

नक्षत्रों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में शतपथब्राह्मण के दसवें काण्ड का एक प्रकरण है, जिसमें कथित है कि एक बार प्रजाओं को उत्पन्न करते हुए प्रजापति को पापी मृत्यु ने निश्चितरूप से घेर लिया तथा प्रजापति ने उन पापियों को विनष्ट कर देने की इच्छा से घोर तप किया। उनकी यह तपश्चर्या सहस्र संवत्सर पर्यन्त चलती रही। प्रजापति के इस तप के अनन्तर ज्योतियाँ लोम-गर्तों से ऊपर को गयीं। इस प्रकार वे अग्नि-ज्योतियाँ ही नक्षत्र बन गयीं, तथा इन नक्षत्रों की संख्याएँ उतनी ही

---

1. श० ब्रा० 9. 3. 3. 12 — प्राणा वै कल्पाः प्राणानेवास्मिन्नेतद्धात्यायुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतामिति। एतानेवास्मिन्नेतत्कल्पान्प्राणान्दधाति।

2. वही 6. 1. 2. 4 — सोऽकामयत्। भूय एव स्यात् प्रजायेतेति स आदित्येन दिवं मिथुनं समभवत्। तत् आण्डं समवर्तत्....... एष वै रेतः। अथ यदश्रु संक्षरितमासीत्, तानि नक्षत्राण्यभवन्।

हुईं, जितने लोम-गर्त थे[1]। नक्षत्रों के सम्बन्ध में पितृ-मेध-निरूपण काण्ड में भी कहा गया है कि अन्त्येष्टिकर्म-रहित पितरों के लिए श्मशान्न को पितरों के अयुङ्ग वर्ष भर में धीरे-धीरे तैयार करना चाहिए। एक नक्षत्र में अथवा अमावस्या के दिन भर में उसे तैयार करें, क्योंकि एक नक्षत्र पितरों का है तथा अमावस्या एक नक्षत्र है[2]। इस प्रकार श्मशान्न वनानेवाले यजमान को समस्त नक्षत्रों के फल की प्राप्ति हो जाती है।

नक्षत्रों की संख्या—

नक्षत्रों के सृष्टि-वर्णन में ही लोम-गर्तों की संख्या के बराबर नक्षत्रों की संख्या बता दी गयी है। मुख्यतः सत्ताइस नक्षत्र तथा सत्ताइस ही उपनक्षत्र होते हैं[3]। शतपथब्राह्मण के अनुसार एक संवत्सर में 10,800 (दस हजार आठ सौ) मुहूर्त होते हैं। जितने मुहूर्त हैं, उनके पन्द्रह गुने क्षिप्र हैं, तथा जितने क्षिप्र हैं, उनके पन्द्रह गुने सत्तार्ह होते हैं। इस प्रकार सत्तार्ह के पन्द्रह गुने इद तथा इद के पन्द्रह गुने प्राण होते हैं। उपर्युक्त लोम-गर्त इन प्राणों की संख्या के बराबर होते हैं। इन्हीं लोमगर्तों के समान संख्या में श्वेदायन तथा स्तोक (बूंदे) हैं, जो बरसती हैं। इस प्रकार सहस्र संवत्सर में कुल एक करोड़ आठ लाख मुहूर्त होते हैं। चूंकि, इतने ही लोम-गर्त होते हैं, अतः इतने ही नक्षत्र भी होंगे[4]।

---

1. श० ब्रा० 10. 4. 4. 1-2 — प्रजापतिर्वै प्रजाः सृजमानं पाप्मा मृत्युरभिपरिजघान। स सपोऽतप्यत। सहस्रं संवत्सरान् पाप्मानं विजिहासन्। तस्य तपस्तेपानस्य एभ्यो लोमगर्तेभ्य ऊर्ध्वानि ज्योतींष्यान्ने तद्यानि, तानि ज्योतींषि एतानि तानि नक्षत्राणि यावन्त्येतानि। नक्षत्राणि तावन्तो लोमगर्ताः।

2. वही 13. 8. 1. 3 — अयुङ्गेषु संवत्सरेषु कुर्यात् अयुङ्ग हि पितृणामेकनक्षत्रं एकनक्षत्रं हि पितृणाममावास्यायामवावास्या वा एकनक्षत्रं हि यद्देवतां रात्रि सर्वाणि भूतानि संवसन्ति।

3. श० ब्रा० 10. 5. 4. 5 — तानि वा एतानि सप्तविंशतिनक्षाणि···सप्तविंशतिः होपनक्षत्राणि। एकैकं नक्षत्रं अनूपतिष्ठन्ते।

4. वही 12. 3. 2. 5 — दश च वै सहस्राण्यष्टौ च शतानि संवत्सरस्य मुहूर्ता। यावन्तो मुहूर्तस्तावन्ति पञ्चदशकृत्वः क्षिप्राणि··· यावन्तः प्राणाः तावन्तोक्तना यावन्तोक्तनास्तावन्तो निमेषा, यावन्तो निमेषास्तावन्तो लोमगर्ताः यावन्तो लोमगर्तास्तावन्ति श्वेदायनानि यावन्ति स्वेदायनानि तावन्त एते स्तोका वर्षन्ति।

तैत्तिरीयब्राह्मण में देवता तक को नक्षत्रों में गिना गया है, जिसके साथ यम भी सम्मिलित हैं। कृत्तिका नक्षत्र से विशाखा नक्षत्र तक देव-नक्षत्र हैं तथा अनुराधा से अपभरणी तक यम-नक्षत्र हैं[1]। देव-नक्षत्र दक्षिण से होते हुए देवलोक का चक्कर लगाते हैं तथा यम-नक्षत्र उत्तर दिशा की तरफ से यमलोक की परिक्रमा करते हैं[2]। किन्तु इन नक्षत्रों में कृत्तिका नक्षत्र की गति कुछ भिन्न है, जिसका वर्णन शतपथ-ब्राह्मण में उपलब्ध होता है कि यह कृत्तिका नक्षत्र प्राची दिशा की ओर नहीं चलता है; जब कि अन्य समस्त नक्षत्र प्राची दिशा की ओर से ही खिसकते हैं[3]। ब्राह्मणग्रन्थों में कहा गया है कि अग्नियों का आधान कृत्तिका नक्षत्र में ही करना चाहिए, क्योंकि जो इस अग्नि के नक्षत्र में ऐसा करता है, वह सलोमता स्थापित करता है[4]। सृष्टि-प्रक्रिया में इसके अतिरिक्त कुछ महत्त्वपूर्ण नक्षत्रों का भी परिचय कराना युक्ति-सङ्गत होगा।

रोहिणी-नक्षत्र में अग्नि का आधान करना चाहिए; क्योंकि इस नक्षत्र में ही प्रजापति ने प्रजा-कामना से प्रेरित होकर इस अग्नि का आधान किया था, तदनन्तर प्रजाओं का सृजन कार्य भी[5]। वैशाख की अमावास्या में भी अग्नि का आधान किया जा सकता है, क्योंकि वह रोहिणी नक्षत्र का होता है। आत्मा, प्रजा तथा पशु ये सब रोहिणी ही होते हैं[6]।

---

1. तै० ब्रा० 1. 5. 2. 6-7 — देव नक्षत्राणि वा अन्यानि। यमनक्षत्राणि वा अन्यानि। कृत्तिकाः प्रथमम्। विशाखा उत्तमम्। तानि देवनक्षत्राणि। अनुराधाः प्रथमम्। अपभरणीरुत्तमम्, तानि यमनक्षत्राणि।
2. तै० ब्रा० 1. 5. 2-7 — यानि देवनक्षत्राणि, तानि दक्षिणेन परियन्ति, यानि यमनक्षत्राणि तान्युत्तरेण।
   द्र० ष० वि० ब्रा० 3. 1 — नक्षत्राणां वा एषा दिग् यदुदीचीः।
3. श० ब्रा० 2. 2. 2. 3 — एता (कृत्तिकाः) ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते। सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते।
4. वही 2. 1. 2. 1 — कृत्तिकास्वाग्नोऽआदधीत। एता वाऽअग्निनक्षत्रं यत् कृत्तिकास्तद्वै सलोमयोऽग्निनक्षत्रऽग्नो आदधातै तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत।
5. श० ब्रा० 2. 1. 2. 6 — रोहिण्यामग्नी आदधीत रोहिण्यां ह वै प्रजापतिः प्रजाकामोऽग्नी आदधे, स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजा सृष्टा एकरूपा अपस्तब्धाः।
6. वही 11. 1- 1. 7 — यासौ वैशाखस्यामावस्या तस्यामादधीत सा रोहिण्या सम्पद्यत आत्मा वै प्रजा पशवो रोहिण्यात्मन्ये वै तत्प्रजायां पशुषु प्रतितिष्ठत्यमावास्या वा अन्य-ब्राधेयरूपम्।

अन्तरिक्षस्थ पशुओं के प्रसंग में नक्षत्रों को पशुओं के साथ सम्बन्धित किया गया है। तैत्तिरीय-ब्राह्मण के अनुसार एक बार प्रजापति ने पशुओं को उत्पन्न किया तथा उत्पन्न पशु-नक्षत्रों के प्रति आकर्षित होने लगे; किन्तु वृद्धि को न प्राप्त कर उतने ही बने रहे, जितने थे। इस प्रकार जो रेवती नक्षत्र के प्रति आकर्षित हुए, वे उसी में समाहित हो गये[1]।

ये नक्षत्र भी दीप्तिमान् होते हैं; जैसा कि शतपथब्राह्मण में कहा गया है कि प्राण से अग्नि, अग्नि से वायु, वायु से आदित्य, आदित्य से चन्द्रमा तथा चन्द्रमा से नक्षत्र इस पृथिवी तथा द्युलोक में दीप्त होते रहते हैं[2]। ठीक इसी तथ्य का संकेत ऋग्वेद में भी उपलब्ध होता है कि मरुत् प्रियतम पुरुषाकार रत्नों से युक्त होकर अन्तरिक्ष से स्पष्टरूप से उसी प्रकार दिखाई देते हैं, जिस प्रकार कई चन्द्ररश्मियाँ नक्षत्रों से सम्बन्धित दिखाई देती हैं[3]।

तारकगण—

जैसा कि नक्षत्रों के प्रसंग में उनके एक करोड़ आठ लाख होने की बात कही गयी है, वह अत्युचित नहीं है। निश्चय ही उस कथन का सम्बन्ध तारकगणों से होगा। इन तारकगणों के जन्म का वर्णन तैत्तिरीयब्राह्मण में उपलब्ध होता है कि द्यावा-पृथिवी के मध्य में सलिलरूप जो आपः था, उसमें पृथिवी के उद्धरण के क्षोभ से बुद्-बुदे उत्पन्न होकर तैरने लगे, उन्होंने ही ताराओं का स्वरूप ग्रहण कर लिया[4]।

वर्षासृजन—

विश्व-सृष्टि-प्रक्रिया में वर्षा की सृष्टि का महत्त्वपूर्ण स्थान है; क्योंकि वर्षा ही जीवन का मूलाधार है[5]। शतपथब्राह्मण में प्रजापति ने वाणी के सहयोग से जल का

---

1. तै० ब्रा० 1. 6. 2. 1 — प्रजापतिः पशून् असृजत। ते नक्षत्रं नक्षत्रम् उपतिष्ठन्त ते समावन्त एवाभवन्. ते रेवतीम् उपातिष्ठन्त ते रेवत्यां प्राभवन्।
2. श० ब्रा० 10. 6. 2. 11 — प्राणेन वा अग्निर्दीप्यते अग्निना वायुः वायुनादित्यः आदित्येन चन्द्रमाः, चन्द्रमसा नक्षत्राणि, नक्षत्रैः विद्युतः, एतावती वै दीप्तिरस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च।
3. ऋ० सं० 1. 87. 1 — जुष्टतामासो नृतमासो अञ्जिभिर्व्यानग्रे केचित् उस्रा इव स्तृभिः।
4. तै० ब्रा० 1. 5. 2. 5 — सलिलं वा इदमन्तरासीत् यदतरन्तस्तारकाणां तारकत्वम्।
5. अ० वे० 3. 31. 11 — …वृष्ट्योदस्थामामृता वयम्।

सृजन किया था[1]। इसी ग्रन्थ के एक स्थल पर कथित है कि अग्नि से धुआँ उत्पन्न हुआ, धुएँ से मेघ तथा मेघ से वृष्टि की उत्पत्ति हुई[2]। वर्षा के सृजन के सन्दर्भ में गर्भाधान-प्रक्रिया की भी उपमा दी गयी है, जैसे शतपथब्राह्मण के विज्ञानभाष्य में कहा गया है कि भूपृष्ठ पर व्याप्त आपः मात्रा वाष्प के रूप में परिणत होकर द्युलोक की ओर जाते हुए अंगिरास्वरूप अग्नि के साथ गर्भ में प्रतिष्ठित हो जाती है। अग्निः गमन के साथ ही साथ वाष्परूप में परिणत पार्थिव जल मात्रा भी अन्तरिक्ष में चली जाती है, तब अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित मरुत् नामक वायुविशेष के धरातल पर वह जलमात्रा गर्भीभूत हो जाती है। यही पार्थिव जल का गर्भधारण है। जबतक सौर रश्मियाँ तीव्र नहीं बन जातीं, तब तक वह पार्थिव जलमात्रा उसी वायुगर्भ में प्रतिष्ठित रहती है और निदाघावसान-काल में सौर रश्मियों के निम्नगामिता के साथ युक्त होकर वर्षा का रूप धारण कर लेती है[3]।

इस प्रकार पृथिवी के अंगिरा नामक अग्नि द्वारा मरुत के धरातल पर स्थित वारि-समूह ही समयचक्र के अन्तराल में पृथिवी पर वर्षा के रूप में गिर जाता है। दूसरे शब्दों में पृथिवीगत जल ही द्युलोक में जाकर वृष्टि का कारण बनता है। वृष्टि केवल भू-पिण्ड पर ही नहीं होती है; किन्तु द्युलोक पर भी होती है। दोनों वृष्टि में अन्तर मात्र इतना ही रहता है कि द्युलोक में पृथिवीगत अंगिरा (अग्नि) वृष्टि के प्रवर्तक हैं तथा भूलोक में आन्तरिक्षीय पर्जन्य वृष्टि के प्रवर्तक हैं। अर्थात् पृथिवी लोक से अन्तरिक्ष में गया हुआ जल पर्जन्य द्वारा बरसता है तथा द्युलोक से पृथिवी पर जल अग्नि द्वारा बरसता है[4]।

मनु संहिता तो बतलाती है कि द्विजातियों का यज्ञ-क्रम ही वृष्टि का मूलाधार है, जो सृष्टि का भी कारण है। आहवनीय अग्नि में यथाविधि जो आहुति दी जाती है,

---

1. श० ब्रा० 6. 1. 1. 9 — सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकाद् वागेवास्य सा सृज्यत।'
2. वही 5. 3. 5. 17 — अग्निर्वै धूमो जायते। धूमाद् अभ्रम्, अभ्राद् वृष्टिः।
   द्र० छा० 305. 1०. 5 — आकाशाद् वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति, अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति।
3. श० ब्रा० हिन्दी वि० भा० भाग दो पृष्ठ 1439।
4. निरुक्त 7. 24 — अग्निर्वा इतो वृष्टिं समीरयति धामच्छददिवि (खलु वै) भूत्वा वर्षति मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति।
   द्र० तै० सं० 4. 10. 2 — अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति मरुतः सृष्टां नयन्ति।
   द्र० का० सं० 11. 11 — पर्य्यावर्त्तते अथ वर्षति।

वह द्युलोकस्थ आदित्य को प्राप्त हो जाती है, जिसके प्रतिफल में आहुतिग्राहक सूर्य वृष्टि करते हैं। इसके फलस्वरूप प्रजाओं के मूलाधार अन्न की सृष्टि होती है[1]।

कहीं-कहीं पर तो अक्षर को ही वृष्टि का मूलाधार मानकर उसका वर्णन किया गया है कि अक्षर से क्षर ब्रह्म का विकास होता है तथा इसी क्रम में कर्म, यज्ञ तथा पर्जन्य की उत्पत्ति होती है। यह पर्जन्य ही वृष्टि का जनयिता है, जिसके द्वारा जीव-सृष्टि होती है[2]। वर्षा के पहले जो पुरोवात (पुरवाई हवा) चलती है, उसे भी पर्जन्य कहते हैं[3]। इस पर्जन्य को क्रन्दन करनेवाला भी कहा गया है[4]। शतपथब्राह्मण में यही पर्जन्य 'भव' कहलाता है[5]।

वृष्टि-उत्पादन के निमित्तकारण अनेक हैं, जैसे पार्थिव सत्याग्नि, आन्तरिक्षीय सत्य-वायु, पर्जन्य, ऋत-वायु, सोम, सूर्यरश्मियाँ, पूर्ववात, अभ्र, विद्युत् तथा स्तनयित्नु आदि इन्हीं समस्त कारणों के समन्वय से वर्षा का सृजन होता है[6]।

अब इनमें से कुछ कारणों के कृत्यों पर प्रकाश अपेक्षित है। पार्थिव सत्य अग्नि, पार्थिव जल समूह को वाष्पन-क्रिया के रूप में परिणत कर ऊपर को ले जाता है, जो वर्षा का रूप धारण कर लेता है[7]। दूसरे शब्दों में पृथिवी की कक्षा से गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र तक अग्नि पार्थिव जलों को ले जाता है। इस क्रिया में अन्ततः वह वाष्प वायु बन जाता है, क्योंकि वह पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से विमुक्त हो जाता है। इस प्रकार वह वाष्प वायु जल-मात्रा के ऊर्ध्वगमन का प्रेरक होता है। सूर्यरश्मियाँ भी पार्थिव

---

1. मनु० सं० 3. 76 — अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा।
   द्र० तै० सं० 3. 3. 4
2. गीता 3. 14-15 — अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः। यज्ञाद्-भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥...तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥
3. श० ब्रा० 6. 7. 3. 2 — परोवायु र्हि पर्जन्यः।
4. श० ब्रा० 6. 7. 3. 2 — क्रन्दतीव हि पर्जन्यस्तनयन्क्षामाः।
5. श० ब्रा० 6. 1. 3. 15 — पर्जन्यो वै भवः, पर्जन्याद्धीदं सर्वं भवति।
   द्र० तै० सं० 2. 4. 10 — अहोरात्राभ्यां खलु वै पर्जन्यो वर्षति।
6. श० ब्रा० 1. 5. 2. 18 — पुरोवातं समृजिरे।
   द्र० वही 5. 3. 5. 17 — अभ्राद् वृष्टिः।
   द्र० तै० सं० 2. 4. 10 — अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति।
7. निरुक्त 3. 16 — अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षाकर्म जायते।

वृष्टि-तत्त्वों का निरन्तर आदान किया करती हैं, जो उस वृष्टि के उत्पादन में महत्त्व-पूर्ण होता है[1]।

इस प्रकार पृथिवीगत जल-मात्राओं के ऊर्ध्वंगमन, स्थिति तथा वर्षा इन अधिकरणों को गर्भाधान, गर्भस्थिति तथा प्रसव द्वारा भी उपमित किया जाता है। इस स्थिति को संवत्सर के ऋतुओं में इस प्रकार विभाजित किया गया है कि चतुर्मासात्मक शीतऋतु गर्भाधान की स्थिति है, चतुर्मासात्मक ग्रीष्मऋतु गर्भस्थिरता का काल है तथा चतुर्मासात्मक वर्षा ऋतु प्रसव-काल है। अर्थात् मार्गशीर्ष से फाल्गुन मास तक पार्थिव जलमात्रा का द्युलोक में गर्भाधान होता है; चैत्र मास से आषाढ़ पर्यन्त उस गर्भ का पोषण होता है तथा श्रावण मास से आरम्भ होकर कार्तिक मास तक उस वर्षा का प्रसव होता रहता है[2]।

इस भू-प्रदेश पर से जिस दिन जलमात्रा सूर्यरश्मि, वायु एवं अग्नि के संयोग से उत्पन्न होती है, उस दिन से आरम्भ होकर ठीक छः मास पन्द्रह दिन (कुल 195 दिन) पर्यन्त वह जलमात्रा द्युलोक में प्रतिष्ठित रहती है। तदुपरान्त एक सौ छियानवे दिन उस जल का प्रसव हो जाता है। अर्थात् वर्षा होने लगती है। सम्भवतः इसीलिए गर्भस्थितिकाल को 'सप्तार्द्धगर्भा' भी कहा गया है। सप्तार्द्धगर्भा का अर्थ छः मास तथा सातवें मास का आधा (१५ दिन) होता है। इस प्रकार वर्षा-सृष्टि का एक अन्य रहस्य भी ज्ञातव्य होगा कि जिस दिन पूर्व दिशा में गर्भाधान होता है, उस दिन से पूर्ण गर्भकालोपरान्त मेघ पश्चिम दिशा में बरसते हैं। यदि गर्भाधान पश्चिम दिशा में होगा तब वर्षा पूर्व दिशा में होगी। इसी तरह चारों दिशाओं के सम्बन्ध में भी नियम हैं। इस प्रकार गर्भाधान-अनुगता-दिशा एवं काल के सर्वथा विपरीत दिशा और काल में वृष्टि का गर्भ एवं प्रसव ध्रुव है[3]।

ओला—

शतपथब्राह्मण-विज्ञानभाष्य के अनुसार यह ओला कुछ नहीं है, यह उक्त गर्भ के ही गर्भनिरोध की स्थिति मात्र है। सूर्य एवं चन्द्रमा के मध्य शनि तथा मंगल ग्रह के आ जाने से वृष्टि का गर्भपात न होकर गर्भ निरोध हो जाय तब कालान्तर में वहीं जमा हुआ पानी ओले का स्वरूप धारण कर लेता है।

शतपथब्राह्मण में वर्षा की सृष्टि को यज्ञ से सम्बन्धित किया गया है, यथा प्रजापति स्वरूप यज्ञ में 'ओं श्रावय' इस व्याहृति से देवता पुरीकत (पूर्व की वायु) को संचालित करते हैं 'अस्तु वौषट्' इस व्याहृति से बादलों को लाते हैं, 'यज्' इस

---

1. तै० सं० 3. 3. 4 — सूर्यस्य रश्मयो वृष्टया ईशतेऽह्न एव रूपेव। सूर्यस्य रश्मिभिर्दिवो वृष्टिं च्यावयति।
   द्र० मनु सं० 3. 76 — आदित्याज्जायते वृष्टिः।
2. श० ब्रा० विज्ञानभाष्य (हिन्दी) भाग 2, पृष्ठ–1456।
3. द्र० वही पृष्ठ–1457।

व्याहृति से विद्युत् का आनयन करते हैं, 'ये यजामहे' इस व्याहृति से स्तनयित्नु (गरज) को उत्पन्न करते हैं तथा 'वौषट्' इस व्याहृति से वृष्टि का सृजन करते हैं[1]।

अब वर्षा की इच्छा करनेवाले याज्ञिक को दर्शपूर्णमास यज्ञ में—"मैं वृष्टि की कामना करता हूँ", ऐसा कहना चाहिए। यह याज्ञिक अध्वर्यु से कहे कि—'वायु एवं बिजली का मन से ध्यान करो'। अग्नीध्र से कहे कि 'तू अपने मन में बादलों का ध्यान कर', होता से कहे कि—'तू गर्जन और वर्षण का ध्यान कर' तथा ब्रह्मा से कहे कि —'तुम सबका ध्यान करो'। इस प्रकार जहाँ ऋत्विक् एक दूसरे को समझकर यज्ञ करते हैं, वहाँ अवश्य वर्षा होती है[2]।

तैत्तिरीयब्राह्मण में बतलाया गया है कि अंगरिसों ने द्युलोक में वृष्टि को उत्पन्न किया[3]।

नदी-समुद्रादि-सृजन—

इस पृथिवी पर वृष्टि की सृष्टि होने के साथ ही साथ नदियों का भी सृजन हुआ। नदी-सृजन के दो कारण हो सकते हैं, प्रथम तो यह कि जल का जो भाग हिम होकर पर्वत के उच्चशिखर पर स्थित हो जाते हैं तथा सूर्य के ताप से वे पिघल कर पुनः जल का रूप धारण कर पर्वत के उच्चशिखरों से अपने तीव्रवेग से पाषाण खण्डों का भेदन करते हुए निम्नगामी होकर मैदानी भाग में विस्तार को प्राप्तकर नदी का रूप धारण कर लिये हों, तथा द्वितीय यह कि वर्षा की अतिशयता से भूमि का कटावकर जल ने अपना मार्ग बना लिया हो। जैमिनीयब्राह्मण में प्रजापति को ही नदी का स्रष्टा बताया गया है[4]। नदियों का गन्तव्य समुद्र होता है। इन को भी प्रजापति ने ही सृष्ट किया था। तैत्तिरीयब्राह्मण में तो प्रजापति को ही समुद्र बना दिया गया है[5]। अथर्ववेद में कहा गया है कि जल, समुद्रों से ऊपर द्युस्थान में स्थित सूर्य तक जाते हैं तथा सूर्य उस जल को पृथिवी पर बरसा कर देते हैं[6]।

गोपथब्राह्मण के अनुसार सृष्टि के इच्छुक ब्रह्म का वीर्य गिरा, जो दो भागों में बँट गया। इस प्रकार जो प्रथम रेतस् था, वह अशान्त हुआ। यह अत्यन्त लवणयुक्त था, इसीलिए उससे अपेय तथा स्वादरहित समुद्र की उत्पत्ति हुई[7]।

---

1. श० ब्रा० 1. 5. 2. 18
2. श० ब्रा० 1. 5. 2. 19 — स यदि वृष्टिकामः स्यात्……ब्रूयाद् वृष्टिकामो वा अस्मीति……वर्षति हैव तत्र यत्रैवमृत्विजः संविदाना यज्ञेन चरन्ति।
3. तै० ब्रा० 2. 1. 1. 1 — अङ्गिरसो वै सत्रमासत…ते दिवो वृष्टिमसृजन्त।
4. जै० ब्रा० 3. 345 — …अन्तरेण नदीरसृजत ते तस्य पाप्मनोऽनन्वागमाय।
5. तै० ब्रा० 2. 2. 9. 3 — स समुद्रोऽभवत्।
   द्र० जै० उ० ब्रा० 15. 2 — ततस्समुद्रमसृजत।
6. अ० वे० 4. 27. 4 — अपः समुद्राद् दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीम् अभि ये सृजन्ति।
7. गो० ब्रा० पू० 1. 3 — स्वयं रेतोऽस्कन्दत्तपःसु प्रत्यतिष्ठत्…साद्धंमेव रेतसा द्वेधमभवंस्तासामन्यो अन्यतरा अतिलवणा अपेया अस्वाद् व्यस्ता अशान्ता रेतः समुद्रम्।……।

अन्नादि-सृजन —

पृथिवी पर वर्षा के सृजन की व्यवस्था अन्नादि उत्पादन के लिए ही की गयी थी, क्योंकि यही अन्न मानवी एवं अधम जीवों की सृष्टि का मूल आधार है। इस बात का संकेत वृष्टिवर्णन में किया जा चुका है। अन्न के सृजन का यज्ञों की भूमिका में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अन्न का उत्पादन किये बिना देवता यज्ञों की सम्पादन कर ही नहीं सकते। सम्भवतः इसीलिए शतपथब्राह्मण में जौ बोने की बात कही गयी है कि दर्शपौर्णमास यज्ञ के निरूपण में याज्ञिक गड्ढा बनाता है तथा उसमें यूप (काष्ठखम्भ) को स्थापित करता है। इसी क्रम में वह धान्यहेतु जौ का वपन करता है[1]। यही अन्न जब पृथिवी में बो दिया जाता है, तब ये वनस्पतियों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। ये अन्न वन्य तथा कृष्य दो प्रकार के होते हैं। वन्य अन्न अपने आप उगते हैं जबकि कृष्य अन्न को गृहस्थ लोग हल की सीता से जमीन को जोत (कृष्य) कर बोते हैं।

विभिन्न प्रकार के अन्नों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शतपथब्राह्मण में एक रोचक मिथक उपलब्ध होता है कि इन्द्र ने जब त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को मार डाला, तब त्वष्टा ने अपने पुत्र के मरने पर इन्द्र का अभिचरण कर दिया। इसके लिए वह सोम को लाया, जिसमें इन्द्र का भाग नहीं था; किन्तु इन्द्र ने बलात् उस सोम का पान कर यज्ञ को अपवित्र कर दिया। तदनन्तर वह सभी दिशाओं में घूमा तथा उसके अंग-अंग से उसका इन्द्रत्व (वीर्य) बह गया। उसके पलकों से जो रस (वीर्य) बहा, उससे गेहूँ उत्पन्न हुआ। उसके आँसुओं से जो वीर्य बहा, उससे कुवल (फल), फेन से जौ तथा थूक से कर्कन्धु (फल) हो गये।

इसी प्रकार उसके रोंगटो से जो चित्त बहा उससे बाजरा हुआ। उसकी त्वचा से जो अपचिति बही, वही अश्वत्थ वृक्ष बन गया। उसके मांसों से जो ऊर्ज बहे, उसी से उदुम्बर (गूलर) की उत्पत्ति हो गयी। उसकी हड्डियों से स्वधा बही, जो न्यग्रोध (नीचे की ओर बढ़ने वाला वटवृक्ष) हो गयी तथा उसकी मज्जाओं से सोम का रस बहा, जिससे व्रीहि (चावल) हुआ। इस प्रकार उसके शरीरांगों से उसका पराक्रमस्वरूप वीर्य एकदम निकल कर उपर्युक्त वस्तुओं के सृजन का कारण बन गया[2]।

शतपथब्राह्मण के अनुसार देवताओं ने यज्ञ में समस्त औषधियों का वपन किया तथा कहा कि अन्न को ही चिति द्वारा देखेंगे। इस प्रकार उस चिति में अन्न को ही रखते हैं, जो सर्वौषधि हो गया। वह कृषि-कार्य द्वारा भी अन्न-वपन करते हैं, जो

1. श० ब्रा० 3. 7. 1. 4. स यवानावपति। द्र० वही 7. 2. 2. 5 कृते योनौ वपते ह बीजम् ; इति बीजाय वा एषा यो निष्क्रियते यत्सीता यथा ह वा अयोनौ रेतः सिञ्चदेव तद् यद् कृष्टे वपति।

2. श० ब्रा० 12. 7. 1. 1-91 10

बारह महीनों में पक कर तैयार होते हैं। यहाँ अन्न का वपन याज्ञिक ऋचाओं के विभिन्न संख्याओं द्वारा किया गया है[1]।

व्रीहि की उत्पत्ति के सन्दर्भ में ऐतरेयब्राह्मण का भी एक रोचक मिथक उपलब्ध होता है, जिसमें कहा गया है कि देवताओं ने यज्ञ के लिए पुरुष को प्राप्त किया अथवा आलम्भन किया, किन्तु उसका याज्ञिक मेध उससे निकलकर घोड़े में प्रविष्ट हो गया। पुनः घोड़े का भी वध किया गया, फिर भी असफलता ही हाथ लगी और वह मेध अब गाय में प्रवेश कर गया। इसी प्रक्रिया द्वारा वह मेध क्रमशः भेड़िये तथा बकरी में चला गया। अन्ततः वह मेध बकरी में काफी दिनों तक रहा। सम्भवतः इसी लिए बकरी को आज भी बलि के योग्य माना जाता है। देवताओं ने उस बकरी का भी वध कर दिया, तब वह उस बकरी से निकलकर पृथिवी में प्रवेश कर गया। तदनन्तर मेध्य पृथिवी को देवताओं ने घेर लिया, जिसके फलस्वरूप वह मेधांश व्रीहि के रूप में उत्पन्न हो गया[2]।

शतपथब्राह्मण के एक सुराक्रय-प्रकरण में कुछ वन्य तथा कुछ खाद्य अन्नों का नाम आया है। कथित भी है कि गेहूँ, कुवल, इन्द्र, बेर, जौ, कर्कन्धु, शष्प और जई गाँव में तथा वन्य अन्नों में व्रीहि, नीवार और बाजरा होते हैं[3]।

यजुर्वेद में व्रीहि, प्रियंगु, यव, माष, तिल, श्यामा, नीवार, गेहूँ तथा मसूर आदि अन्नों का वर्णन यज्ञ के सन्दर्भ में किया गया है[4]।

अन्न को ब्रह्म भी कहा गया है, किन्तु ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि अन्न प्राण के बिना सड़ जाता है। कुछ आचार्य प्राण को ही ब्रह्म कहते हैं; किन्तु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि प्राण भी तो अन्न के बिना सूख जाता है[5]।

इस प्रकार विशाल पार्थिव एवं अन्तरिक्ष-सृष्टि का साङ्गोपाङ्ग विवेचन सम्पन्न हुआ।

---

1. श० ब्रा० 7. 2. 4. 13-25 — अथ सर्वौषधं वपति। ए तद्वै ·· ···तदकुर्वंस्ते चेतयमाना अन्नमेव चितिमपश्यस्तामस्मिन्नदधुः······ सर्वमेव सदन्नं यत्सर्वौषधं, सर्वमेवास्मिन्नेतदन्नं दधाति·····।
2. द्र० ऐ० ब्रा० 6. 81
3. श० ब्रा० 12. 7. 2. 6-9 — व्रीहयश्च श्यामाकाश्च भवन्ति। गोधूमाश्च कुवलानि चोपवाकाश्च बदराणि च यवाश्च कर्कन्धूनि शष्पाणि च तोक्मानि चोभयमेव ग्राम्यं चान्नमारण्यं।···।
4. यजु० सं० 18. 12 — व्रीहयश्च यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।
5. श० ब्रा० 14. 8. 13. 1 — अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुः तन्न यथा पूयति वाऽअन्नमृते प्राणात्प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न यथा शुष्यति वै प्राणऽऋतेऽन्नादेते ह त्वेव······।

तृतीय परिच्छेद

वेदात्मिका पराविद्या एवं देवासुर-सृजन

वेदात्मिका पराविद्या एवं देवासुर-सृजन

१. त्रयीविद्या ॐकार तथा भूर्भुवः-सृजन –

वेदात्मिका पराविद्या की सृष्टि-प्रक्रिया में सर्वप्रथम त्रयी विद्यापर विचार करना आवश्यक होगा। ब्राह्मण-ग्रन्थों सहित समस्त वैदिक वाङ्मय में प्रतिष्ठित 'ॐकार' अथवा 'प्रणव' शब्द एक ही अक्षर है, जिसमें अनादि काल से लेकर अब तक की हुई समस्त-ज्ञान-साधना की अभिव्यक्ति का सामर्थ्य है। अक्षर ब्रह्म कहलाने का गौरव इसी 'ॐकार' को प्राप्त है[1]। ब्राह्मणग्रन्थों के सृष्टि-प्रकरण में इस अक्षर की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

सर्वप्रथम इस अक्षर की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनुशीलन किया जायेगा, जहाँ वर्णित है कि पृथिवी के विशाल सृष्टि-वर्णन में फेन, मृद् तथा सिकता आदि की सृष्टि हो जाने के बाद जो भाग क्षरित हुआ वही अक्षर होकर अष्टाक्षरा गायत्री नामक छन्द बन गया[2]। जैमिनीयब्राह्मण में कहा गया है कि सृष्टि के आदि में स्थित एकमात्र प्रजापति के बहु प्रजा होने की कामना के अनन्तर अट्ठारह अक्षर सृष्ट हुए[3]। ये ही अक्षर त्रिवृत् स्तोम तथा गायत्र्यादि छन्द हुए। इसमें गायत्री छन्दवाला प्रथम अक्षर नवाँ था, जो प्रणव कहलाया।

इस ओंकार की संरचना में आ, उ तथा म् ये तीन अक्षर विद्यमान रहते हैं[4]। इन तीन अक्षरों के बाद वैदिकसाहित्य में एक अन्य प्रकार के 'अकार' की भी कल्पना की गयी है[5]।

ॐकार की अकारादि तीन मात्राओं को वैदिक ग्रन्थों में तीन वेद (ऋक्, यजुः तथा साम), तीन लोक (भूः लोक, भुवः लोक एवं स्वःलोक) तथा तीन अग्नियों (गार्हपत्य, आहवनीय तथा आदित्य) का समष्टिरूप कहा गया है। प्रायः यही बात पुराणों में भी कथित है[6]। ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार प्रजापति ने तीन लोकों का निर्माण

1. ब्र० वि० उप० 2 — ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म तदुक्तं ब्रह्मवादिभिः।
2. श० ब्रा० 6. 1. 3. 6 — तद् यदसृज्यताक्षरत् तद्यदक्षरत्। तस्मादक्षरं।
3. जै० ब्रा० 3. 321 — तद् उदीहत् स एव प्रणवोऽभवत्।
4. मा० उ० 8 — मात्राश्च अकार उकार मकार इति।
5. द्र० वही 12 — अमात्रश्चतुर्थी।
6. वा० पु० 20. 6 — ओमित्येतत्त्रयो देवास्त्रयो लोकास्त्रयोऽग्नयः।
   द्र० अ० पु० 259. 7 — मात्रात्रयं त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयोऽग्नयः।
   द्र० मा० पु० 23. 35-37 — एत एव त्रयो लोका एत एव त्रयो गुणाः।
   See History of Indian Phi. by S. K. Belvalkar Vol. 2 — 'Prajapati is said to have mediated upon the different worlds and from his mediation, sprang the three Vidyas R.C. Yajus and Sāman.'

किया था तथा इन्हीं तीनों से अग्नि, वायु एवं आदित्य का प्रादुर्भाव भी स्वीकार किया जाता है। प्रजापति की मानसिक भावना से ही सर्वप्रथम ऋक्, यजुष् तथा सामवेदों की उत्पत्ति हुई। यही त्रयी विद्या कहलायी। इसीलिए इसकी उत्पत्ति सर्वप्रथम मानी जाती है; क्योंकि बहुप्रजाओं की कामना से युक्त प्रजापति ने अपने श्रम एवं तप के फलस्वरूप त्रयीविद्या (यज्ञ) को उत्पन्न किया[1]। यह यज्ञ त्रयीविद्या का ही स्वरूप है। देवता लोग ऋक्, साम तथा यजुष्द्वारा ही यज्ञ की क्रियाओं को पूर्ण करते हैं[2]। यज्ञ भी त्रयी विद्या का अनुपूरक है। काण्वशाखीय शतपथब्राह्मण के अनुसार यह यज्ञ उतना ही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है, जितना कि त्रयीविद्या। त्रयीविद्या के ज्ञान से ही यज्ञ सम्पादित किये जाते हैं[3]। यज्ञ के अन्त में ऋक्, यजुः तथा साम के अर्थज्ञान से यजमान लक्ष्य की प्राप्ति करते हैं[4]।

गोपथब्राह्मण के अनुसार यह बतलाया गया है कि चारों वेद किस प्रकार यज्ञों से सम्बन्धित होते हैं। ऋग्वेद यज्ञ के शरीर का स्वरूप है तो यजुर्वेद यज्ञ के संचालन क्रिया का स्वरूप है। सामवेद यज्ञ के दीप्ति से सम्बन्धित होता है तथा अथर्ववेद जल से[5]। गोपथ-ब्राह्मण का ही एक अन्य स्थल भी इसी सम्बन्ध में उपलब्ध होता है कि

---

1. कौ० ब्रा० 6. 12	ओ३मित्येतावता प्रसूयात एतद्ध्वा एकमक्षरं त्रयीविद्यां प्रति प्रति तथा ह्यस्य त्रय्या विद्यया प्रसूतं भवति।
द्र० श० ब्रा० 6. 2. 3. 20	सैषा त्रयी विद्या प्रथमं जायते।
द्र० वही 1. 1. 4. 3	सैषा त्रयी विद्या यज्ञः।
See–History of Indian Lit. by M. Winternitz	After he hath tortured and mortified himself he created first the Brahman namely the three fold Knowledge. This was the founda ion for him.'
See–Brahmanic M. th. (M. B. K.)	"Prajapati......creats Brāhman Trayi-Vidyā First.
2. श० ब्रा० 3. 1. 1. 12	···ऋक्सामभ्यां वै यजुर्भिः यज्ञस्योदृचम् गच्छन्ति।
3. श० ब्रा० 5. 5. 5. 10	एतावान्वै सर्वो यज्ञो यावानेष त्रयो वेदास्तस्यैतद्रूपं क्रियतऽएष योनिराशयस्तदेतेन त्रयेण वेदेन पुनर्यज्ञमारभते।
4. श० ब्रा० 3. 1. 1. 12	यजुर्भिरित्यृक्सामाभ्यां वै यजुर्भिर्यज्ञस्योदृचं गच्छन्ति।
5. गो० ब्रा० 1. 2. 16	····चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेद (अथर्ववेद) इति, चतस्रो वा इमे होत्रा हौत्रमाध्वर्य्यंवमौद्‌गात्रं···· ।

यज्ञ कैसे चारों वेदों से योजित हुए[1]। शतपथब्राह्मण के अनुसार देवता सत्य का अनुगमन करते हैं तथा यह सत्य त्रयीविद्या से ही जाने जाते हैं। देवता लोग कहते हैं कि आओ! हम सब मिलकर यज्ञों का सम्पादन करें तथा इसके साथ ही साथ सत्य (त्रयीविद्या) का विस्तार भी[2]। इसी प्रकार जैमिनीयब्राह्मण में भी एक दृष्टान्त उपलब्ध होता है, जिसमें प्रजापति देवताओं को त्रयीविद्या द्वारा यज्ञ को विस्तृत करने का सन्देश देते हैं[3]।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक होगा कि अन्य सभी ब्राह्मणग्रन्थ केवल तीन ही वेदों की सत्ता बतलाते हैं, जब कि मात्र गोपथब्राह्मण अथर्ववेद के साथ चार वेदों की सत्ता निर्धारित करता है। शतपथब्राह्मण के एक स्थल पर देवताओं द्वारा यज्ञ के सन्दर्भ में कहा गया है कि उन्होंने सर्वप्रथम यजुष् द्वारा यज्ञ सम्पादित किया, तदनन्तर क्रमशः ऋक्[4] से तथा सामन् से। यहाँ मात्र तीन ही वेद बतलाये गये हैं, जो त्रयीविद्या हैं। नामरूप कर्म्मात्मक समस्त भूत, वेदत्रयी के गर्भ में ही प्रतिष्ठित रहते हैं[5]।

त्रयीविद्या की 'सत्ता' भाग का मर्त्यभाग ही नाम-रूप-कर्म्मात्मक 'भूत'-भाग है तथा मर्त्यभाग भी उसी का अंश है। यज्ञसृष्टि का एक महत्त्वपूर्ण आधार होता है। यहाँ तक कि प्रायः समस्त यज्ञसृष्टि से सम्बन्धित होते हैं।

प्रजापति के मुख से उत्पन्न होकर यह त्रयीविद्या ॐकार के सन्दर्भ में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है; जैसा कि ऊपर वर्णित भी है। इसी त्रयीविद्या के द्वारा हिरण्याण्ड का जन्म हुआ; क्योंकि इस विद्या की सृष्टि के बाद ही प्रजापति इस के साथ जल में प्रवेश कर गये थे, जिसके फलस्वरूप उपर्युक्त अण्डा सत्ता में आया तथा जिससे

---

1. गो० ब्रा० 1. 2. 24 — ऋग्विदमेव होतारं वृणीष्व, यजुर्विदमध्वर्युं, सामविदमुद्गातारम्....।

2. श० ब्रा० 9. 5. 1. 18 — तद् यत्तत्सत्यम् त्रयी सा विद्या ते देवा अब्रुवन् यज्ञं कृत्वेदं सत्यं तनवामहा इति।

3. जै० ब्रा० 1. 358 — स वै खलु प्रजापतिर्यज्ञं सृष्ट्वोर्ध्वमुदक्रामत्, स देवान् अब्रवीद् एतेन यूयं त्रयेण वेदेन यज्ञं तनुध्वम् इति।

4. श० ब्रा० 4. 6. 7. 13 — अग्रे यज्ञं तेनिरेऽथऽर्चाथ साम्ना तदिदमप्येतर्हि यजुषैवाग्रे यज्ञं तन्वतेऽथऽर्चाथ साम्ना यज्ञो ह वै नामैतद् यद्यजुः इति।

द्र० वही 5. 5. 5. 5

5. श० ब्रा० 10. 4. 2. 21-22 — स त्रय्यामेव विद्यायां सर्वाणि भूतानि अपश्यत्...... एतद् वा अस्ति......त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि हन्त...।

सृष्टि का विकास हुआ[1]। चूँकि अण्डा उस त्रयीविद्या का था, अत एव वह त्रयीविद्या ब्रह्माण्ड नाम से जानी जाने लगी। कहीं-कहीं सूर्य को त्रयीविद्या का स्वरूप कहा गया है। रश्मियों के प्रभव-स्थान होने के कारण सूर्य-मण्डल को उक्थ कहते हैं। शतपथ-ब्राह्मण में कहा भी गया है कि वह त्रयीविद्या ही (सूर्य के रूप में) तप रही है[2]। इस प्रकार इस त्रयीविद्या के अनन्तर मुख्यतः तीन व्याहृतियों (भूर्भुवः स्वः) की भी उत्पत्ति का वर्णन प्राप्त होता है, जिसका अकार, उकार तथा मकार द्वारा प्रतिनिधित्व किया गया है। वेदत्रयी से उद्भूत यह ओंकारस्वरूप अक्षर उपर्युक्त व्याहृतियों से अभिन्न है[3]।

ऐतरेयब्राह्मण में एक पुराकथा उपलब्ध होती है,[4] जिसमें कथित है कि बहुप्रजाकामी प्रजापति के तप एवं श्रम के फलस्वरूप पृथिवी अन्तरिक्ष एवं द्यु ये तीन लोक उत्पन्न हुए। उन्होंने उन लोकों को गर्म किया, जिससे क्रमशः तीन ज्योतियाँ अग्नि, वायु, तथा सूर्य उत्पन्न हुए। अब उसने इन ज्योतियों को भी तपाया; जिसके फलस्वरूप क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेदों की उत्पत्ति हुई। उसने पुनः इन वेदों को तपाया, जिससे 'भूर्भुवः स्वः' ये तीन व्याहृतियाँ क्रमशः उत्पन्न हुईं। अन्ततः इन व्याहृतियों को भी तपाया गया, जिससे क्रमशः अकार, उकार तथा मकार की उत्पत्ति हुई, जिसको संयुक्त कर देने से 'ओम्' यह अक्षर हो जाता है। 'ओम्' वह अक्षर है, जो तपता है अर्थात् वह सूर्य है।

यह अक्षर निश्चय ही विनाशरहित है[5], जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है। शब्द सूक्ष्म वायु द्वारा कहा जाता है, जो निष्पीड़ित होकर बाहर आता है। इसी के तत्त्व वे तीनों लोक हैं। इन तीनों लोकों के तत्त्वस्वरूप देवता हैं तथा इन देवताओं के तत्त्व वेदत्रयी है। तीन व्याहृतियाँ (भूर्भुवः स्वः) तो तीन वेदों के सारभूत हैं। इस

---

1. श० ब्रा० 6. 1. 1. 10 — सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्रविशत्तत आण्डम् समवर्तत........ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या।

2. श० ब्रा० 10. 5. 2. 2 — सैषा त्रयी विद्या तपति।

3. मनु सं० 2. 76 — अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः। वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च॥

4. ऐ० ब्रा० 25. 21

5. जै० उ० ब्रा० 1. 23. 3

See–J. A. O. S. Vol. 79 'Akṣara is imperishable' Part III, 1959 by J. A. B. Van Buitenen

अक्षर के द्वारा ही विश्वसृजन कार्य भी सम्पादित होता है[1]। शतपथब्राह्मण के अनुसार 'भूः' पुरुष प्रजापति का सिर है, 'भुवः' दोनों भुजाएँ तथा 'स्वः' उस प्रजापति की प्रतिष्ठा है[2]। इस प्रकार अक्षर एवं भूर्भुवः का त्रयी-विद्या के सन्दर्भ में विचार किया गया, जो देव-सृष्टि का मूलाधार है।

सृष्टिप्रक्रिया में छन्द एवं विराट् की उत्पत्ति—

जिस प्रकार वटवीज सहस्र शाखाओं वाले विशाल वृक्ष का स्वरूप ग्रहण करता है, उसी प्रकार सृष्टि के वीजभूत प्रकृति-पुरुष की अन्तिम परिणति अखिल विश्व तथा इससे अभिन्न सहस्रशीर्षा पुरुषरूप में होती है। यह अखिल विश्व उस विराट् का ही शरीर है, जिसकी उत्पत्ति के सन्दर्भ में ब्राह्मणग्रन्थों में प्राणमय स्वयंभूः प्रजापति को वेद-मूर्ति ब्रह्मा कहा गया है। यह वेद-मूर्ति ब्रह्मा मनःप्राण-गर्भिता अव्ययवाक् का विकास मात्र है। सृष्टि-प्रक्रिया में यह वाक्य ही प्राणमय ब्रह्मा (प्रजापति) की अधिष्ठात्री वनती है तथा इसी प्राणमय वाक् तत्त्व से विराट् का जन्म होता है। इसके जन्म के सन्दर्भ में एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसमें कथित है कि स्वयंभूः की वाणी वेदमयी है। यह वेद प्रायः त्रिक् होता है, जिसे क्रमशः ऋक्, यजुः तथा साम के नाम से जाना जाता है। शतपथब्राह्मण के अनुसार इन प्रथम दो वेदों की उत्पत्ति (प्रजापति) के तप के फलस्वरूप बतलायी गयी है तथा सामवेद की उत्पत्ति सूर्य से मानी गयी है[3]।

इस प्रकार इस त्रिधा विभक्त वेद का यजुः भाग 'यत्-जू' रूप तथा गतिप्रधान

---

1. See. Same — (i) Akṣara that through which the word exists can of couse be nothing but syllable, there syllable is identified it is the 'om'

(ii) The word that speaks from ether is squeexed out its juice is the three world universe whose juice is Gods whose of t he triple Veda Thc juice of Veda.........Tad etad Akṣarama-bhavat...... .

2. श० ब्रा० 14. 6. 9. 5 — तस्य भूरिति शिरः भुवरिति बाहू द्वे एतेऽक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा।

3. श० ब्रा० 11. 4. 2. 3 — तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेः ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः।

प्राण वाक् सम्पत्ति से युक्त होता है। इसमें 'यत्' शब्द प्राण तत्त्व है तथा 'जू' शब्द वाक्तत्त्व, जो कालान्तर में आपोरूप में परिणत होता है। यही परमेष्ठी कहलाता है। इसमें तेजस् तत्त्व (अङ्गिरा) तथा स्नेहतत्त्व (भृगु) का सामंजस्य भी रहता है, जिसका समष्टिरूप आपः है। मातरिश्वा नामक पिण्डस्वरूप समर्पक प्राणवायु के द्वारा इस आपः तत्त्व की उसी ब्रह्माग्निस्वरूप यजुरग्नि में आहुति होती है, जिसके फलस्वरूप दशाक्षर छन्दःस्वरूप विराट् का जन्म होता है।

ऋक्, साम, यत्-जू-आपः, वायु, सोम, अग्नि, यम, तथा आदित्य ही दश अक्षर हैं, जिसमें ऋक् तथा साम तो प्रसिद्ध ही हैं, यत्-जू, यजूः इस प्रकार के सन्ध्यक्षरों के संयुक्त करने पर यजुर्वेद का स्रोत स्पष्ट हो जाता है। आपः, वायु तथा सोम भृगु हैं, अग्नि, यम, तथा आदित्य अङ्गिरा हैं। इस भृगु तथा अङ्गिरा का समष्टिरूप आपः तो पूर्व-सिद्ध ही है[1]।

यही आपः 'अथर्वा' है, जो चौथे वेद के रूप में जाना जाता है तथा जिस आप् में स्वयंभूः (प्रजापति) वेद-त्रयी सहित अन्तर्लीन हो जाते हैं[2]। जैमिनीयब्राह्मण में शक्वरी तथा रेवती आदि छन्दों के विधान के सन्दर्भ में विराट् का भी सृजन वर्णित है[3]। शतपथब्राह्मण के याज्ञिक, द्वादश-उपसद्-दृष्टि के सन्दर्भ में पञ्चसुत्या द्वारा विराट् की उत्पत्ति कल्पित की गई है[4], जिससे अधिपुरुष की उत्पत्ति मानी जाती है। तैत्तिरीयब्राह्मण के अनुसार पञ्चधा अग्नि के 'व्यक्रामत' हो जाने के बाद प्रजापति द्वारा विराट् पुरुष सत्ता में आया[5]।

गायत्री अनुष्टुप्, तथा पाङ्क्त आदि छन्दःसृजन—

ब्राह्मणग्रन्थों में इन छन्दों की उत्पत्ति के स्थल प्रायः मिलते हैं, जैसे ऐतरेय-ब्राह्मण का एक आख्यान उपलब्ध होता है, जहाँ द्वादशाह यज्ञ में छन्दों ने एक दूसरे का स्थान लेना चाहा। गायत्रीछन्द ने त्रिष्टुप् और जगती का स्थान लेना चाहा, त्रिष्टुप् ने गायत्री और जगती का और जगती ने गायत्री एवं त्रिष्टुप् का। इसपर प्रजापति ने देखा कि यह द्वादशाह व्यतिक्रमित हो जायेगा, तब उसने इसे ग्रहण कर

---

1. गो० ब्रा० 1. 1. 39 — आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्। अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनाङ्गिरसः श्रिताः॥
2. श० ब्रा० 6. 1. 1. 10 — सो त्रय्या विद्यया सहापः प्रविशत्।
3. जै० ब्रा० 2. 1 — सा (मनुस्तोम) चतुर्थम् अहः प्राप्य विराड् भवति।
   द्र० वही 3 118, 3-143
   तथा 3. 326
4. श० ब्रा० 13. 4. 1. 2 — ततो विराडजायत विराजोऽधिपूरुषः।
5. तै० ब्रा० 1. 2. 1. 27 — पञ्चधाऽग्नीन्व्यक्रामत् विराट् सृष्ट्वा प्रजापतेः।
   द्र० वही 3. 9. 2. 3 — प्रजापतिर्विराजमसृजत्।

लिया और यज्ञ किया। इस प्रकार छन्दों की कामनाएँ पूरी हो गयीं। किन्तु इनका विस्तार कैसे हुआ ? इसका स्पष्टीकरण भी वहीं हो जाता है, जहाँ पहले केवल बृहत् और रथन्तर साम थे, उन सामों से वाणी और मन उत्पन्न हुए। दूसरे शब्दों में रथन्तर वाणी है और बृहत् मन। बृहत् पहले हुआ, इसलिए उसने रथन्तर को कम समझा। अतः रथन्तर ने अपने में ही गर्भ धारण कर लिया जिसके फलस्वरूप वैरूप उत्पन्न हुआ। रथन्तर और वैरूप मिलकर बृहत् को खोटा समझने लगे, तब बृहत् ने अपने में गर्भ धारण कर वैराज को उत्पन्न किया। अब बृहत् और वैराज मिलकर रथन्तर और वैरूप को कम समझने लगे, तदनन्तर रथन्तर ने गर्भ धारण किया, जिसके फलस्वरूप शक्वर-साम का जन्म हुआ। इस प्रकार इन तीनों अर्थात् रथन्तर, वैरूप और शक्वर क्रमशः बृहत् और वैराज को निम्न समझने लगे तब बृहत् ने अपने भीतर गर्भ स्थापित किया, जिसके फलस्वरूप रैवत् का जन्म हुआ[1]।

इस प्रकार चूंकि, हर पक्ष के तीन-तीन सामन् (छः) पृष्ठ हो गए तथा गायत्री आदि छन्द पिछड़ गये। अतः गायत्री ने भी गर्भधारण किया जिससे अनुष्टुप् उत्पन्न हुआ। त्रिष्टुप् के गर्भधारण करने के फलस्वरूप पंक्ति की उत्पत्ति हुई और जगती ने भी गर्भधारण किया, जिससे अतिछान्दस् का जन्म हुआ। ये तीन छन्द जब छः की संख्या में हो गये, तब वे उतने ही पृष्ठों को प्राप्त कर उपर्युक्त सामों के समकक्ष हो गये[2]। शतपथब्राह्मण के अनुसार वाणी (वाक्) से छन्दों की उत्पत्ति हुई[3]। तैत्तिरीयब्राह्मण में प्रजापति षड्-होता होकर मनस्-सृष्टि के उपरान्त गायत्री आदि छन्दों को उत्पन्न किया[4]। जैमिनीयब्राह्मण में प्रजापति ने बहुप्रजाकामनोपरान्त अट्ठारह अक्षरों का सृजन किया। यही सम्पूर्ण छः की संख्या में त्रिवर्ग स्तोम कहलाया, जो ॐकारस्वरूप गायत्री छन्द हुआ[5]।

---

1. ता० म० ब्रा० 7. 8. 8-14 — प्रजापतिर्व्वा एतां गायत्रीं योनिम् अपश्यषड्होताधीत-स्माद्योनेः पृष्ठाः सृजा इति। स रथंन्तरमसृजत्··· स बृहदसृजत्····स वैराजमसृजत्···स शक्वरीमसृजत्··· स रेवतीरसृजत् ....।
   द्र० जै० ब्रा० 1. 143 — तद् रथंन्तरमसृजत तत् रथघोषोऽन्वसृज्यत्।
   द्र० वही 2. 1
2. जै० ब्रा० 3. 317 — सा गायत्र्यम् अनुष्टुभम् असृजत···त्रिष्टुप् पंक्तिम् असृजत····जगत्यतिछन्दसम् असृजत्।
   द्र० ऐ० ब्रा 19. 6 तथा
   ता० म० ब्रा० 10. 2. 4
3. श० ब्रा० 3. 3. 1. 1 तथा
   3. 9. 21. 17
4. तै० ब्रा० 2. 3. 2. 3 — षड्ढोता वै भूत्वा प्रजापतिरिदं, सर्वमसृजत।
5. जै० ब्रा० 3. 321

छन्दों के सम्बन्ध में शतपथब्राह्मण में एक मिथक उपलब्ध होता है कि पहले छन्दों के केवल चार ही पद होते थे, उनमें से जगती सोम को लाने के लिए उड़कर गयी और अपने तीन पदों को पीछे छोड़ आयी। अब त्रिष्टुप् सोम को लेने के लिए उड़ा, जो अपने एक पद को छोड़ दिया। तदनन्तर गायत्री भी सोम को लेने के लिए उड़ी, जो इसके विपरीत अपने पूरे स्वरूप तथा जगती एवं त्रिष्टुप् के छूटे हुए पदों के साथ सोम को लाने में सफल रही। इसीलिए गायत्री में आठ पद होते हैं[1]। इस गायत्री छन्द में तीन चरण होते हैं। सम्भवतः इसीलिए इसे त्रिपदा भी कहा गया है[2]। इसमें विश्व के अनेक त्रिकों का अन्तर्भाव हो जाता है। इस त्रिक् का रहस्यार्थ तीन लोकों, तीन देवों तथा यज्ञ की तीन अग्नियों से है[3]। सृष्टि के मूलभूत चक्र को विश्वरूप में विष्णु का डग भरना कहा गया है। यह गायत्री छन्द तीन स्कन्धों में व्यक्त होनेवाला एक छन्द है, जो मानवजीवन तथा विश्व दोनों में प्राण की त्रेधा-स्पन्दित गति है। अतः सम्पूर्ण विश्व ही गायत्री छन्द है[4]। विश्व के जीवधारियों में मानव-शरीर निश्चितरूप से प्राकृतिक है। इस मानव को ही मर्त्य गायत्री कहा जाता है; क्योंकि मनस् प्राण तथा वायु इसके भी तीन चरण उपलब्ध होते हैं। गायत्र्यप्राण की तीन समिधाओं के सम्बन्ध में ऋग्वेद का एक प्रमाण है कि बाल, युवा तथा जरा ये तीनों ही समिधाएँ हैं, इन्हीं के चक्र में जीवनयज्ञ पूर्ण होता रहता है।

गायत्री मन्त्रगंत प्रणव (ओंकार) की तीन मात्राएँ विश्व-सृष्टि के त्रिकों की प्रतीक हैं। 'भूर्भुवः स्वः' इन तीनों के उच्चारण से पूर्व वर्णित क्रमशः भूर्लोक, भुवर्लोक, तथा स्वर्लोक निर्मित हो जाते हैं। इन्हीं की संज्ञा पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक है। प्रजापति ने इन्हीं आधारभूत क्रमों के सहयोग से विश्व-सृष्टि सम्पादित किया।

मन्त्र के दूसरे भाग में देवों के अभीष्ट भर्ग (प्राण) का संकेत किया गया है, जो जीवन का एक मात्र आधार है। इसी प्रकार पूरा मन्त्र सम्पूर्ण मानव-जीवन का सारगर्भित सूत्र है।

ब्राह्मणग्रन्थों में गायत्री को मात्र गानात्मक छन्दों के रूप में स्वीकार किया

---

1. श० ब्रा० 4. 3. 2. 7 — चतुरक्षराणि ह वाऽअग्रे छन्दांस्यासुः। ततो जगती सोममज्ञापतत्सा त्रीणि अक्षराणि हित्वा जगाम…ततो गायत्री सोममज्ञापतत्सैतानि चाक्षराणि हरन्ति आगच्छत्…।
2. ता० म० ब्रा० 10. 5. 4 — त्रिपदा गायत्री।
3. वे० र० पृष्ठ-90।
4. वही पृष्ठ-90।

गया है, जैसे कि जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण में कहा गया है कि जो गायत्री छन्द (साम) को गाता है, वह गायत्री द्वारा अभिरक्षित होता है[1]।

वेद के अनेक रहस्यों का अन्तर्भाव इसी गायत्रीछन्द-विद्या में हो जाना स्वीकारा गया है। उदाहरणार्थ वैदिक 'प्राणविद्या' गायत्री का ही स्वरूप है। यह प्राणात्मक गायत्री त्रिधा स्पन्दन का रूप है। ब्राह्मणग्रन्थों में गायत्री तथा प्राण का तादात्म्य स्थापित किया गया है[2]। यह गायत्री पृथिवीस्वरूपा भी है, क्योंकि यह मातृतत्त्वा है। गायत्री, चूंकि, सूर्य की शक्ति है तथा सूर्य ब्रह्म का स्वरूप है[3], अतः पृथिवी को भी गायत्री का रूप माना जा सकता है। शतपथब्राह्मण के अनुसार निदान-विद्या के आधार पर पृथिवी को गायत्री कहा गया है[4]। निदान (अथर्ववेदीय) विद्या से ही अग्नि को भी गायत्री कहा गया है[5]। सम्भवतः प्राणात्मक गायत्री छन्द ही अग्नि का स्वरूप है।

चूंकि, बृंहण तत्त्व की संज्ञा ब्रह्म या ब्राह्मण है, अतः गायत्री का सम्बन्ध ब्राह्मण से किया जा सकता है। यह ब्राह्मण (ब्रह्म) मनस्तत्त्व है तथा इसी में जीवन के छन्दों का निवास होता है[6]। शतपथब्राह्मण में कहा गया है कि दर्शपौर्णमास-निरूपण में अग्नि की ऋचाएँ बोली जाती हैं, अर्थात् अग्नि उसी की देवता द्वारा प्रज्वलित होती है। यज्ञ में गायत्री मन्त्र का उच्चारण इसलिए होता है कि वह

---

1. जै० उ० ब्रा० 3. 38. 4 — तमेतदेव (गायत्री) सामगायन्तमत्रायत यद्गायन्तमत्रायत तद्गायत्रस्य गायत्रत्वम्।
2. श० ब्रा० 6. 4. 2. 5 — प्राणो वै गायत्री।
   द्र० वही 1. 3. 5. 15 — गायत्री वै प्राणः।
   द्र० वही 6. 2. 1. 24, 6. 6. 2. 7 तथा 10.3.1.1
   द्र० ता० म० ब्रा० 7. 9 — प्राणो गायत्रम्।
   द्र० वही 19. 7. 7 — प्राणो गायत्री प्रजननम्।
   द्र० वही 7. 3. 7, 16.14.5, 16. 16. 7 तथा 16. 5. 9
   द्र० जै० उ० ब्रा० 1. 37. 7 — तत्प्राणो वै गायत्रम्।
   द्र० कौ० ब्रा० 15. 2. 16. 3 — प्राणौ वै गायत्र्यः।
3. (श्रुति) उद्धृत वे. र. पृष्ठ 92 — सूर्यो ब्रह्म समं ज्योतिः।
4. श० ब्रा० 1. 4. 1. 36 — गायत्री ह वाऽएषा निदानेन।
5. वही 1. 8. 2. 15 — यो वा अत्राग्निर्गायत्री स निदानेन।
6. ता० म० ब्रा० 11. 11. 9 — ब्रह्म हि गायत्री।
   द्र० जै० उ० ब्रा० 1. 1. 8 — ब्रह्म ॐ गायत्री।
   द्र० ऐ० ब्रा० 4. 11
   कौ० ब्रा० 0. 3. 5 — ब्रह्म वै गायत्री।

अग्नि का छन्द है। यह गायत्री वीर्य (तेज) है तथा गायत्री ब्रह्म भी है[1]। इसीलिए वह ब्रह्मवीर्य से ही अग्नि को प्रज्वलित करता है।

इस विश्व में प्रकाश एवं ऊष्मा के मूलरूप में गायत्री ही है; क्योंकि यह गायत्री सूर्यसदृश तीव्र तेजोराशि है तथा विश्व के सृजन में यह तेजोरूपा गायत्री मुख्य सहायक होती है[2]। जब गायत्री स्वयंप्रकाश है, तब उसके चतुर्दिक् प्रकाश का होना भी स्वाभाविक है। अतः इस गायत्री के तीन प्रकाशमानरूप सूर्य के गतिविधान पर प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल में देखे जा सकते हैं[3]।

यह गायत्री एक ऐसा छन्द है, जिसका रस काल से मुक्त नहीं होता है। सम्भवतः इसीलिए इसके लिए 'अयातयामा' संज्ञा का प्रयोग होता है[4]। समस्त प्रामाणिक देवताओं का केन्द्र-बिन्दु मस्तक होता है तथा इस मस्तक का स्थान गायत्री छन्द को प्राप्त है[5]। गायत्री को देवताओं का मुख भी माना गया है[6]; क्योंकि वह अग्नि स्वरूपा है तथा अग्नि साक्षात्‌रूप में देवताओं का मुख है[7]।

इस प्रकार पूर्व के परिच्छेदों में पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युः आदि जिन तीन लोकों का सृजन-विवेचन किया गया है, उसका निर्माण गायत्री शक्ति के ही त्रिधा विभाग से हुआ है।

देवता तथा असुर—

सृष्टि-प्रक्रिया में देवताओं ने जितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है, उतनी असुरों ने नहीं। फिर भी दोनों के उत्पन्न होने की विवेचना अप्रासंगिक न होगी। ये देवता निश्चय ही स्वर्गलोक निवासी हैं, जब कि असुर पाताललोक के निवासी होते हैं। डॉ० कीथ महोदय ने असुरों के सन्बन्ध में कहा है कि "निश्चय ही देव शब्द का

---

1. श० ब्रा० 1. 3. 5. 4	ब्रह्म गायत्री।
2. ता० ब्रा० 10. 5. 3	तेजसा वै गायत्री प्रथमं त्रिरात्रं दाधार पदैर्द्वितीयम् अक्षरैस्तृतीयम्।
द्र० वही 13. 7. 2	ज्योतिर्वै गायत्री छन्दसाम्।
द्र० कौ० ब्रा० 17. 6	ज्योतिर्वै गायत्री।
द्र० गो० ब्रा० 35. 3	तेजो वै गायत्री।
3. ता० ब्रा० 12. 1. 2	दविद्युतती वै गायत्री।
4. ता० म० ब्रा० 13. 10. 1	यातयामान्यन्यानि छन्दांस्यातयांमा गायत्री।
5. श० ब्रा० 8. 6. 2. 6	गायत्रं हि शिरः।
द्र० वही 8. 6. 2. 3	शिरो गायत्र्यः।
6. ता० म० ब्रा० 7. 3. 7	मुखमेव गायत्री।
द्र० कौ० ब्रा० 11. 2	मुखं गायत्री।
7. ऐ० ब्रा० 7. 16	अग्निर्वै देवानां मुखम्।

अर्थ सूर्य से सम्बन्धित प्राणों से है। संशय तो केवल इसके ठीक-ठीक आशय के विषय में हो सकता है जो कि उभड़ आया था। उस आर्ययुग में, जब कि यह शब्द भावी भारतीय और ईरानियों के बीच समानरूप से प्रचलित था, इसका प्रयोग सभी प्रकार के देवों के लिए होता था...। इतना तो स्पष्ट है कि ऋग्वेद में इस शब्द का यथार्थ यही है कि देव लोगों तथा दास, दस्यु या रक्षस् नामधारी दानवों में प्रतिस्पर्धा है, जब कि ब्राह्मणों में असुर शब्द अपने प्राचीन उत्कृष्ट अर्थ से च्युत होकर देवताओं का विरोधी बन गया[1]। पुनः उन्हीं का कथन है कि "वैदिक प्रयोग में क्या कभी देव के अन्तर्गत दानव भी आते थे? तत्कालीन लोकधर्म में इस शब्द का प्रयोग देवों के साथ दानवों के लिए भी होता था, बाद में पुरोहितों ने इसके प्रयोग को द्युस्थानीय देवताओं के अर्थ में सीमित कर दिया। देवता समय-समय पर प्रतिकूल भी हो सकते हैं, यह एक मानी हुई बात है। इस प्रकार यज्ञ-विध्वंसक देवता वास्तविक देवता हो सकते हैं[2]...।" कहीं-कहीं पर तो 'देवजन' इस पद का प्रयोग सर्पों के लिए किया गया है, जो निश्चय ही दिव्य है।· जो निश्चय ही दिव्य है इसका तात्पर्य देवों से नहीं है। कतिपय स्थलों पर तो इस शब्द का प्रयोग देव सीमा को लाँघ कर राक्षसों को भी अपने परिवेश में ले लेता है, परिणामस्वरूप वे भी देवजन कहलाये[3]। इस प्रकार "देव और दानव" में कोई तात्त्विक भेद नहीं है; किन्तु गोभिलगृह्यसूत्र के अनुसार इतरजन से भिन्न देवजन का तात्पर्य दानव अथवा यक्ष से कभी नहीं हो सकता, जैसा कि आर्बभान का भी विचार है[4]।

देव-सृष्टि—

डॉ० कीथ के उपर्युक्त विचारों के निष्कर्ष पर देव और दानव का क्रमशः सृष्टि-विवेचन किया जायेगा। ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनुसार देवों की कुल संख्या तैंतीस

---

1. वै० ध० द० () ए० बी० कीथ ()
   अनु० डॉ० सूर्यकान्त खण्ड–1,
   पृष्ठ 93 से 94।
   द्र० वै० मा० पृष्ठ 156 तथा आगे।
   द्र० रेलि० देस वेद पृष्ठ 160 तथा आगे।
   दे० पू० पृ० 102 सन्दर्भ सं० 5।
2. तै० सं० 3. 5. 4. 1
3. कौ० ब्रा० 2. 2 — सर्वदेवजनांस्तेन प्रीणात्यथ यत्स्रुचं मार्जयते रक्षोदेवजनांस्तेन प्रीणाति।
4. वै० ध० द० (डॉ० ए० बी० कीथ)
   अनु० डॉ० सूर्यकान्त, खण्ड–1
   पृ० 94।

मानी गयी है, जैसा कि शतपथ तथा ऐतरेयब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार इनकी संख्याओं के तीन वर्ग अर्थात् आठ वसु, ग्यारह रुद्र तथा बारह आदित्य स्वीकार किये गये हैं[1]। चूँकि इन वर्गों का योग इकतीस ही हो रहा है, अतः इनकी संख्या पूरी करने के लिए ब्राह्मणग्रन्थों में प्रजापति तथा इन्द्र का नाम ग्रहण किया गया है[2], जब कि ऐतरेयब्राह्मण में इकतीसवें के बाद 'वषट्कार' तथा प्रजापति को सम्मिलित किया गया है[3]। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भी देवताओं की संख्या तैंतीस ही बतायी गयी है[4]। इन तैंतीस देवताओं के अतिरिक्त भी तैंतीस देवता होते हैं, जो प्रायः मरणशील हैं, जब कि उपर्युक्त रुद्रादित्यादि देवता अमर होते हैं, क्योंकि इन्होंने अमरत्वगुणसम्पन्न सोम का पान कर लिया था तथा यह सु-अवसर उन ग्यारह प्रयाज, ग्यारह अनुयाज तथा ग्यारह उपयाजीय देवताओं को नहीं प्राप्त हो सका था[5]। पहले ये सोमपा देवता भी मर्त्य थे, किन्तु जब ब्रह्म से ये व्याप्त हो गये तब वे अमर हो गये[6]।

इस प्रकार देवताओं की उत्पत्ति के प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि सृष्टिकर्त्ता प्रजापति ने ही अपने तप एवं श्रम के द्वारा इन देवताओं को उत्पन्न किया था। इस प्रकार उत्पन्न होकर ये देवता प्रजापति के पास गये तथा पुनः सृष्टि के सन्दर्भ में उनसे प्रश्न किया, जिसका प्रजापति ने समुचित उत्तर दिया। अन्ततः वसुगण गायत्री छन्द का सम्भरण कर उसी में प्रविष्ट हो गये। इस प्रक्रिया से रुद्रगण त्रिष्टुभ् में तथा आदित्यगण जगती छन्द में प्रविष्ट हुए। अन्ततः समस्त देवगण

---

1. यजु० सं० 14. 20 — अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता, चन्द्रमा देवता, वसवो देवता, रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता, मरुतो देवता, विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता।

   द्र० श० ब्रा० 11. 6. 3. 5 — त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्याः।

   द्र० ऐ० ब्रा० 2. 18

2. श० ब्रा० 11. 6. 3. 5 — ...त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति।

3. ऐ० ब्रा० 2. 18 — प्रजापतिश्च वषट्कारश्च।

4. अथर्वसं० 10. 7. 13 — यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः।

5. ऐ० ब्रा० 2. 18।

6. श० ब्रा० 11. 2. 3. 6 — मर्त्या ह वाऽअग्रे देवाऽआसुः। स यदेव ते ब्रह्मणाऽऽपुरथामृताऽआसु।

त्रयीविद्यास्वरूप 'ॐकार' में समाहित हो गये[1]। इससे स्पष्ट होता है कि प्रजापति ने ही वसु, रुद्र तथा आदित्य आदि देवगणों की सृष्टि की तथा इसी के द्वारा यज्ञ और तीनों लोकों की कल्पना भी। यही नहीं, वसुगणों के द्वारा प्रातःसवन, रुद्रगणों के द्वारा माध्यन्दिनसवन तथा आदित्यगणों के द्वारा तृतीयसवन भी सम्पादित किये गये[2]। प्रजापति ने इन देवताओं का सृजन ऊर्ध्व प्राण के द्वारा किया[3]। शतपथब्राह्मण में एक तरफ सृष्टि के प्रारम्भ में स्थित एकमात्र प्रजापति (ब्रह्म) द्वारा देवताओं की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है[4], तो दूसरी तरफ राजसूय यज्ञों के प्रकरण में देवताओं (याज्ञिकों) की उत्पत्ति हुई[5]। षड्विंशब्राह्मण में तो सृष्टि-कामी प्रजापति ही देवों का जनयिता हुआ तथा उस प्रजापति ने मन की सृष्टि के उपरान्त देवताओं को अपने मुखसे उत्पन्न किया[6]।

अब प्रमुख सोमपा देवताओं की उत्पति का क्रमिक विवरण प्रस्तुत किया जायेगा। स्थानभेद के आधार पर देवताओं के उपर्युक्त गणों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम द्युस्थानीय, द्वितीय अन्तरिक्षस्थानीय तथा तृतीय पृथिवीस्थानीय।

---

1. जै० उ० ब्रा० 1. 4. 4. 1-2 — प्रजापतिर्देवानसृजत्। तान् मृत्युः पाप्मानमसृज्यत ते देवा प्रजापतिमुपेत्याऽब्रुवन् कस्मादु नोऽसृष्टा""वसवो गायत्रीं समभरन् तां ते प्राविशन्। तान् साऽच्छादयत् रुद्रास्त्रिष्टुभं समभरन् तां ते प्राविशन्"'तां स्वरं प्रविशन्"'त ओमित्येतदेवाक्षरं समारोहन् एतदेवाक्षरं त्रयीविद्या।

2. जै० ब्रा० 2. 141 — प्रजापतिर्देवान् असृजत्। वसून् रुद्रान् आदित्यान् तेभ्यो यज्ञं चेमाशं च लोकान् प्रायच्छद"'रुद्रेभ्यो माध्यन्दिन-सवन आदित्येभ्यः तृतीयस्सवन वसुभ्यः ऐवेमं लोकं प्रायच्छद् रुद्रेभ्योऽअन्तरिक्षम् आदित्येभ्योऽमुम्।

3. श० ब्रा० 10. 3. 1. 27 — स ऊर्ध्वेभ्यः एव प्राणेभ्यो देवानसृजत्।

4. श० ब्रा० 11. 1. 11. 1 — ब्रह्म वा इदमग्रऽआसीत् तद्देवानसृजत्।

5. वहीं 5. 4. 7. 11 — राजसूयेन यजते देवसृष्टो वाऽएषेष्टियंत्रे।

6. ष० वि० ब्रा० 5. 1. 1. — प्रजापतिस्तपोऽतप्यत तस्य ह वै तप्यमानस्य मनः प्राजायत देवानसृजेयमिति। त इमे देवा असृज्यन्त दिवा देवानसृजत्।

द्र० तै० ब्रा० 2. 2. 9. 7 — स मुखाद्देवानसृजत।

द्र० श० ब्रा० 11. 1. 6. 7 — स आस्येनैव देवानसृजत।

द्युस्थानीय देवता—

सर्वप्रथम द्युस्थानीय कुछ मुख्य देवताओं की सृष्टि का वर्णन किया जायेगा, जो प्रायः दीप्तियुक्त होते हैं।

१. सूर्य, सविता, अथवा आदित्य—

ये तीनों संज्ञाएँ प्रायः एक ही पिण्डस्वरूप सूर्यमण्डल के लिए प्रयुक्त होती हैं। किन्तु ऋग्वेद में इन तीनों में कुछ भेद स्थापित किया गया है। वैसे यहाँ आदित्य ही वर्ण्य विषय होगा, जो सूर्य के रूप में विख्यात है। पृथिवी के बाद जब द्यु तथा अन्तरिक्ष सृष्ट हो गया, तब द्युस्थान में आदित्य की उत्पत्ति स्वीकार की गई। प्रजापति के अपने सृजन-कामना के अनन्तर वायु के सहयोग से अन्तरिक्ष में मिथुन (जोड़ों) का निर्माण हुआ, तत्पश्चात् एक अण्डे की उत्पत्ति हुई। प्रजापति ने उस अण्डे का स्पर्श किया और उसे यशस्वी होने की कामना की, जिसके फलस्वरूप उसी अण्डे से आदित्य की उत्पत्ति हुई[1]।

चूँकि, वायु तथा अन्तरिक्ष के मिथुनीभाव से सूर्य (आदित्य) की उत्पत्ति हुई और अन्तरिक्ष में आपः एवं अग्नि की मायास्वरूप वायु का स्वतंत्र अस्तित्व है, इसलिए सूर्य के पार्थिवांश होने की बात निराधार हो जाती है। इस प्रकार आदित्य में वायु, आपः तथा अग्नि का पूर्णतः समावेश होता है[2]।

ताण्ड्यब्राह्मण में तो आदित्य को प्रजापति के मूर्धा से उत्पन्न बतलाया गया है तथा प्रजापति अपने बहुप्रजा उत्पन्न करने की कामना के अनंतर दीप्तिमान हुआ तथा दीप्त प्रजापति के मूर्धा से आदित्य की उत्पत्ति हुई। उत्पन्न हुए आदित्य ने उसके मूर्धा में चोट पहुँचाया, जो द्रोण कलश बन गया। देवताओं ने उसी द्रोण-कलश में शुक्राणुओं को संगृहीत किया[3]। आदित्य-उत्पत्ति के इस सन्दर्भ का संकेत ऐतरेय-

1. श० ब्रा० 6. 1. 2. 3 — सोऽकामयत भूय एव स्यात प्रजायेतेति। स वायुनान्तरिक्षं मिथुनं समभवत्तद् आण्डं समवर्तत् तदभ्यमृशद्यशो बिभृहीति ततोऽसावादित्योऽसृज्यतैष वै यशः।

2. का० सं० 6. 3 — समाने वै योनावास्तां सूर्यश्चाग्निश्च ततः सूर्य ऊर्ध्वम् उदद्रवत्।

द्र० कपि० सं० 4. 2।

3. ता० ब्रा० 6. 5. 1 — प्रजापतिरकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति। सोऽशोचत् तस्य शोचत्* आदित्यो मूर्ध्नोऽसृज्यत, सोऽस्य मूर्धानमुदहन् स द्रोण कलशोऽभवन् तस्मिन् देवाः शुक्रमगृह्णन्।

* यहाँ अशोचत क्रियापद का कालन्दने 'शोक किया' ऐसा अर्थ किया है; किन्तु शुचि दीप्तौ धातु से प्रसंगानुकूल अशोचत् का अर्थ दीप्तियुक्त होगा।

ब्राह्मण में भी उपलब्ध होता है, जहाँ प्रजापति के ऊर्ध्वगामी दीप्तियुक्त रेतस् से आदित्य की उत्पत्ति स्वीकार की गई[1] है। ऋग्वेदसंहिता में 'चक्षु' (मूर्धा) से[2] तथा तैत्तिरीयसंहिता में 'रश्मि' इस कथन से[3] आदित्य की उत्पत्ति के प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

इस रश्मिपुंज में आदित्य में आपः की सत्ता विद्यमान रहती है, जैसा कि पूर्ववर्णित भी है। इसका प्रमाण ब्राह्मणग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है, जैसे शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार वह आदित्य निश्चितरूप से आपः का अधिष्ठान है, जहाँ वह तपता है[4]। ऐतरेयब्राह्मण आदित्य की उत्पत्ति निश्चितरूप से आपः द्वारा हुई। यहाँ बतलाया गया है कि इस आदित्य की उत्पत्ति नित्य प्रातः जल से होती है तथा जल में ही विलुप्ति भी[5]। कौषीतकिब्राह्मण के अनुसार भी आपः ने तप से अपना शरीर तपाया तथा स्वयं गर्भ धारण किया। इसके फलस्वरूप छठे महीने में आदित्य की उत्पत्ति हुई[6]। ऐतरेयब्राह्मण में जहाँ आदित्य को आपः से उत्पन्न कहा गया है, वहीं अग्नि को भी उसका जनयिता स्वीकार किया गया है[7]। शतपथब्राह्मण में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि आपः ही सूर्य है[8]। गोपथब्राह्मण के अनुसार ऊँकार की तीसरी स्वर मात्रा से आदित्य की उत्पत्ति हुई[9]।

---

1. ऐ० ब्रा० 3. 34 — तस्य (प्रजापतेः) यद् रेतसः प्रथमम् उदद्दीप्यत् तद-सावदित्योऽभवन् ।
2. जै० उ० ब्रा० 2. 1. 2 — अथ यत्तच्चक्षुरासीत् स आदित्योऽभवत् ।
   द्र० तै० ब्रा० 2. 1. 6. 3 — चक्षुषः आदित्यः ।
   द्र० ऋ० सं० 10. 9. 10 — चक्षोः सूर्योऽजायत ।
   तै० आ० 3. 12
3. तै० सं० 5. 3. 6 — इत्येव आदित्यम् ।
4. श० ब्रा० 7. 5. 1. 8 — एतद् ह अपां गभिष्ठं यत्रैष एतत् तपति ।
   द्र० जै० ब्रा० 2. 62 — अथ यद् एतन्मण्डलं ता आपः ।
   द्र० वही 2. 145 — ये ह वा एत आदित्यस्य रश्मयः एतानि ह वा एतस्य शृङ्गाणि । मध्य उ ह वा एष एतद् अपास् ।
5. ऐ० ब्रा० 4. 20 — एष (आदित्यः) वा अब्जा अद्भ्यो वा एष प्रातरुदेति । अपः सायं प्रविशति ।
6. कौ० ब्रा० 25. 1 — आपस्तपोऽतप्यन्त तास्तपस्तप्त्वा गर्भमदधत् । तत् एष आदित्योऽजायत षष्ठे मासि ।
7. ऐ० ब्रा० 40.5 — अग्नेर्वा आदित्यो जायते ।
8. श० ब्रा० 10. 6. 5. 2 — आपो वाऽअर्कः ।
9. गो० ब्रा० पू० 1. 19 — तस्य तृतीयया स्वरमात्रया दिवमादित्यं...अभवत् ।

आदित्यमण्डल—

यह आदित्य प्रकाश युक्त होता है[1]। जैमिनीयब्राह्मण में इस आदित्य को संवत्सर कहा गया है, जिसका वर्णन इस प्रकार है कि वह आदित्य तपता है, उसका जो बाह्यभाग तीव्रता से चमकता है, वही 'संवत्' है तथा जो मध्य में कृष्णता है वही 'सरः' है[2]। इस प्रकार आदित्य तथा संवत्सर वस्तुतः एक ही है।

गोपथब्राह्मण के अनुसार तपयुक्त आदित्य का दो भाग किया गया, जिसका एक भाग शुक्ल तथा दूसरा कृष्णरूप में हुआ। अग्नि शुक्लरूप है तथा आपः कृष्णरूप[3]।

यह आदित्य नेत्र के समान है। जिस प्रकार नेत्रों के मध्य कृष्णता रहती है तथा बाह्य घेरे में श्वेतवर्ण, उसी प्रकार सूर्य के मध्य में भी कृष्ण (सौम्य) अथवा आपः भाग रहता है तथा उसका वाह्य घेरा आग्नेय होता है[4]। पहले यह आदित्य पृथिवी के सन्निकट था, जो कालान्तर में अतिदूर स्थित हो गया। इस सन्दर्भ का एक मिथक शतपथब्राह्मण में उपलब्ध होता है, जहाँ कहा गया है कि 'हे अग्ने पृथक् होने तथा फैलने के लिए आओ'। ये लोक पहले अत्यन्त सन्निकट थे। यहाँ तक कि द्युलोक को हाथ से स्पर्श किया जा सकता था[5]। तैत्तिरीयसंहिता में भी इस सन्दर्भ का पूर्ण विवरण मिलता है, जहाँ अन्तिमरूप से कहा गया है कि पहले यह आदित्य इस पृथिवी लोक में ही था। तत्पश्चात्, देवों ने उसे स्वर्गलोक (द्युस्थान) में स्थिर कर दिया[6]।

---

1. जै० ब्रा० 1. 330 — असौ वा आदित्यो भा इति।
2. वही 2. 28 — असावेव संवत्सरो योऽसौ तपति। तस्य यद् भाति तत्संवत्। यन्मध्ये कृष्णं मण्डलं तत्सरः इति अधिदेवतम्।
   द्र० वही 2. 60 तथा 62।
3. गो० ब्रा० 6. 6 — असौ वै होता योऽसौ तपति। स वा एक एव तस्माद् एक सूक्तः। स यद् विच्यातो द्वौ इव आ भवति। तेज एव मण्डलं भा। अपरं शुक्लं परं कृष्णम्।
4. श० ब्रा० 1. 6. 3. 41 — यच्छुक्लं तदाग्नेयं यत्कृष्णं तत्सौम्यम्।
5. श० ब्रा० 1. 4. 1. 22 — अग्न आ याहि वीतये इति। तद्वेति भवति वीतये इति समन्तिकमिव ह वा इमेऽग्रे लोका आसुः इति। समन्तिकमिव ह वा इमेऽग्रे लोका आसुः इति। उन्मृश्या हैव द्यौरास।
   द्र० तै० सं० 3. 4. 3. — इमे वै सहास्तां ते वायुर्व्यवात।
   द्र० वही 5. 1. 5
   द्र० ऋ० सं० 6. 16. 10
6. तै० सं० 7. 3. 10 — असावादित्योऽस्मिन् लोके आसीत्। तं देवाः पृष्ठैः परिगृह्य सुवर्गं लोकम् अगमयन्।
   द्र० मै० सं० 1. 11. 7 तथा 3. 9. 3.

इसको क्यों दूर किया गया ? इस प्रश्न का उत्तर जैमिनीयब्राह्मण में उपलब्ध होता है, जहाँ कहा गया है कि वह आग्नेय आदित्य पहले चात्वाल (वेदी के समीपस्थ एक गड्ढा, जिसमें वेदिनिर्माण के सामान का कूड़ा डाला जाता है) में स्थित था, जो याज्ञिकों को बहुत तपाता था। ये याज्ञिक देव ही होते थे, इसलिए वे स्वयं को दग्ध हो जाने के भय से आदित्य का स्थान परिवर्तित कर दिये[1]।

आदित्य रश्मियों के सम्बन्ध में जैमिनीयब्राह्मण में उसके एक हजार होने की बात कही गयी है[2]। इस सन्दर्भ का संकेत ऋग्वेद में भी उपलब्ध होता है, जहाँ रश्मियों को 'हरयः' कहा गया है[3]। रश्मियों के इतने भेद वस्तुतः परमाणुओं के संसर्ग से विभिन्न रूप धारण करने के कारण हुए। कपिष्ठलकठसंहिता में कहा गया है कि स्वरूप की भिन्नता से ही रश्मियों के छन्दों में भेद हुआ[4]।

वायुपुराण में इन सहस्र रश्मियों के तीन भेद किये गये हैं*। ये आदित्य रश्मियाँ वर्षा, शीत और उष्णता का निःसरण करती रहती हैं तथा इन्हीं के प्रभाव से अन्तरिक्ष और पृथिवी पर वर्षा, गर्मी तथा हिम-वर्षण आदि होते रहते हैं। यह आदित्य ही 'गौः' है, क्योंकि इसकी रश्मियों को 'गावः' कहा जाता है[5]। इसी कारण इसके लिए 'गोजाः' शब्द का भी प्रयोग मिलता है[6]।

सहस्ररश्मि वर्णनोपरान्त शतपथब्राह्मण का एक स्थल दर्शनीय होगा जहाँ आदित्यरश्मियों को शतविधा कहा गया है[7]। ये एक शत अर्थात् एक सौ एक प्रकार की होती हैं। कुछ प्रमुख रश्मियों के वर्णन ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। यथा

---

1. जै० ब्रा० 1. 87 — आदित्यो वा एतद् अत्राग्न आसीद् यत्रैतत् चात्वालम्। अदोऽग्निः। स इदं सर्वं प्रातपत्। तस्य देवाः प्रदाहाद् अबिभयुः। तेऽब्रुवन् सर्वं वा अयम् इदं प्रधक्ष्यतीति। वीमौ परिहरामेति।
2. जै० उ० ब्रा० 1. 44. 5 — सहस्रं हैत आदित्यस्य रश्मयः।
   द्र० महा० शा० प० 372.3 — यस्य रश्मिसहस्रेषु।
3. ऋ० सं० 6, 47. 18 — युक्ता ह्यस्य हरयश्शतादश।
4. कपि० सं० 30. 13 — छन्दांसि अग्नेर्वासः।

* वा० पु० 53. 19. 23 — तस्य रश्मिसहस्रं तु वर्ष-शीतोष्ण-निस्रवम्। तासां चतुःशता नाड्यो वर्षन्ते चित्रमूर्तयः।

5. ऐ० ब्रा० 4. 17 — गावो वा आदित्यः।
   द्र० निरुक्त 2. 6 — आदित्योऽपि गौरुच्यते। सर्वेऽपि हि रश्मयो गावः उच्यन्ते।
6. ऐ० ब्रा० 4. 20 — ....अपः सायं प्रविशति गोजा इति।
7. श० ब्रा० 10. 2. 4. 3 — स एष (आदित्यः) एकशतविधः। तस्य रश्मयः शतं विधा एष एव एकशततमो य एष तपति।

अङ्गिरस आदित्य का ही अग्नि तुल्य रश्मि है[1]। इन रश्मियों में प्राण का संयोग भी रहता है[2]। सूर्य की एक रश्मि वृष्टिवनि है। इस वृष्टिवनि रश्मि द्वारा वह प्रजापालन कार्य करता है[3]। तैत्तिरीयसंहिता में एक मरीचिमा नाम की सूर्य रश्मि का भी उल्लेख मिलता है[4]। इस प्रकार सुरुच,[5] विश्वकर्मा,[6] अर्वावसु,[7] अमा,[8] हंस[9], ऋभव:[10], सुपर्णा[11], हरित:[12], अक्षितय:[13] तथा सुकृत[14] आदि मुख्य आदित्यरश्मियाँ हैं, जिनका वर्णन ब्राह्मणग्रन्थों में किया गया है।

1. ऐ० ब्रा० 6. 34	अङ्गिरसा वां एकोऽग्नि।
2. श० ब्रा० 6. 1. 2. 28	प्राणो वा अङ्गिरा।
3. वही 14. 2. 1. 21.	सूर्यस्य ह वाऽएको रश्मि: वृष्टिवनिर्नाम येनेमा: सर्वा: प्रजा: बिभर्ति।
द्र० तै० सं० 2. 4. 10	एष वा ओषधीनां वृष्टिवनि:। तया एव वृष्टिमाच्यावयति।
4. तै० सं० 6. 4. 5.	आदित्यस्य वै रश्मयो देवा मरीचिमा:।
5. श० ब्रा० 7. 4. 1. 14	इमे लोका: सुरुच:।
द्र० अ० वे० 4. 1. 1.	सुरुचो वेन आव:।
द्र० नि० 1. 7	सुरुच: आदित्यरश्मय:।
6. कौ० ब्रा० 5. 5	असौ वै विश्वकर्मा योऽसौ तपति।
7. श० ब्रा० 1. 5. 1. 24	अर्वावसुर्वै नाम देवानां होता।
द्र० वही 8. 6. 1. 20	पर्यर्वाग्वसुरिति पर्जन्य:*।
8. वि० पु० 2. 12	कलाद्वयाविष्टस्तु प्रविष्ट: सूर्यमण्डलम्। अमाख्यरश्मौ वसति अमावास्या तत: स्मृतम्।
9. ऐ० ब्रा० 4. 20	एष (आदित्य:) वै हंस शुचिषत्।
द्र० श० ब्रा० 6. 3. 11	असौ वा आदित्यो हंस: शुचिषत्।
10. नि० 11. 16	आदित्यरश्मयोऽपि ऋभव: उच्यन्ते।
द्र० ता० म० ब्रा० सा० भा० 14. 2. 5	
11. ऋ० सं० 10. 73. 11	वय: सुपर्णं उप सेदुरिन्द्रम्।
12. नि० 4. 11	(हरित:) हरणात् आदित्य रश्मीन् हरितोऽश्वानिति।
13. कौ० ब्रा० 7. 4 द्र० निरुक्त 5. 11, जहाँ यजुर्वेद 5. 7 के मन्त्रस्थ अक्षितय: पद का अर्थ सूर्यरश्मि से किया गया है।	आपोऽक्षितिर्या इमा एषु लोकेषु।
14. श० ब्रा० 1. 9. 3. 13	तस्य सूर्यस्य ये रश्मयस्ते सुकृत:।

* यहाँ सूर्य के अर्वावसु-रश्मि के साथ वाग्वसुरश्मि का भी नाम मिलता है, जिसका सम्बन्ध वृष्टि से है।

चन्द्रमा-सृजन—

देव-सृष्टिप्रक्रिया में सूर्य (आदित्य) के पश्चात् द्युस्थान में चन्द्रमा एक प्रकाशयुक्त देवता के रूप में विद्यमान रहता है। बहुप्रजा होने की कामना रखने वाले प्रजापति ने जब श्रम एवं तपश्चर्या की प्रक्रिया को अपनाया, तभी चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई[1]। शतपथब्राह्मण के अनुसार उस बहुप्रजाकामी प्रजापति ने आदित्य तथा 'द्यु' को मिथुनीभाव से युक्त किया। इस प्रक्रिया से उस अण्डे में होनेवाला वस्तु उत्पन्न हुआ। चूँकि वह अण्डा प्रजापति के समीप था, इसलिए उसने उसका स्पर्श किया तथा उसको 'रेतस्' धारण करने के लिए कहा। प्रजापति के इस कथन के परिणामस्वरूप उस अण्डे से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई[2]। वायुपुराण में भी चन्द्रमा को सूर्य से उत्पन्न बतलाया गया है[3]। जैमिनीय-उपनिषद्ब्राह्मण तथा ऋग्वेदसंहिता में चन्द्रमा को प्रजापति के मनस् से उत्पन्न कहा गया है[4]।

चन्द्रमा, वृत्र एवं सोम—

चन्द्रमा का सम्बन्ध सोम के साथ भी किया गया है[5]। ब्राह्मणग्रन्थों में यहां तक कि सोम से ही चन्द्रमा की उत्पत्ति मानी गयी है[6]; क्योंकि यह सोम द्युस्थानीय होता है[7]। जिस प्रकार चन्द्रमा का सम्बन्ध सोम से है, उसी प्रकार उसका सम्बन्ध वृत्र से भी है[8]। यह आख्यान इन्द्र-वृत्र-वध के प्रकरण में उपलब्ध होता है, जहाँ वर्णित है कि क्षीणकाय वृत्र को मार डालने के लिए इन्द्र जब तीव्रता से आगे बढ़े, तब वह वृत्र बोला—हे इन्द्र ! तुम मुझे मत मारो, तुम वही हो, जो पहले मैं था। तू मेरे शरीर

---

1. कौ० ब्रा० 6. 1 — प्रजापतिः प्रजातिकामस्तपोऽतप्यत तस्मात्तप्तात्पञ्च-पञ्चाजायन्ताग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा उषाः।
   द्र० जै० उ० ब्रा० 15. 2 — ततश्चन्द्रमसृजत।
2. श० ब्रा० 6. 1. 2. 4, — सोऽकामयत। भूय एव स्यात् प्रजायेतेति। स आदित्येन दिवं मिथुनं समभवत्। तत् आण्डं समवर्तत्। तद् अभ्यमृशत्। रेतो बिभृहीति। ततश्चन्द्रमाऽसृज्यत।
3. वा० पु० 50. 99 — ऋक्षचन्द्रग्रहा सर्वे विज्ञेयाः सूर्यसम्भवाः।
   द्र० ऐ० ब्रा० 40, 5 — आदित्याद्वै चन्द्रमा जायते।
4. जै० उ० ब्रा० 2. 1. 2 — अथ यत्तन्मन आसीत् स चन्द्रमा अभवत्।
   द्र० तै० आ० 3. 12 — चन्द्रमा मनसो जातः।
   द्र० ऋ० सं० 10. 90. 10 — चन्द्रमा मनसो जातः।
5. श० ब्रा० 1. 6. 3. 24 — चन्द्रमा सौम्यः।
6. श० ब्रा० 1. 6. 3. 17 — यत्सौम्यं न्यक्तमास तं चन्द्रमसं चकार।
7. तै० ब्रा० 1. 1. 3. 10 — तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्। तं गायत्र्याहरत्।
   द्र० ऋ० सं० 10. 85. 1 — दिवि सोमोऽधिश्रितः।
8. श० ब्रा० 1. 6. 4. 13, — अथ एष एव वृत्रो यच्चन्द्रमाः।

के दो भाग कर दे, ऐसा मत करो जिससे मेरा अस्तित्व ही न रहे। इस बात पर इन्द्र प्रसन्न होकर बोले कि ठीक है अब तुम मेरा खाद्य बनोगे। फलस्वरूप इन्द्र ने वृत्र को दो टुकड़ों में कर दिया। इससे उसका जो सोममय टुकड़ा था, उसी से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई[1]। इस बात का संकेत किया जा चुका है। वृत्र का दूसरा टुकड़ा प्रजाओं का उदर बन गया। इस प्रकार चन्द्रमा का सोम तथा वृत्र से गहरा सम्बन्ध है।

चन्द्रमा की उत्पत्ति को मित्रावरुण के वीर्यसिंचन से भी स्वीकार किया गया है। शतपथब्राह्मण में कथित है कि जब चन्द्रमा क्षीणकाय होता है, तब पुनः वह उसी के वीर्य से उत्पन्न होता है[2]। गोपथब्राह्मण के अनुसार अमावास्या से चन्द्रमा की उत्पत्ति मानी गयी है[3]। शतपथब्राह्मण के एक मिथक के अनुसार वह चन्द्रमा अमावास्या की रात को न तो पूरब दिशा में दिखाई देता है और न पश्चिम में ही दिखाई पड़ता है। वह तो द्युलोक से पार्थिव लोक में आकर औषधि और जलों में प्रविष्ट हो जाता है। इस प्रकार याज्ञिक, लोकगत औषधियों एवं जलों को इकट्ठा कर उसे आहुतियों से पुनः उत्पन्न करते हैं, तभी वह दूसरे दिन (प्रतिपदा को) पश्चिम में दीखता है[4]। अन्ततः समस्त जीवों का आत्मा जब छन्दस्तोम, प्राण तथा देवताओं से युक्त होकर ऊपर को जाता है, तब वह चन्द्रमा बन जाता है[5]।

चन्द्रमा में जो काला धब्बा होता है, उसके सम्बन्ध में शतपथब्राह्मण का एक मिथक दर्शनीय होगा, जिसमें वर्णित है कि जब देवता असुरों से संग्राम करने की तैयारी कर रहे थे, तब वे आपस में बोले कि—'आओ हम इस पृथिवी का जो कुछ भी भाग यज्ञ के योग्य हो; उसे चन्द्रलोक में स्थित कर दें, क्योंकि यदि कहीं असुरगण विजयी हो गये तब हम लोग यज्ञ-यागादि कर्म नहीं कर पायेंगे। अतः अर्चना और

---

1. श० ब्रा० 1. 6. 3. 17 — मा नु मे प्रहर्षीस्त्वं....चन्द्रमसं चकार।
2. श० ब्रा० 2. 4. 4. 19 — तद्वाऽएतां॒ रात्रिं। मित्रावरुणे रेतः सिञ्चति तदेतेन रेतसा प्रजायते यदापूर्यते तद्यदेषात्र मैत्रावरुणी...।
3. गो० ब्रा० उ० 1. 10।
4. श० ब्रा० 1. 6. 4. 15 — स यत्रैष एतां॒ रात्रिं न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृश्यते लोकमागच्छति। स इहापश्चौषधींश्च प्रविशति तदेन-मद्भ्य ओषधिभ्यः सम्भृत्याहुतिभ्योऽधिजनयति स एष आहुतिभ्यो जनः पश्चाद्ददृश्यते।
द्र० वही 1. 6. 4. 5, 2. 4. 4. 20 तथा तै० ब्रा० 3. 9. 5. 4
5. श० ब्रा० 10. 3. 1. 27 — सर्वेषां भूतानामात्माभवच्छन्दोमयस्तोममयप्राणमयो देवतामयः स एतन्मय एवं भूत्वोर्ध्वमुदक्रामत् स यः उदक्रामदेष स चन्द्रमाः।

श्रम द्वारा वैभव प्राप्त करने की इच्छा से वे पृथिवी के पवित्र यज्ञ-यीग्य भाग को चन्द्र लोक में स्थापित कर दिये। पृथिवी का यही भाग चन्द्रमा पर काले धब्बे के रूप में दिखाई देता है[1]। पृथिवी का यह भाग अनामृत होता है, क्योंकि वह दिव्य आपः तथा सोम से युक्त है। यह पृथिवी के ऊपरी भाग में ही प्राप्त होता है; उसके गर्भ में नहीं; किन्तु मन्त्रब्राह्मण में एक स्थल उपलब्ध होता है जहाँ कहा गया है कि चन्द्रमा में जो कृष्णता है वह पृथिवी का हृदय है[2]। अस्तु, यही चन्द्रमा का कलंक सूचक भी है। ब्राह्मणग्रन्थों में सम्भवतः इसीलिए 'शश' शब्द प्रयुक्त है, जिसका प्रमाण जैमिनीय-ब्राह्मण में उपलब्ध होता है कि चन्द्रमा के अन्दर निश्चित ही यह शश है[3]।

चन्द्रमा तथा आपः—

चूंकि सूर्य आपः में उद्भूत है, जैसा कि आदित्य के प्रकरण में कथित भी है, और चन्द्रमा सूर्य से उत्पन्न है, यह बात भी पूर्व वर्णित है। अतः चन्द्र का आपः से भी सम्बन्ध माना जा सकता है। ताण्ड्यब्राह्मण में कहा भी गया है कि हे सोम! तुम आपः के पुष्प हो'[4]। पुराणों में भी इसी तथ्य के अनेक प्रमाण मिलते हैं[5]।

चन्द्र-दीप्ति—

पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युः इन तीनों लोकों में आदित्य ही एकमात्र दीप्ति-पुञ्ज है। चूँकि जब चन्द्रमा की उत्पत्ति आदित्य से स्वीकार की गयी है, तब वह उसकी ही दीप्ति से दीप्तिमान् हो सकता है। वायुपुराण में कहा गया है कि शुक्लपक्ष के प्रारम्भ से चन्द्रमा आदित्य के सामने रहता है, जो प्रतिदिन क्रमशः दीप्ति से पूर्ण होता रहता है[6]।

सूर्य अपने एक रश्मि से सोम (चन्द्रमा) का पान कर लेता है तथा सुषुम्ना से

---

1. श० ब्रा० 1. 2. 5. 18 — देवा ह वै संग्रामं सन्निधास्यन्तस्ते होचुर्हन्त यदस्यै पृथिव्या 'अनासृतं' देवयजनं तद चन्द्रमसि निदधामहे।...तदेतत् चन्द्रमसि कृष्णम्।
2. म० ब्रा० 1. 5. 13 — चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयं श्रितम्।
3. जै० ब्रा० 1. 28 — एष वै शशो एषो यऽन्तश्चन्द्रमसि एष हीदं सर्वं शास्ति।
4. तां० म० ब्रा० 1. 6. 8 — अपां पुष्पमसि।
   द्र० तै० ब्रा० 1. 7. 6. 3
   नन्द्राह्यापः।
5. वा० पु० 50. 4 — उद्काश्चन्द्रमाः स्मृतः।
   ब्रा० पु० 24. 4. — पठ्यते चाङ्गिरादित्य उदकं चन्द्रमाः स्मृतः।
6. वा० पु० 52. 55 — सोमस्य शुक्लपक्षादौ भास्करे पुरतः स्थिते। आपूर्यते पुरस्यान्तः सततं दिवसक्रमात्॥

उसे पूर्ण करता है[1]। चन्द्र-दीप्ति के सन्दर्भ में शतपथब्राह्मण का एक स्थल दर्शनीय होगा, जहाँ कहा गया है कि प्राण से अग्नि दीप्त होती है, अग्नि से वायु, वायु से आदित्य तथा आदित्य से चन्द्रमा दीप्त होता है[2]; क्योंकि अन्तरिक्षस्थ वायु के षष्ठ मार्ग में आपःकण चंचल तथा दीप्त हो जाते हैं। वायु ही उन कणों को सूर्य-मण्डल में लेजाकर दीप्त करते हैं तथा आदित्य से चन्द्रमा का दीप्त होना सम्भव है।

शीतरश्मि—

चन्द्रमा का आदित्य से दीप्त होने से उसकी उष्णता स्वाभाविक हो सकती है; किन्तु चन्द्रमा में उष्णता तो होती ही नहीं है; क्योंकि चन्द्रमा की रश्मि (दीप्ति) शैत्यरूप में उत्पन्न होती है[3]।

विष्णु—

द्युस्थानीय सूर्य तथा चन्द्रमा के बाद यज्ञों के प्रतिष्ठित देवता विष्णु का नाम आता है। ब्राह्मणग्रन्थों में विष्णु का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। जब गर्भ में प्रजापति ने अपना रूप लम्बा किया[4], तब प्रजापति ने ही दो यजुषों द्वारा विष्णु की सृष्टि की[5]।

शतपथब्राह्मण में विष्णु को क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा आकाश में तीन पाद-प्रक्षेप करनेवाला कहा गया है। इसीलिए याज्ञिक को भी उसी के पदों पर चलने का निर्देश दिया जाता है[6]। ऐतरेयब्राह्मण में विष्णु सम्बन्धी कुछ मिथक उपलब्ध

---

1. श० ब्रा० 9. 4. 1. 9 — सुषुम्न इति सुषुज्ञिय इति एतत् सूर्यरश्मिरिति। सूर्यस्येव हि चन्द्रमसो रश्मयः।
2. श० ब्रा० 1. 6. 2. 11 — प्राणेन वा अग्निर्दीप्यते अग्निना वायुः। वायुना आदित्यः, आदित्येन चन्द्रमाः। चन्द्रमसा नक्षत्राणि···।
3. ब्र० पु० भाग 24. 130 — शीतरश्मिः समुत्पन्नः कृत्तिकासु निशाकरः।
4. श० ब्रा० 6. 6. 2. 12 — प्रादेश मात्रो वै गर्भो विष्णुरात्मसमितामेवास्मिन्नेतत्सम्भूतिं दधाति।
   द्र० वही 6. 6. 3. 17 तथा 6. 7. 1. 14
5. तै० ब्रा० 2. 3. 2. 4. — (प्रजापतिः) यजुर्भ्योऽधिविष्णुम् (असृजत्) विष्णुं यश आच्छंत। तम् आलभत्। विष्णोरध्योषधीरसृजत।
6. श० ब्रा० 1. 9. 3. 9 — यद्वेव विष्णुक्रमान्क्रमते। यज्ञो विष्णुः स देवेभ्य इमां विक्रान्ति विचक्रमे यैषामियं विक्रान्तिरिदमेव प्रथमेन पदेन पस्पाराथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेनैताम्वेवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्तिं विक्रमते तस्माद्विष्णुक्रमान्क्रमते।
   द्र० तै० ब्रा० 3. 1. 2. 6

होते हैं, जिनका क्रमशः उल्लेख किया जायेगा। देवासुरों की प्रतिस्पर्धा में असुरों के विरुद्ध युद्ध-रत इन्द्र तथा विष्णु ने सर्वसम्मति से एक निर्णय लिया कि अपने तीन क्रमों डगों) से विष्णु जितना क्षेत्र नाप सकेंगे, उसपर समस्त देवों का आधिपत्य रहेगा। तदनन्तर विष्णु ऐसा करने में सफल हो गये[1]। शतपथब्राह्मण में भी यही मिथक मिलता है, जो कुछ विस्तार से है। इसके अनुसार जब असुर देवोंपर विजयश्री प्राप्त कर लिये, तब वामनरूपधारी विष्णु ने यज्ञ करने के लिए पृथिवी के कुछ भाग को असुरों से माँगा। असुरगण उन्हें मात्र उतना ही स्थल देने को सहमत हुए, जितने पर वह वामनपुरुष लेट सकता था। फलस्वरूप इसके, उस मायावी विष्णु ने सम्पूर्ण पृथिवी को अपने अधिकार में कर लिया[2]।

इस मिथक में विष्णु के डग भरने की बात नहीं कही गयी है; किन्तु उसके लेटने का ही वर्णन है। इसी ग्रन्थ के एक अन्य स्थलपर कहा गया है कि विष्णु ने देवों के लोकों पर पाद प्रक्षेप कर अपराजिता शक्ति को अर्जित किया था[3]। गोपथ-ब्राह्मण में विष्णु की पत्नी पङ्क्ति का नाम आया है। विशेष कर उसके पराक्रम के सन्दर्भ में 'पङ्क्ति' विष्णु की मायास्वरूप मानी गयी है; क्योंकि वह उसी से शक्तिशाली हुआ[4]। शतपथब्राह्मण के एक अन्य स्थलपर यह कहा गया है कि चूँकि विष्णु ने सर्वप्रथम यज्ञ को पूर्ण किया था, इसलिए वह देवताओं में सर्वश्रेष्ठ हो गया[5]। इस प्रकार जो विष्णु है, वह यज्ञ है तथा जो यज्ञ है, वह आदित्य है[6]। विष्णु की सर्वोच्चता को ऐतरेयब्राह्मण में भी स्वीकार किया गया है[7]। यहाँ तक कि अग्नि को निम्नस्तरीय

---

1. ऐ० ब्रा० 6. 15 — विष्णुस्त्रिविक्रमते तावदस्माकम् अथ युष्माकमितरदिति। स इमांल्लोकान्विचक्रमेऽथो वेदानथ्यो वाचं तदाहुः.......।

2. श० ब्रा० 1. 2. 5. 6-7 — ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य। छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन्। गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामीति........इमाँ सर्वां पृथिवीं समविन्दन्त......।

3. श० ब्रा० 1. 9. 3. 9 — यज्ञो विष्णुः स देवेभ्यः इमां विक्रान्तिं विचक्रमे यैषामियं विक्रान्तिरिदमेव प्रथमेन पादेन पस्पारार्थेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेन।

द्र० तै० सं० 2. 1. 3

4. गो० ब्रा० उ० 2. 9 — पङ्क्तिः विष्णोः पत्नी।

5. श० ब्रा० 14. 1. 1. 5 — तद्विष्णुः प्रथमः प्राप स देवानां श्रेष्ठोऽभवत्तस्मादाहुर्विष्णुर्देवानां श्रेष्ठः इति।

6. वही 14. 1. 1. 6 — स यः स विष्णुर्यज्ञः। सः यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः

द्र० वही 5. 2. 3. 6 — यो वै विष्णुः स यज्ञः।

7. ऐ० ब्रा० 1. 1 — ...विष्णुः परमं।...एते वै यज्ञस्यान्त्ये तन्वौ यदग्निश्च विष्णुश्च।

तथा विष्णु को उच्चस्तरीय मानकर समस्त देवगणों को इसी के मध्य में रखा-गया है[1]।

अन्ततः विष्णु के अवतार का भी वर्णन शतपथब्राह्मण में उपलब्ध होता है। मनु-मत्स्य प्रकरण में मत्स्य विष्णु का ही अवतारस्वरूप है[2]।

अन्तरिक्षस्थानीय देवता—

द्युस्थानीय देवताओं की सृष्टि विवेचनोपरान्त अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं का क्रम आता है। इसमें मुख्यतः इन्द्र, वसु तथा रुद्र का नाम लिया जा सकता है, जिनकी सृष्टि-सम्बन्धी भूमिका निम्नलिखित होगी—

इन्द्र की उत्पत्ति—

इन्द्र अन्तरिक्षस्थान का प्रमुख देवता है। वैदिक असुरों से लोहा लेनेवाला यदि कोई था तो वह है इन्द्र। यह इन्द्र देवगणों का प्रमुख सेनापति भी है।

शतपथब्राह्मण में इन्द्र की उत्पत्ति का एक स्थल उपलब्ध होता है, जहाँ कहा गया है कि ब्रह्मत्व सदस में 'साम' नर होता है तथा 'ऋक्' नारी होती है। ये दोनों (साम तथा ऋक्) जब स्त्री-पुरुषभाव से मैथुन करते हैं, तब परिणामस्वरूप इन्द्र की उत्पत्ति होती है। इस ऋक् तथा साम के तेज से इन्द्र उत्पन्न होकर सूर्य के समान ही तपता है[3]। इसी ग्रन्थ में इन्द्र सम्बन्धी एक रोचक मिथक मिलता है, जिसमें वर्णित है कि एकबार यज्ञ ने वाणी के साथ प्रसंग करने का विचार किया तथा उसके साथ प्रसंग किया भी। तब इन्द्र ने सोचा कि इस यज्ञ और वाणी के प्रसंग से एक भीषण राक्षस उत्पन्न होगा, जो मुझे पराजित कर देगा। अतः इन्द्र को एक उपाय सूझा कि मैं इसके गर्भ में स्वयं गर्भ बनकर प्रवेश कर जाऊँ, जिससे उस राक्षस को उत्पन्न होने से रोक सकूँगा। इस प्रकार पूर्णगर्भ कालोपरान्त वह इन्द्र ही पुनः उत्पन्न हुआ[4]।

तैत्तिरीयब्राह्मण के अनुसार प्रजापति जब देवासुरों की सृष्टि कर चुके; किन्तु

---

1. ऐ० ब्रा० वही — अग्निर्वै देवानामवमो.......तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः।
2. श० ब्रा० 1. 8. 1. 1-10।
3. श० ब्रा० 4. 6. 7. 11 — तद्वाऽएतद् वृषा साम योषामृचं सदस्यध्येति तस्मान्मिथुनादिन्द्रो जातस्तेजसो वै तत्तेजसो जातं तद् ऋचश्च साम्नश्चेन्द्र इन्द्र इति ह्येतमा चक्षते य एष तपति।
4. श० ब्रा० 3. 2. 1. 25-56 — सोऽयं यज्ञो वाचमभिद्दयौ मिथुन्येनयास्यामिति तां संबभूव। इन्द्रो ह वा ईक्षांचक्रे महद्वाऽइतोऽभ्व जनिष्यते यज्ञस्य च मिथुनाद्वाचश्च यन्मा तन्नाभिभवेदिति स इन्द्र एव गर्भो भूत्वैतन्मिथुनं प्रविवेश।

इन्द्र को नहीं उत्पन्न कर सके, तब देवताओं ने कहा कि हम इन्द्र को स्वयं उत्पन्न करेंगे; किन्तु प्रजापति ने पुनः कहा कि हमने जैसे तुम सबको उत्पन्न किया है, वैसें ही हम इन्द्र को भी उत्पन्न करेंगे। उसने तपस्या द्वारा इन्द्र को उत्पन्न कर दिया[1]। जैमिनीय आचार्य ने भी इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। उनके अनुसार वसु, इन्द्र तथा आदित्य आदि के सृजनोपरान्त प्रजापति ने इन्द्र को उत्पन्न किया था[2]। प्रजापतिं ने अपनी भुजाओं द्वारा इन्द्र को सृष्ट किया था, इसी सम्बन्ध में जैमिनीयब्राह्मण का एक स्थल दर्शनीय होगा, जहाँ कथित है कि प्रजापति ने अपने भुजाओं तथा उरस् द्वारा पन्द्रह स्तोमों का सृजन किया तथा इन्द्र, राजन्य एवं अश्व को भी। इस प्रकार वह अपने भुजाओं द्वारा इन्द्र को शक्तिशाली बनाता है, क्योंकि उसने अपनी भुजाओं तथा उरस् से ही उसे उत्पन्न किया था[3]। वृत्रवध के प्रकरण में इन्द्र ने जब गायों का संरक्षण ग्रहण कर लिया तब उन गायों ने उसको पुनः उत्पन्न किया[4]। इस प्रकार इन्द्र का दो जन्म स्वीकार किया गया, प्रथम प्रजापति द्वारा तथा द्वितीय वाग् एवं गौ द्वारा।

इन्द्र द्वारा सृजन-कार्य—

जब इन्द्र ने वृत्र, नमुचि तथा विश्वरूप को मार डाला, तब वे ही अनेक वस्तुओं की सृष्टि के कारण बने। अप्रत्यक्षरूप से वह इन्द्र उन वस्तुओं का सृष्टिकर्त्ता बन गया। वृत्रवध के प्रकरण में वृत्र के नेत्र से इन्द्र ने त्रिककुद् नामक पर्वत का निर्माण किया था[5]। वृत्र का वध करने के लिए इन्द्र ने स्वयं वज्र का निर्माण किया था[6]। इस प्रकार जब उसने वृत्र पर वज्र का प्रहार किया, तब कहा कि इसका चतुर्थभाग स्फ्य (लकड़ी की तलवार, एक याज्ञिक उपकरण) हो जाय। तब वह वैसा ही हो गया।

---

1. तै० ब्रा० 2. 2. 10. 1 — प्रजापतिरिन्द्रमसृजताऽऽनुजावरं देवानाम्।
   वही 2. 2. 3. 3 — प्रजापतिर्देवासुरानसृजत। स इन्द्रमपि नासृजत्। तं देवा अब्रुवन् इन्द्रं नो जनयेति। सोऽब्रवीत्। यथाऽहं युष्मांस्तपसाऽसृक्षि। एवमिन्द्रं जनयध्वमिति। ते तपोऽतप्यन्त स आत्मन्निन्द्रमपश्यन्।
2. जै० ब्रा० 2. 141 — प्रजापतिर्देवान् असृजत्। ··अथेन्द्रम् असृजत।
3. जै० ब्रा० 1. 68 — स बाहूभ्याम् एवोरसः पञ्चदशं स्तोमम् असृजत। त्रिष्टुभं छन्दो बृहत साभेन्द्रं देवता···ऐन्द्रदेवतया तस्माद् उ बाहूभ्यां वीर्यं करोति। बाहूभ्यां ह्येनम् उरसो वीर्याद् असृजत्।
4. जै० ब्रा० 3. 19 — इन्द्रो वृत्रं वज्रेणाभ्यस्य नास्तृषीति मन्यमानो गाः प्राविशत। ता अकामयतेन्द्रं जनयेमिति। ता एतानि सामान्यपश्यंस्त्वाष्ट्री सामानि तैरिन्द्रम् अजनयन्।
5. श० ब्रा० 3- 1. 3. 12 — त्रैककुदं भवति यत्र वा इन्द्रो वृत्रमहंस्तस्य यदक्ष्यासीत्तं गिरिं त्रिककुदमकरोत्तद्यत्त्रैककुदं भवति।
6. जै० ब्रा० 1. 195 — सेन्द्रेण वज्रेण वृत्रं पाप्मानं हनासीति।

सौत्रामणिहविः प्रकरण में इन्द्र के प्रत्येक अङ्गों से निकले हुए वीर्य (इन्द्रत्व) से बकरा, कुवल (फल), मेष (भेड़), गौ, कर्कन्धु (बेर फल), घोड़ा, रजत, स्वर्ण, व्याघ्र, बाजरा, अश्वत्थ, उदुम्बर (गूलर) तथा व्रीहि आदि अनेक प्रकार की वस्तुओं की सृष्टियाँ हुईं[1]। इसका आंशिक वर्णन द्वितीय अध्याय के अन्न-सृजन-विवेचन में कर दिया गया है। देवताओं ने इन्द्र से ही विश्वामित्र को उत्पन्न किया था[2]।

रुद्र—

वाणी में प्रवेश कर प्रजापति ने रुद्र की उत्पत्ति की थी[3]। इस प्रकार उसने अपने ग्यारह बूँदों से मन तथा वाणी के मिथुन द्वारा गर्भ धारण कराया[4]। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति के आँसुओं से रुद्र की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है[5]। जैमिनीयब्राह्मण के अनुसार पञ्चदशस्तोम के साथ त्रिष्टुभ् का उच्चारण करने पर रुद्र की उत्पत्ति हुई[6]।

वसु—

अन्य देवताओं की तरह वसु भी प्रजापति द्वारा सृष्ट हुए थे[7]। एकादश रुद्रोत्पत्ति के समान ही आठ वसुओं की उत्पत्ति में प्रजापति ने अपने आठ बूंदों से मन तथा वाणी के मिथुन द्वारा गर्भ धारण कराया[8]। जैमिनीयब्राह्मण के अनुसार त्रिवृत्स्तोम के साथ गायत्री छन्द का उच्चारण करके एका देवता ने वसु को उत्पन्न किया[9]। कहीं-कहीं तो वसु की उत्पत्ति सूर्य से भी हुई मानी गयी है।

---

1. श० ब्रा० 12. 7. 1. 2-9 — तस्याक्षिभ्यामेव तेजोऽस्रवत् सोऽजः पशुरभवत्।...... लोमेभ्यऽएवास्य चित्तमस्रवत्, ते श्यामाका अभवन्।
2. श० ब्रा० 12. 1. 2. 2 — स्वरसामानऽइन्द्राद्विश्वजितमुक्तौ।
   द्र० गो० ब्रा० पू० 4. 9
3. जै० ब्रा० 2. 252 — स वाचम् असृजत्। वाचो गां निरमिमीत स एक्षतालं वै तस्मा अस्मि यत् सृजेयेत् तद् अन्नं लभेत यत् सृजेय, हन्त सृजा इति। रुद्रान् (असृजत्)।
4. श० ब्रा० 6. 1. 2. 7. — स मनसैव वाचं मिथुनं समभवत्स एकादश द्रप्सा-नागर्भ्यभवत्तऽएकादश रुद्रा असृज्यन्त।
5. श० ब्रा० 9. 1. 1. 6 — ...सोऽरोदीत्तस्य यान्यश्रूणि प्रास्कन्दंस्तान्यस्मिन्मन्यौ प्रति अतिष्ठत् स एव शतशीर्षारुद्रः समभवत्।
6. जै० ब्रा० 3. 363 — पञ्चदश स्तोमेन त्रिष्टुभम् अध्यैत् (अभ्यक्रन्दत्) ततो रुद्रान् असृजत् (इन्द्रमुखान्)।
7. जै० ब्रा० 2. 252 — ...स वसून् असृजत्।
8. श० ब्रा० 6. 1. 2. 6 — स मनसा वाचं मिथुनं समभवत् सोऽष्टौ द्रप्सानागर्भ्य-भवन्तेऽष्टौ वसवोऽसृजन्त।
9. जै० ब्रा० 3. 381 — स त्रिवृत् स्तोमेन गायत्रीम् अभ्यक्रन्दत। ततो वसून् सृजताग्निमुखान्।
   द्र० वही 3. 363 — ततो वसून् असृजत्।

विश्वेदेवा—

प्रजापति 'विश्वेदेवों' के जनक हैं[1]। उसने अपने उदर से इसे उत्पन्न किया[2]। इसकी सृष्टि में भी प्रजापति द्वारा मन तथा वाणी का मिथुनीभाव हुआ, जिसके फलस्वरूप विश्वेदेवा का जन्म हुआ[3]। जैमिनीयब्राह्मण के अनुसार एकविंशतिस्तोम के साथ अनुष्टुप् छन्दोच्चारण के माध्यम से विश्वेदेवा की उत्पत्ति मानी गयी है[4]।

पार्थिवदेव—

पार्थिवदेव मुख्यतः पृथिवीलोक से ही सम्बन्धित होते हैं। ये देवगण गृहस्थ लोगों द्वारा लोक में नित्य सम्मानित किये जाते हैं। इनमें अग्नि सर्वोच्च हैं।

अग्नि—

द्युलोक में यदि सूर्य तथा चन्द्रमा प्रमुख हैं तथा अन्तरिक्ष में इन्द्र हैं, तब पृथिवी पर अग्नि की प्रमुखता है। अग्नि ही वह पार्थिव देव है, जिसकी देवों के सांसारिक कव्य के केन्द्र यज्ञाग्नि के मूर्तिकरणरूप में स्वभावतः सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। वैदिकदेवों में इन्द्र के बाद इसी का प्रमुख स्थान है[5]। ऐतरेयब्राह्मण में भी कथित है कि मनुष्यों द्वारा प्रज्वलित होने के कारण अग्नि पार्थिव है[6], किन्तु वहीं इसे स्वर्गस्थानीय भी कहा गया है, क्योंकि वहाँ देवताओं द्वारा इसका प्रज्वलित होना स्वीकार किया गया है।

अग्नि-सृजन—

ब्राह्मणग्रन्थों में अग्नि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक स्थल उपलब्ध होते हैं। सृष्टि के आदि में स्थित एक मात्र प्रजापति के बहुत होने की कामना के अनन्तर ही अग्नि की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है[7]। शतपथब्राह्मण के एक स्थल के अनुसार

---

1. जै० ब्रा० 3. 375 — विश्वे वै देवाः पितरं प्रजापतिम्।
2. वही 1. 69 — स उदराद् एव···विश्वान् देवान् (असृजत्)।
3. श० ब्रा० 6. 1. 2. 9 — स मनसैव वाचं मिथुनं समभवत्, स गर्भ्यभवत्स विश्वान् देवानसृजत्।
4. जै० ब्रा० 3. 381
5. वै० मा० (ए० ए० मैक्डानेल) अनुवादक–रामकुमार राय पृष्ठ-167
   See-La Religion Vedique Vol. 1, Page 44 by–BERGAIGNE — "Hence that is because he is a priest the first among the priests that Agni is called the leader of men".
6. ऐ० ब्रा० 2. 34 — इमं हि मनुष्या इंधतेऽग्निमेव तदस्मिन् लोक आयातयत्।
7. श० ब्रा० 11. 1. 6. 14 — प्रजापतेरधि देवताऽसृज्यन्ताग्निः।
   द्र० वही 2. 2. 4. 2 — तद्वा एवमेतदग्रे देवानामजनयत् तस्मादग्निरग्रिर्हं वै नामैतद् यदग्निः इति।
   द्र० वही 6. 1. 1. 11
   द्र० तै० ब्रा० 1. 1. 3. 11 — प्रजापतिः अग्निमसृजत।

हिरण्यगर्भ के भीतर स्थित प्रजापति ने सर्वप्रथम जिस वस्तु को उत्पन्न किया, वही अग्नि कहलाया[1]। सम्भवतः इसी कारण अग्नि को प्राजापत्य भी कहते हैं। सर्वप्रथम प्रजापति ने उस अग्नि को रोहिणी नक्षत्र से उत्पन्न किया[2], जैसा कि तैत्तिरीयब्राह्मण में कथित भी है। जैमिनीयब्राह्मण के अनुसार प्रजोत्पत्ति के प्रसंग में प्रजापति ने अग्नि को अपने मुख से उत्पन्न किया[3], क्योंकि अग्नि ही प्रजाओं का मुख होता है[4]। इसी प्रकार के प्रसंग में प्रजापति ने तीनों लोकों का सृजन कर उसे तपाया तथा अग्नि को पृथिवी से ऊपर उठाया[5]। इसी से अग्नि का स्वर्गस्थ होना ज्ञातव्य है। तैत्तिरीय-आरण्यक के अनुसार अग्नि की उत्पत्ति प्रजापति के मुख से हुई[6]। यह अग्नि उत्पन्न होकर दीप्त नहीं हुआ। अतः प्रजापति ने इसे चमकने के लिए साम-मन्त्रों से फूँका तथा इस अदीप्त अग्नि ने दीप्त होने के लिए स्वयं छन्दों को देखा[7]।

---

1. श० ब्रा० 6. 1. 1. 11 — अथ यो गर्भोऽन्तरासीत् सोऽग्निरसृज्यत स यदस्य सर्वस्याग्रम् असृज्यत् तस्मादग्निरग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते।
   See—The History of Indian-Lit. by M. Winternitz. Vol. 1 Page 175-176 — "And then first created the water with the aid of the egg out of the egg arose Agni…"
2. तै० ब्रा० 1. 1. 2. 2 — प्रजापतिः रोहिण्यामग्निमसृजत।
3. जै० ब्रा० 1. 73 — प्रजापतिः प्रजा असृजत्। सोऽग्निमपि असिसृक्षत।
4. जै० ब्रा० 1. 63 — आग्नेयोदेवत्या तस्माद् उ मुखं प्रजानाम्।
   द्र० का० श० ब्रा० 1. 10 — प्रजापतिर्ह वै प्रजाः ससृजिरे तवप्येतमग्निं ससृजे सोऽग्निः सृष्ट इमाः प्रजा दग्धुं दध्रे।
5. जै० ब्रा० 1. 357 — त्रीणि शुक्राण्य उदायन। अग्निः पृथिव्या।
   द्र० ऐ० ब्रा० 55. 7 — स तपोऽतप्यत्। स तपस्तप्त्वेमां लोकानसृजत पृथिवीमन्तरिक्षं दिवं तां लोकानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींष्यजायन्त अग्निरेव पृथिव्या।
6. तै० आ० 3. 12 — मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च।
7. ता० ब्रा० 13. 3. 22 — अग्निः सृष्टोनोददीप्यत। तं प्रजापतिरेतेन साम्नोपाधमत् स उददीप्यत्।
   द्र० श० ब्रा० 4. 5. 4. 3 — नो ह वा इदमग्रेऽग्नीवर्च आस। यदिदमस्मिन्वर्चः सोऽकामयत् इदं मयि वर्चः……ततोऽस्मिन्नेतद् वर्च आस।
   द्र० का० सं० 13. 3 — अग्निर्वै जातो न व्यरोचत्। सोऽकामयत् तेजस्वी स्यामिति। सोऽग्नये तेजस्विनेऽजं कृष्णग्रीवम् आलभत्। ततो वै स तेजस्वी अभवत्।
   द० मै० सं० 2. 5. 11

अग्नि का एक नाम जातवेदस् भी है। शतपथब्राह्मण में इस 'जातवेदस्' (अग्नि) की उत्पत्ति प्राण से बतायी गयी है[1]। ऋग्वेदीयब्राह्मणग्रन्थों में दो अरणियों (लकड़ियों) के घर्षण अथवा मन्थन से अग्नि की उत्पत्ति बतलायी गयी है। यह मन्थन सोम राजा के आ जाने पर ही किया जाता है[2]। ये दो अरणियाँ देवताओं के रथ का अंग होती हैं। मन्थन-क्रिया से उत्पन्न होकर अग्नि याज्ञिकों द्वारा उस रथ पर आरूढ होता है तथा याज्ञिकों सहित वह रथ स्वर्ग को जाता है[3]। चूंकि स्वर्ग और पृथिवी-लोक के मध्य में देवताओं ने अग्नि का ही अधिग्रहण किया, अतः ऐतरेयब्राह्मण में इसे वायु से उत्पन्न होना कहा गया है[4]।

अग्नि का त्रिधा जन्म—

ब्राह्मणग्रन्थों में अग्नि का त्रिधा (तीन बार) जन्म स्वीकारा गया है। इस सन्दर्भ में यजुर्वेद का एक मन्त्र दर्शनीय होगा, जहाँ एक ही साथ अग्नि के तीनों जन्मों को दर्शाया गया है। सर्वप्रथम अग्नि यज्ञ में प्राणवायु से उत्पन्न हुई, जैसा कि ऊपर कथित भी है। द्वितीयतः जब गर्भ अथवा 'अण्ड' हिरण्यगर्भ बना, तभी अग्नि की उत्पत्ति हुई। वह हिरण्यगर्भ अथवा पुरुषगर्भ था। इसे ही जातवेदस् भी कहा जाता है। इस अग्नि का तृतीय जन्म आपः से हुआ अर्थात् समुद्ररूपी तृतीय यज्ञ में अग्नि बडवानल के रूप में उत्पन्न हुआ। यही अग्नि का तृतीय जन्म है[5]।

कुमारोत्पत्ति—कुमारोत्पत्ति का रोचक वृत्तान्त शतपथब्राह्मण में उपलब्ध होता है[6], जहाँ कथित है कि सृष्ट्यादि में स्थित एकमात्र प्रजापति ने अपनी प्रजा-

---

1. श० ब्रा० 6. 7. 4. 3 — प्राणो वै दिवः। प्राणाद् वाऽएष प्रथमजायतास्म द्वितीयंपरि जातवेदा इति।
   द्र० वही 6. 4. 2. 1 — प्राणो वाऽएतमग्रे निरमन्थत्तद्योऽसावग्रेऽग्निरसृज्यत।
   द्र० वही 7. 2. 3. 5 — एतद्वै यत्रैतं प्राणा ऋषयोऽग्रेऽग्निं समस्कुर्वत।
   द्र० वही 9. 2. 1. 13
2. ऐ० ब्रा० 1. 15 — अग्निं मन्थति सोमे राजन्यागते।
3. कौ० ब्रा० 2. 6 — अथ यदरण्योरग्नीन्समारोहते। देवरथो वा अरणी। देवरथ एवैनं तत्समारोहयते स एतेन देवरथेन स्वस्ति स्वर्गं लोकं समश्नुते।
4. ऐ० ब्रा० 40. 5 — वायोरग्निर्जायते।
5. यजु० सं० 12. 18 — दिवस्परि प्रथमं यज्ञे अग्निरस्मि द्वितीयं परि जातवेदाः। तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधी।
   द्र० वही (श० ब्रा०) 6. 7. 4. 3 — दिवस्परि प्रथमं यज्ञे प्राणो वै दिव······यदेनमदो द्वितीयं पुरुषविधोऽजनयत् तृतीयमप्स्विति यदेनमदस् तृतीयम् अद्भ्योऽजनयत्।
6. श० ब्रा० 6. 1. 3. 1-20

कामिता से युक्त होकर श्रम एवं तप द्वारा आपः (महान् जल) को उत्पन्न किया। उस उत्पन्न आपः ने कहा कि हम कहाँ स्थिर होंगे? इसके निवारणार्थ फेन की उत्पत्ति हुई। पुनः फेन ने भी इसी तरह की कामना व्यक्त की, जिसके निवारणार्थ मृद् (मिट्टी), सिकता (बालू), शर्करा (चूर्ण) तथा अश्म (लौह) के रूप में अविनाशी तत्त्वों की उत्पत्ति होती गयी और इसी क्रम में आपः के प्रतिष्ठास्वरूप पृथिवी का निर्माण भी हुआ, जो भूतों की अधिष्ठात्री बनी। इस प्रकार शतपथब्राह्मण में कथित है कि ऋतुओं का आस्पद 'संवत्सर' समस्त भूतों का पति हुआ तथा 'उषा' गृहपति (पत्नी) बनी। इसी स्त्री-पुरुष व युग्म के रेतस्-संयोग के फलस्वरूप कुमार की उत्पत्ति हुई। उत्पन्न होकर कुमार ने रुदन किया। प्रजापति ने उसके रुदन का कारण पूछा, जिसके उत्तर में कुमार ने कहा कि मैं अनुपहतपापवाला हूँ[1]। मुझे अहितनाम की संज्ञा मत दो[2]।

इसके अनन्तर प्रजापति ने उसको 'रुद्र' इस संज्ञा से अभिहित किया। वह कुमार उपर्युक्त नाम से भी सन्तुष्ट नहीं हुआ और परिणामस्वरूप प्रजापति ने उसके लिए शर्व, पशुपति, उग्र, शनि, भव, महादेव, तथा ईशान आदि संज्ञाओं का विधान किया, जिसकी संयुक्ति आठ होती है। ये नाम अग्नि के ही हैं, जैसा कि ब्राह्मणग्रन्थों में कथित भी है[3]। अन्ततः कुमार ने नवाँ स्थान ग्रहण किया। इस प्रकार वह कुमार भी अग्नि की ही प्रतिमूर्ति है।

यहाँ अग्नि के जो आठ रूप बताये गये हैं, वह अष्टाक्षरा गायत्री छन्द ही है; क्योंकि गायत्री को अग्नि भी कहा गया है और वही गायत्र्यग्नि कुमार के रूप में प्रविष्ट हो गयी। इस सन्दर्भ में अग्नि को कुमार के रूप में नहीं देखा गया। अतः जितने रूपों को देखा गया, वे ही उस कुमार के अन्तर्गत प्रविष्ट हुए। इस वृत्तान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुमार अग्नि का ही रूप है, इतर कोई वस्तु नहीं। प्रो० राहुरकर ने तो कुमार की व्याख्या इस ब्राह्मणग्रन्थीय मान्यता से नितान्त भिन्न अर्थ में की है। उनके अनुसार कुमार यमायन है, जो ऋग्वेद (१०·१·३५) से स्पष्ट होता है। इस सूक्त में यम और कुमार का संवाद वर्णित है। सम्भवतः यही कुमार वाजश्रवा का पुत्र नचिकेता है, किन्तु सन्दर्भतः यह स्थल गौण है। मुख्यरूप से तो ब्राह्मण-

1. सर मोनियर विलियम्स ने 'अनपहतपाप' की व्याख्या देवताओं से पृथक् पितर अर्थ में की है।
(Said at the Pitris to distiuguish them from the Devas) not freed from evic.

—Sanskrit English Dictionary, Page-25 Colm 3.

2. अहितनाम = Having yet no name.

—Same Page 125 Colms 2.

3. श० ब्रा० 6. 1. 3. 18
तान्येतान्यष्टावग्निरूपाणि।

मत ही ग्राह्य है। इस सम्बन्ध में शतपथब्राह्मण के अतिरिक्त जैमिनीयब्राह्मण का भी एक स्थल दर्शनीय होगा, जहाँ कथित है कि कुमारी गर्भधारण करती है, जिससे कुमार-उत्पत्ति हुई[1]। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने तो कुमार को अग्नि का पुत्र कहा है[2]; जबकि इनका कुमार अगाध जलप्लावन में नारायण का ही बालरूप है। इन्होंने कहा है कि अग्नि से अग्नि का जन्म होता है। प्राण से प्राण की शृंखला चलती है। सृष्टि के पूर्व जो अग्नि था, वह सृष्टि में पुनः आया, वही अग्नि का पुत्र कुमार है। इस प्रकार कुमारोत्पत्ति की विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि कुमार-सम्बन्धित विभिन्न मत हैं, किन्तु उनका अग्नि से सम्बन्धित मत प्रौढ़ एवं सन्दर्भ ग्राह्य है।

त्रिवृत् अग्नि—

'त्रिवृत्' का सामान्य अर्थ तीन प्रकार का होता है, अर्थात् अग्नि का तीन स्वरूप होता है। इस सन्दर्भ में शतपथब्राह्मण का एक मिथक है कि जब अग्नि देवताओं से मनुष्यों के पास आया, तब उसने अपने मन में सोचा कि मैं सम्पूर्ण आत्मा से मनुष्यों के पास न जाऊँ। इसलिये उसने इन तीनों लोकों में अपने शरीर के तीन रूपों को रखा। उसने अपने पवमानस्वरूप को पृथिवी लोक पर रखा, पावकरूप को अन्तरिक्ष में तथा शुचिरूप को द्युलोक में रखा। अग्नि के इस रहस्य को ऋषि लोग समझ गये कि यह अपने सम्पूर्ण आत्मा के साथ नहीं आया[3]। अतः यही अग्नि का त्रिवृत्रूप है। इस संदर्भ का एग्लिंग द्वारा अनुवाद भी दर्शनीय होगा[4]। ऋग्वेदसंहिता में भी अग्नि का यह स्वरूप उपलब्ध होता है[5]।

---

1. जै० ब्रा० 3. 197 — सेयं कुमारी गर्भमधत्त। स कुमारोऽजायत।
2. वेदरश्मि–पृष्ठ 13।
3. श० ब्रा० 2. 2. 1. 14 — स एतांस्त्रिस्तनुरेषु लोकेषु विन्यधत्त। यदस्य पवमानं रूपमासीत्तदस्यां पृथिव्यां न्यधत्ताथ यत्पावकं तदन्तरिक्षेऽथ यच्छुचि तद्दिवि। तद्वाऽऋषयः प्रतिबुबुधिरे।
4. Satapath Brāhman, Eggelling trans. 'S. B. E.' — He then laid down in these (three) worlds those three bodies of his that belowing (Pavamān) form of his, he laid down on the earth, that purifying (Pāvaka) one in the ether and that bright (śuchi) one in the sky.
5. ऋ० सं० 9. 66. 20 — अग्निः ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः।
   द्र० वही 5. 26. 1 — अग्ने पावक रोचिषा।
   द्र० वही 8. 44. 21 — अग्निः शुचिव्रततमः।
   द्र० मै० सं० 3, 3. 6 — अग्नेः शुचं शमयति।

अग्नि के इस रूप का स्पष्टीकरण ऋषियों द्वारा प्रयुक्त आहुति विधानों से और अधिक हो जाता है। चूँकि प्राण पवमान होता है, अतः वह 'अग्नि पवमान' के लिए आहुति में निकालता है तथा यजमान में प्राणधारण कराता है। यह आहुति अन्न (प्राण) की ही होती है[1]।

द्वितीय बार वह अग्नि पावक के लिए आहुति देता है। चूँकि अन्न ही पावक है, अतः वह उस यजमान में अन्न को धारण कराता है[2]। तृतीय बार वह ऋषि शुचि अग्नि के लिए आहुति देता है। यह शुचि ही वीर्य है। अग्नि की ज्वालाएँ ही यजमान में वीर्य (पराक्रम) की स्थापना कराती हैं[3]। इन्हीं तीन अग्नियों को जैमिनीयब्राह्मण में 'भूपतिः' 'भुवनपतिः' तथा 'भूतानां पतिः' आदि संज्ञाओं से बोधित किया गया है[4]।

सृष्टिकर्त्ता अग्नि—

प्रजापति द्वारा उत्पन्न होकर अग्नि सृष्टिकर्त्ता के रूप में भी दृष्ट होता है, यहाँ तक कि यह समस्त सृष्टि का ईश है[5]। अग्नि को सृष्टिकारी वीर्य का संग्रह करनेवाला भी कहा गया है[6]। शतपथब्राह्मण में कथित है कि देवताओं ने अग्नि के द्वारा त्वचा को शरीर के चारों तरफ लपेटा; क्योंकि अग्नि मिथुन (जोड़े) का जनक अथवा कर्त्ता है। इस प्रक्रिया से वे देव सन्तानयुक्त हुए। यजमान भी इसी का अनुकरण करते हैं[7]। अग्नि भी प्रजापति की भाँति प्रजाओं का जनयिता है। यही नहीं अग्नि अन्य देवताओं का भी उत्पादक है; क्योंकि देवता लोग कोई भी हवि अपने अग्नि-मुख द्वारा ही प्राप्त

---

1. श० ब्रा० 2. 2. 1-6 — स वाऽअग्नये पवमानाय निर्वपति। प्राणो वै पवमानः प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधाति।
2. श० ब्रा० 2. 2. 1. 7 — अथाग्नये पावकाय निर्वपति अन्नं वै पावकमन्नमेवास्मिन्नेतद्धाति।
3. श० ब्रा० 2. 2. 1; 8 — अथाग्नये शुचये निर्वपति। वीर्यं वै शुचिः, यद्वा अस्यैतदुज्ज्वलत्येतस्य वीर्यं शुचि। वीर्यमेवास्मिन्नेतद्धाति।
4. जै० ब्रा० 2. 41
5. A. B. O. R. I. Vol. LVIII & LIX Agni's Role in the Rigvedic cosmogonic Myth. — Agni became lord of creative power, lord of every possible creative power.
6. तै० ब्रा० 3. 7. 3. 7 द्र० वही 2. 1. 1. 11 — अग्निर्वै रेतोधाः। रेत एव तद्दधाति।
7. श० ब्रा० 3. 4. 3. 4 — तेऽग्निनैव त्वचं विपरस्याङ्गयन्त अग्निर्वै मिथुनस्य कर्ता प्रजनयिता।

करते हैं। अग्नि को प्रजापति भी कहा गया है[1]। इसीलिए चातुर्मास्य-इष्टि का पुरोडाश अग्नि के लिए होता है। अग्नि को 'भुवः' कहा जाता है; क्योंकि उस अग्नि से ही प्रत्येक वस्तुएँ सत्य के अधिकार-क्षेत्र में आयीं[2]। अग्नि द्वारा अनेक वस्तुएँ सृष्ट हुईं। अग्नि अन्य देवताओं का उद्भव-स्थान भी है। ऐतरेयब्राह्मण इस बात की पुष्टि करता है[3]। सूर्य को भी अग्नि से ही उत्पन्न बतलाया गया है[4]। वह सूर्य सायंकाल उस अग्निरूपी योनि में ही छिप जाता है[5]। यह अग्नि 'एकत्', 'द्वित' तथा 'त्रित्' आदि देवताओं की सृष्टि के लिए भी उत्तरदायी है।

इस सन्दर्भ में शतपथब्राह्मण का एक मिथक दर्शनीय होगा, जहाँ कथित है कि पहले अग्नि चार प्रकार का था। होता के लिए पहली बार जिस अग्नि का वरण किया गया था, वह भाग गया। इसी प्रकार दूसरी तथा तीसरी बार भी वह अग्नि भाग गया। तब जो वास्तविक अग्नि था, वह भयभीत होकर जल में प्रविष्ट हो गया; किन्तु देवताओं ने उसे खोज निकाला। इस पर अग्नि ने उस जलपर थूक दिया; क्योंकि वह उनकी रक्षा नहीं कर सका। इस प्रकार उस आपः में से जो देव निकले, वे 'त्रित्' 'द्वित्' तथा 'एकत्' हुए[6]।

---

1. श० ब्रा० 2. 5. 1. 8 — अग्निर्वै देवतानां मुखं प्रजनयिता। प्रजापतिस्तस्मा-दाग्नेयो भवति।
   द्र० वही० 3. 9. 1. 6
   द्र० वही 1. 1. 5. 5 — एष वै प्रजापतिः यदग्निः।
   द्र० वही 6. 8. 1. 4 — प्रजापतिरेषोऽग्निः।
   द्र० वही 2. 3. 1. 8 — प्रजापतिर्वाऽअग्निः।
   द्र० वही 6. 2. 1. 23 — प्रजापतिरग्निः।
2. श० ब्रा० 8. 1. 1. 4 — अयं पुरोभुव इत्यग्निर्वै पुरस्तद्यत्तमाह पुर इति प्राञ्चं ह्यग्निमुद्धरन्ति प्राञ्चमुपचरन्त्यथ यद् भुव इत्याहाग्निर्वै भुवोऽग्नेर्हीदं सर्वं भवति।
3. ऐ० ब्रा० 4. 5 — इदम् अग्नी देव योऽन्यां प्रजनने रेतः सिच्यतेऽग्निर्वै देवयोनिः।
   द्र० वही 6. 3 तथा 7. 4
4. ऐ० ब्रा० 40. 5 — अग्नेर्वा आदित्यो जायते।
5. श० ब्रा० 2. 3. 1. 3 — सूर्यो ह वा अग्निहोत्रं...अथ यस्तमेति तदग्नावेव योनौ गर्भो भूत्वा प्रविशति।
6. श० ब्रा० 1. 2. 3. 1 — चतुर्धा विहितो ह वाऽअग्रेऽग्निरास। स यमग्रेऽग्निं होत्राय प्रावृणत स प्राधन्वत यं......सोऽपोऽभितिष्ठे-वावष्ठं यूतास्य...तत् आप्त्याः सम्बभूवस्त्रितो द्वित एकत।
   द्र० तै० ब्रा० 3. 2. 8. 10-11 — अग्निः सर्वा देवता इति साऽङ्गारेणापः अभ्यपातयत् तत एकतोऽजायत्। स द्वितीयमभ्यपातयत् ततो द्वितोऽजायत्। स तृतीयमभ्यपातयत् ततस्त्रितोऽजायत्। यद्भ्योऽजायन्त।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यह अग्नि सम्पूर्ण विश्व का देवता है। यह अग्नि देवपत्नियों से भी सम्बन्ध रखता है[1]। देवताओं ने अग्नि को द्युलोक तथा पृथिवी के मध्य स्थिर रखा था[2]। यह अग्नि का अतिसूक्ष्मरूप है। इस अग्नि का एक रूप वैश्वानर भी है। 'विश्' का सामान्य अर्थ प्रजा होता है, अर्थात् वह प्रजापति है[3]। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु रूपी तीन विषयों के तीन नरों या प्राणों की जो समष्टि है, उसी को वैदिक संज्ञा में वैश्वानर कहा जाता है[4]। यह जठरस्थ अग्नि वैश्वानर ही है, क्योंकि गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि हे अर्जुन! मैं वैश्वानर होकर प्राणियों के शरीर में स्थित रहता हूँ तथा इनके खाद्य अन्नों को पचाता हूँ[5]। यह वैश्वानर अग्नि पार्थिव अग्नियों की नाभि है[6]। पर्वतों, वृक्षों तथा मनुष्यों आदि में फैली हुई नानाविध अग्नियाँ इसमें उसी प्रकार स्थित हैं, जिस प्रकार सूर्य से रश्मियाँ। वैश्वानर का अनेक रूपों में विभक्त होना ही देवों द्वारा इसका विभिन्न रूपों में उत्पादन करना है[7]। सूर्य से सम्बन्धित होने के कारण वैश्वानर को 'स्वः' भी कहा जाता है[8]।

अग्नि और पुरोहित—

यज्ञ की इच्छा करनेवाला यजमान सर्वप्रथम पुरोहित को नियुक्त करता है। तदनन्तर 'देव मेरे अन्न का उपभोक्ता होवें, इस उद्देश्य से कथित अन्न को स्वर्ग तक

---

1. कौ० ब्रा० 28. 3 — प्रथमतश्चान्ततश्च यजत्यग्ने पत्नीरिति वहेत्याग्नि पात्नीवत्या त्वष्टृमत्या नेष्टा प्रथमतश्चान्तश्च यजत्यग्निर्वै देवानां पात्नीवती··· ।
2. ऐ० ब्रा० 1. 16 — द्यावापृथिवीभ्यां वा एतं जातं देवाः पर्यगृह्णंस्ताभ्या मेवाद्यपिपरिगृह्णीतः ।
   द्र० कौ० ब्रा० 28. 5 तथा 6. 1
3. श० ब्रा० 4. 2. 1. 17 — अद्या होमा प्रजा विशः ।
4. श० ब्रा० 9. 3. 1. 3 — स यः वैश्वानरः इमे स लोका इयमेव पृथिवी विश्वं अग्निर्नरो, अन्तरिक्षमेव विश्वं वायुर्नरा, द्यौरेव विश्वमादित्यो नरः ।
5. गीता 15. 14 — अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
   प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
   द्र० बृ० उ० 5. 9. 1 — अयमग्निर्वैश्वानरो ।
6. ऋ० सं० 1. 59. 1 — वैश्वानरनाभिरसि क्षितानां स्थूणेव जनां उपमिद्य-यन्थ ।
7. ऋ० सं० 1. 69. 2-3 — त्वं त्वा देवासोऽजयन्त देवं वैश्वानरः··· ।
8. वही 1. 59. 4 — स्ववते सत्यशुष्माय पूर्वी वैश्वनाराय नृतमाय यह्वीः ।

ले जानेवाली अग्नियों को स्थापित करता है। इस प्रकार पुरोहित उस यज्ञ का आहवनीयाग्नि होता है। स्त्री गार्हपत्याग्नि तथा पुत्र दाक्षिणाग्नि होता है। ये अग्नियाँ विघ्ननाशक शान्ततनु होकर पुरोहित से अर्चित तथा यजमान से प्रसन्न होकर 'हविष्' को स्वर्गलोक में ले जाती हैं। परिणामस्वरूप वह यजमान के लिए क्षत्र, वल, राष्ट्र तथा प्रजा देनेवाला होता है।

वह पुरोहित जो अग्नि वैश्वानर है, उसमें पाँच विघ्नकारक शक्तियाँ होती हैं। जैसे समुद्र भूमि को घेर कर सुरक्षित रखता है, उसी प्रकार वह राजा को घेर कर उसे सुरक्षित रखता है[1]।

अग्नि का रुद्र, इन्द्र तथा यज्ञ से एकात्मकता—

इस अग्नि का इतना व्यापक स्वरूप है कि उसे रुद्र तथा इन्द्र अथवा यज्ञ की संज्ञा देना अप्रासंगिक नहीं होगा। रुद्र तो प्रत्यक्षतः अग्नि का ही रूप है। अग्नि जब रुद्रस्वरूप यज्ञ की चिति में रश्मिभूत हुआ, तब वह प्रजापति द्वारा उत्पन्न होकर स्वयं रुद्र का उत्पादक बन गया तथा उस रुद्र ने अग्नि का रूप धारण कर लिया[2]। अग्नि और इन्द्र का भी अन्योन्याश्रित होना ब्राह्मणग्रन्थों से पुष्ट होता है। इन्द्र सूर्य (अग्नि) सदृश है[3]। जब कि 'वायु' अग्नि की अपनी महत्ता है, अर्थात् वायु भी अग्नि का रूप है[4]। देवताओं तक द्रव्यादि पहुँचाने की क्रियागुण के कारण अग्नि को 'भरत' कहा जाता है[5]। अग्नि तथा इन्द्र के सन्दर्भ में एक पाश्चात्त्य विद्वान् वरेन्ने का कथन दर्शनीय होगा[6]। यज्ञ के सन्दर्भ में अग्नि महत्त्वपूर्ण देवता है। अग्नि के बिना यज्ञ सम्पादित हो ही नहीं सकता है। यज्ञ की सम्पन्नता से ही देवताओं को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यज्ञ को अग्नि माना जा सकता है। देवता अग्नि

---

1. ऐ० ब्रा० 8. 25. 8 — अग्निर्वाऽएष वैश्वानरः पञ्चमेभिर्यत्पुरोहितस्ताभि-राजानं परिगृह्य तिष्ठति समुद्र इव भूमिं।
2. कौ० ब्रा० 19. 4 — अथैतानमग्निचित्यायो.......रुद्रो ह वा एष (अग्नि) देवानामशान्तः संचितो भवति···।
3. वही 16. 11 — ऐन्द्राग्नान्युक्थ्योक्थानि भवन्तीन्द्राग्नी वै सर्वे देवा वैश्वदेवं....।
4. वही 3. 3 — वायुर्वा अग्ने; स्वो महिमा।
5. 3. 2 — अग्निर्वै भरतः स वै देवेभ्यो हव्यं भरति।
6. A. B. O. R. I. Vol. LVIII & LIX Page 379, — Therefore we shall expect to find Indra and Agni (or Kratu and daksa) as 'Creative power'.......enquiry in the Rigvedic Vision of the birth of the Universe.

के द्वारा ही अग्नि में यज्ञ सम्पन्न करते हैं। आदित्य और अंगिरा भी इसी प्रक्रिया से सम्पन्न होकर स्वर्ग में स्थित हुए[1]।

इस प्रकार अग्नि सभी देवताओं में अग्रगण्य है तथा इसीलिए इसे देवताओं का अधिपति भी कहा गया है, जब कि गन्धर्व तथा अप्सरा आदि अप-देवताओं का सृजन-कार्य प्रजापति द्वारा ही सम्पादित किया गया। यहाँ तक कि प्रजापति स्वयं गन्धर्व एवं अप्सरा बन गये[2]; जो अग्निचयन के परिचयस्वरूप बने[3]। सोम भी प्रजापति द्वारा उत्पन्न हुआ माना जाता है[4]। इस प्रकार प्रमुख देवताओं की उत्पत्ति एवं उनके सृष्टिसम्बन्धी कृत्यों का वर्णन किया गया। अब असुरों के सृजन की विवेचना की जायेगी।

असुर-सृजन—

उपकारी देवताओं के विपरीत ऐसे अनिष्टकर प्राणियों का भी एक वर्ग है, जिसे विभिन्न नामों से पुकारा गया है। समस्त वैदिक साहित्य में असुर उन दिव्य देवताओं का नाम है, जिन्हें उनके पौराणिक संघर्षों में नित्य ही देवों का शत्रु माना गया है और जो वर्तमान मनुष्यों के शत्रु के रूप में अत्यन्त दुर्लभरूप में आते हैं[5]। इस प्रकार असुरों की उत्पत्ति प्रजापति के सृष्टिकारी मुख से देवताओं की सृष्टि हो जाने के बाद उसके निम्न प्राण में हुई। असुरों की उत्पत्ति से ही रात्रि का सृजन हुआ[6]। जैसे कि द्वितीय परिच्छेद में कहा गया है।

तैत्तिरीयब्राह्मण के अनुसार देवताओं तथा असुरों की उत्पत्ति एक साथ हुई[7]। यही नहीं, दोनों देव तथा असुर प्रजापति के ही पुत्र हैं। सम्भवतः इसीलिए

---

1. ऐ० ब्रा० 1. 16 — देवास्तेऽग्रेऽग्निनाग्निमयजन्त ते स्वर्गंलोकम् आयन्न...।
2. श० ब्रा० 9. 4. 1. 2 — प्रजापतेर्विस्रस्तान्मिथुनान्युपक्रामन् गन्धर्वाप्सरसो भूत्वा...।
3. श० ब्रा० 9. 4. 1. 3 — अयमेव स योऽयमग्निश्चीयते।
4. श० ब्रा० 11. 1. 6. 14 — प्रजापतेरधिदेवताऽअसृज्यन्ताग्निरिन्द्रः सोमः परमेष्ठी प्राजापत्यः।
   द्र० तै० ब्रा० 2. 3. 11. 1
5. वै० मा० पृष्ठ 296
6. श० ब्रा० 11. 1. 6. 8 — अथ योऽयमवाङ्प्राणः, तेनासुरानसृजत तऽइमामेव पृथिवीमभिपद्यासृज्यन्त तस्मै ससृजानाय तमऽइवास।
   द्र० वही 2. 4. 2. 5 — तेभ्यस्तमश्च मायां च प्रददावस्त्य हैवासुरमायेति इव।
7. तै० ब्रा० 2. 2. 3. 4 — प्रजापतिर्देवानसुरानसृजत्।
   द्र० जै० ब्रा० 3. 355 — प्रजापतिर्वा......तान् सृष्ट्वा त्रयान् देवानसुरान् असृजत।

इसके लिए 'प्राजापत्य' शब्द प्रयुक्त होता है[1]। तैत्तिरीयब्राह्मण में असुरों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि प्रजापति अपनी सृष्टिकामना के अनन्तर श्रम एवं तपश्चर्या के उपरान्त स्वयं गर्भ-धारण कर पीत और श्याम वर्ण के हो गये। इसीलिए गर्भिणी स्त्री भी पीतवर्ण की होकर श्याम वर्ण की हो जाती है। इस प्रकार गर्भ द्वारा विजन्या होकर वह प्रजापति क्षीणकाय हो गया तथा वह कृष्ण-श्याम वर्ण का भी हो गया। तदनन्तर उसकी श्वांस (असु) से असुरों की उत्पत्ति हुई[2]।

किलात एवं आकुली—

देवताओं के समान असुरगणों में भी कुछ प्रमुख असुरगण हैं। उन्हीं असुरों में किलात और आकुली भी हैं। इन दोनों असुरों का आख्यान शतपथब्राह्मण में उपलब्ध होता है, जहाँ किलात और आकुली असुरों से सम्बन्धित एक मिथक है; जिसमें कथित है कि मनु के पास एक बैल था, जिसमें असुरों एवं शत्रुओं को मारनेवाली वाणी प्रविष्ट थी। वह बैल जब हुँकारता था, तब असुर-राक्षस मरते जाते थे। अपने गणों की इस विनाशलीला को देखकर किलाताकुली (असुर-ऋत्विज) चिन्तित हुए। तदनन्तर उन्होंने उस बैल से यज्ञ कराने के लिए मनु को प्रसन्न कर उनसे आज्ञा ले ली। फलस्वरूप यज्ञ में बैल का आलम्भन हो जाने पर असुरघ्ना-शक्ति मनु की पत्नी (मनावी) में प्रवेश कर गयी। अब मनावी के बोलने से असुरों का विनाश होने लगा। उन असुर ऋत्विजों ने उपर्युक्त प्रक्रिया से मनावी का भी यज्ञ-सम्पादन में आलम्भन कर दिया। इस प्रकार वह शक्ति मनावी से निकल कर यज्ञपात्रों में घुस गयी; किन्तु इस बार असुर असफल रहे तथा जब यज्ञ-पात्रियों (सिल-बट्टों) से शब्द किया जाता है, तब असुर राक्षसों का विनाश हो जाता है[3]।

वृत्र—

असुरगणों में वृत्र अन्तरिक्षस्थानीय माना जाता है, क्योंकि यह अन्तरिक्षस्थानीय इन्द्र का प्रमुख शत्रु है। इसकी उत्पत्ति दान से हुई[4]। विशेषकर इन्द्र को इसी के वध

1. श० ब्रा० 13. 8. 1. 5 देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या।
   द्र० वही 11. 1. 8. 1
   द्र० ता० म० ब्रा० 18. 1. 2
2. तै० ब्रा० 2. 3. 8. 1 प्रजापतिरकामयत 'प्रजायेय' इति। स तपोऽतप्यत सोऽन्तर्वानिभवत्। सः हरितः श्यावोऽभवत। तस्मात् स्त्री अन्तर्वत्नी हरिणी सति श्वावा भवति। स विजायमानो गर्भेण अतामयत……तस्य असुर एव अजीवत, तेन असुना असुरान् असृजत्।
3. श० ब्रा० 1. 1. 4. 14-17
4. ऋ० सं० 1. 32. 9 नीचावया अभवद् वृत्रपुत्रेन्द्रो अस्या अववधर्जभार। उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीद्दानु…।

के लिए जन्म भी लेना पड़ा था। सम्भवतः इसीलिए ऋग्वेद में इन्द्र को वृत्रहन् कहा गया है। इन्द्र ने वृत्र का वध कर दिया[1] तथा उसकी आँख की पुत्तलियों से त्रिककुद् पर्वत का निर्माण किया[2], जैसा कि इन्द्र-वर्णन प्रसंग में कथित है। वह वृत्र मर गया; किन्तु उसकी आँखें आज भी मनुष्यकी आखों के रूप में विद्यमान हैं। इसी वृत्र के सोमीय टुकड़े से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई, जिसका उल्लेख चन्द्रवर्णन-प्रसंग में किया गया है।

'वृत्रों' शब्द, जो नियमितरूप से 'हन्' क्रिया के साथ प्रयुक्त है, इससे पार्थिव शत्रुओं का भी अभिप्राय है ...। वृत्र शब्द का बहुवचन प्रयोग, और जैसा कि यह सदैव क्लीब (नपुंसक) लिङ्ग में ही है, व्यक्तिवाचक नाम 'वृत्र' से निष्पन्न न होकर इसके 'अवरोध' और बाद में 'अवरोधक' जैसे एक अपेक्षाकृत प्राचीनतर अर्थ पर ही आधारित है[3]।"

शुष्ण—

यह एक ऐसा असुर है, जिसका वर्णन ऋग्वेद में बहुतायत से पाया जाता है[4]। यह अण्डे से उत्पन्न माना गया है। अन्य असुरों की भाँति यह भी इन्द्र से पराजित हुआ था, तथा इन्द्र ने इसके दुर्गों को ध्वस्त करने के लिए जलसमूहों को मुक्त कर दिया[5]। शतपथब्राह्मण में एक सन्दर्भ उपलब्ध होता है, जहाँ बतलाया गया है कि जब देवों ने असुर राक्षसों को मार डाला, तब शुष्ण दानव पीछे को लौट कर मनुष्यों की आखों में समा गया। वही आँख की पुत्तली होकर वह छोटे बालक-सा प्रतीत होता है[6]। शाब्दिक दृष्टिकोण से इसका दो अर्थ स्वीकार किया जा सकता है। प्रथम 'शुष्' धातु से 'फूत्कार करने वाला' तथा दूसरा 'शुष्' (सुखाने के अर्थ में) तप्त करने वाला है।

नमुचि—

यह जलों को रोक रखनेवाला एक असुर है; क्योंकि पाणिनि की अष्टाध्यायी

---

1. तै० सं० 3. 3. 5. 1 — इन्द्रो वृत्रमहन्।
2. श० ब्रा० 3. 1. 3. 12 — यत्र वा इन्द्रो वृत्रमहंस्तस्य यदाक्ष्यासीत्तं त्रिककुदम् अकरोत्।
3. वै० मा० पृष्ठ 302-303
4. ऋ० सं० 10. 22
5. ऋ० सं० 1. 51. 11 — उग्रो ययिं निरपः स्रोतसासृजद्विशुष्णस्य दृंहिता ऐरयत्पुरः।
6. श० ब्रा० 3. 1. 3. 11 — यत्र वै देवाः असुररक्षसानि जघ्नुस्तच्छुष्णो दानवः प्रत्यङ् पतित्वा मनुष्याणामक्षीणि प्रविवेश स एष कनीनकः कुमारक इव परिभासते।

(6. 3. 75.) के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति 'न मुचि' इस विग्रह पूर्वक 'न मुच्' (धातु) से है, जिसका अर्थ है कि जो किसी वस्तु को न छोड़े। इस असुर के सन्दर्भ में शतपथब्राह्मण के सौत्रामणीग्रह-प्रकरण का एक आख्यान दर्शनीय होगा, जहाँ कहा गया है कि एक बार नमुचि असुर सुरा की सहायता से इन्द्र के पराक्रमस्वरूप सोमपान को चुरा ले गया। वह इन्द्र, सरस्वती तथा अश्विनीकुमारों के पास गया और कहने लगा कि मैंने नमुचि को, न दिन में, न रात में, न डंडे से, न धनुष से, न थप्पड़ से, न मुक्के से तथा न सूखी वस्तु से, न आर्द्र वस्तु से मारने का वचन दे दिया है। अब फलस्वरूप यह मेरी सोमपान वस्तु को ही चुरा ले गया है, जिसे मुझे प्राप्त करवा दो। वे इस शर्त पर तस्करी की वस्तु दिलाने को तैयार हुए कि हमें भी उसमें से कुछ भाग मिलना चाहिये। इन्द्र ने इस शर्त को मान लिया। तदनन्तर अश्विनीकुमारों तथा सरस्वती ने जलों के फेन (जो न सूखा है न गीला) को वज्र बनाया तथा इन्द्र ने उषःकाल (रात दिन की वयःसन्धि) में उक्त वज्र से नमुचि का सर काट दिया[1]।

स्वर्भानु—

सूर्य को ग्रसित करने वाले असुर को स्वर्भानु कहा जाता है। शतपथब्राह्मण में इस बात की पुष्टि की गयी है[2]। इसी प्रकार वर्चिन, धुनि, चुमुरि, विश्वरूप तथा शम्बर आदि अनेक असुरगण हैं, जो देवताओं द्वारा पराजित तथा विनष्ट हुए हैं[3]; क्योंकि देव तथा असुर जन्मजात शत्रु हैं, इस कारण इन दोनों में विरोध होना स्वाभाविक है। इन दोनों के विद्वेष का वर्णन ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध होता है कि एक बार देवों तथा असुरों में प्रतिस्पर्धा होने लगी। चूँकि असुर आसुरगुण से सम्पन्न थे, अतः अभिमानवश वे यज्ञ की आहुति को अग्नि में न देकर स्वयं अपने मुख में देने लगे, तब इसी अभिमान के फलस्वरूप वे पराजित हो गये[4]।

असुरों की पराजय के सन्दर्भ में देवताओं ने एकबार इस बात की शंका की कि कहीं वाणी असुरों के पास न चली जाय। इसी शंका से देवों ने उस वाणी को अपनी सत्ता में मिलाने के लिए अनुष्टुप् छन्दों से आहुनि दी। चूँकि अनुष्टुप् वाणी का

---

1. श० ब्रा० 12. 7. 3. 1-3
   द्र० ऋ० सं० 8. 14. 13 — अपां फेनेन नमुचे शिर इन्द्रोदवर्तयः विश्वा यदजय-स्पृधे।
2. श० ब्रा० 5. 3. 2. 2 — स्वर्भानुर्ह वाऽआसुरः सूर्यंतमसा विव्याध। स तमसा विद्धो न व्यरोचत।
   द्र० पं० बि० ब्रा० 4. 5. 2 तथा 6. 6. 8
3. ऋ० सं० 1. 51. 6 — विथारन्धयो अतिग्वाय शम्बरम्।
4. श० ब्रा० 11. 1. 8. 1 — देवाश्चैवासुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे...... तेऽतिमानेनैव पराबभूवुः।

छन्द है, इसलिए जब वाणी ने देवों को स्वीकार कर लिया, तब असुरगण कुछ नहीं कह सके, तथा 'हेऽलयो हेऽलयः' (हेऽरयो हेऽरयः) कह कर पराजित होने लगे[1]।

अन्ततः पितृमेध-यज्ञ प्रकरण में एक प्रासंगिक स्थल के अनुसार प्रजापति के दोनों पुत्र (देव तथा असुर) आपस में झगड़ने लगे। देवों ने अपने जन्मजात विरोधी असुरों को इस भूलोक से निकाल दिया। इसीलिए श्मशान निर्माण में देवलोग पृथिवी का पूर्ण सहयोग लेते हैं, जब कि असुर पृथिवी से दूर किनारे किसी चमूद्वय (जीवधारियों के दो महान् आधार[2]) आदि स्थल पर श्मशान बनाते हैं[3]।

इस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया में 'वेदात्मिका पराविद्या तथा देवासुरों की सृष्टि' का वर्णन किया गया।

---

1. श० ब्रा० 3. 2. 1. 23 — तां देवा असुरेभ्योऽन्तरायंस्तां स्वीकृत्य…तेऽसुरा आत्तवचसो हेऽलयः हेऽलयः इति वदन्तः पराबभूवुः।
2. संस्कृत इंग्लिश शब्दकोष (मोनियर विलियम), पृष्ठ-388, कालम-2
3. शं० ब्रा० 13. 8. 2. 1 — ….माऽआसुर्यं प्राच्यास्त्वद्ये त्वदन्तर्हितानि ते चम्वा त्वद्यस्मिस्त्वत्।

चतुर्थ परिच्छेद

मैथुनी-सृष्टि-विवेचन एवं उसका यज्ञ-रूपक

विष्णु द्वारा मैथुनी सृष्टि-परिकल्पना

मैथुनप्रक्रिया से होनेवाली सृष्टियों को मैथुनी-सृष्टि कहा जाता है। लोक में मनुष्य से लेकर पशु-पक्षी तक स्त्री एवं पुरुष (मादा एवं नर) के मिथुनीभाव से सृष्टि का विकास निरन्तर होता आ रहा है।

लोक में ही नहीं, वेद में भी, यज्ञों के सम्पादन में योषा-वृषा के रूपक से मैथुनी-सृष्टि-धाराओं का वर्णन मिलता है। मंत्रब्राह्मण में कथित है कि विष्णु ने त्वष्टा के रूप में योनि (यज्ञाग्नि) की कल्पना की और प्रजापति ने स्वयं गर्भ धारण कर सिनीवाली एवं सरस्वती को गर्भ धारण करने को कहा[1]।

ब्राह्मणग्रन्थों में यह मैथुनी-सृष्टि यज्ञों के परिवेश में ही देखी जा सकती है। यज्ञों में द्वन्द्व (मिथुन) बनाने के लिए अग्नि (पुरुष) तथा सोम (स्त्री) को संयुक्त किया गया है। यहाँ तक कि स्वयंभू प्रजापति ने सृष्टि की इच्छा से अपने आपको इन्हीं दोनों स्त्री-पुरुषों के रूप में परिणत कर दिया, जिसके फलस्वरूप वह अपने ही शरीर के आधे भाग से पुरुष बन गया एवं आधे भाग से स्त्री तथा इसी योषा-वृषा के मिथुन से उस प्रजापति ने विश्व-सृजन भी किया। ऊपर जिस अग्नि एवं सोम का वर्णन किया गया है, उसमें अग्नि शुष्क तत्त्व है तथा सोम आर्द्र। इसके अतिरिक्त तीसरी वस्तु का सर्वथा अभाव ही है[2] और इसी सृष्टिकारी अग्नि से[3] पुरुष की उत्पत्ति हुई तथा सोमांश से स्त्री की[4]।

मानवोत्पत्ति—

विश्व-सृष्टि के अनन्तर मानव-सृजन महत्त्वपूर्ण होता है। वैदिकग्रन्थों में मानवोत्पत्ति के सन्दर्भ में प्रायः तीन सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। प्रथमतः विराट्

---

1. मं॰ ब्रा॰ 1. 4. 6-7 — विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। ……गर्भन्धेहि सिनीवालि। गर्भन्धेहि…।
   द्र॰ छां॰ ब्रा॰ 1. 4. 6-7
2. श॰ ब्रा॰ 1. 6. 3. 23 — द्वयं वा इदम् न तृतीयमस्ति- आर्द्रं चैव शुष्कं च यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यम्।
   द्र॰ मनु॰ सं॰ 1. 32 — द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्द्धेन नारी तस्या स विराजमसृजत् प्रभुः॥
3. श॰ ब्रा॰ 10. 4. 1. 5 — पुरुषोऽग्निः।
   द्र॰ वही 2. 1. 1. 4 — वृषाऽग्निः।
4. श॰ ब्रा॰ 4. 1. 3. 9 — श्रीर्वै सोमः।

पुरुष के शरीराङ्गों से मानव के चार वर्गों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) की उत्पत्ति हुई[1]। इस प्रकार इस सिद्धान्त में मानवोत्पत्ति के स्रोत विराट्पुरुष को ही स्वीकारा गया है।

द्वितीयतः देवताओं द्वारा कवियों अथवा ऋषियों के उत्पन्न होने की बात कही गई है। देवताओं से मनुष्यों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐसी मान्यताओं का उल्लेख मिलता है, जहाँ अग्नि को मनुष्यरूपी सन्तानवाला कहा गया है[2]। वशिष्ठ को मित्रावरुण का पुत्र बतलाया गया है[3] तथा दिव्य अप्सरा को इनकी माता कहा गया है[4]। इसी प्रकार अन्य मानवीय ऋषियों को भी देवताओं से ही उत्पन्न माना गया है, यही दिव्य मानवोत्पत्ति का सिद्धान्त है।

तृतीय सिद्धान्त के अन्तर्गत मानव को आदिपुरुष वैवस्वतमनु से उत्पन्न होना स्वीकार किया गया है। यही मनु प्रथम सृष्टि-यज्ञ के कर्त्ता थे[5]। इसी पुरुष को यमवैवस्वत भी कहा जाता है। इसने अपनी ही भगिनी (यमी) के साथ समागम कर मानव जाति को उत्पन्न किया था। इस प्रकार यम-यमी का जोड़ा सृष्टि का आदि मिथुन है[6]। जहाँ पुरुष की उत्पत्ति इन आदिम-पूर्वजों से पहले मानी गयी है, वहीं इस उत्पत्ति को दिव्य कहा जाता है। यह विवस्वान् ही आदि यमजों का पिता है। एक स्थल पर दिव्य गन्धर्व और जल में रहनेवाली अप्सरा को मनुष्य का आदि पूर्वज कहा गया है। यम का सम्बन्ध वस्तुतः मृतकों के साथ है तथा मनु का जीवितों के साथ। इसीलिए शतपथब्राह्मण में मनु को मनुष्यों तथा यम को मृतकों का शासक

---

1. ऋ० सं० 10. 90. 13 — ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥
2. वही 1. 96. 2 — स (अग्निः) पूर्वया निविदा……प्रजा अजनयन् मनूनाम।
3. वही 7. 33. 11 — उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः।
4. वही 7. 33. 12 — अप्सरसे परिजज्ञे वसिष्ठः।
5. वही 10 63. 7 — येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः।
   ऋ० सं० 10. 10. 4 — गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभिः।
6. 'Religion of the Vedas' Page 48, by M. Bloomfield See-J. B. R. A. S., Vol. 19 Page 60 By V. A. Godgil. — Yama and Yami are the first man and Woman (in the Creation). Yami is one of the orginators of the Human race and it is she who is seaking her partner for the propagation of the race–"

बतलाया गया है[1]। मनुष्यों के शासक मनु को सवर्णा का पुत्र भी कहा जाता है[2], तभी तो उसके लिए 'सावर्णि' इस शब्द का प्रयोग मिलता है[3]।

तैत्तिरीयब्राह्मण के अनुसार पितरों की सृष्टि कर चुकने पर प्रजापति ने मनुष्यों की सृष्टि की[4]। स्त्री-पुरुष की सृष्टि के सन्दर्भ में शतपथब्राह्मण का एक आख्यान दर्शनीय होगा, जिसमें कथित है कि सर्वप्रथम पुरुष में स्थित आत्मा ही जगत् था। अपने समीप दृष्टिपात करने के बाद उसने अपने से भिन्न कुछ नहीं देखा, तब उसने कहा कि यह मैं हूँ; तभी से 'मैं' इस सत्ता का सृजन हुआ। चूँकि उस आत्मा ने सभी वस्तुओं के पहले समस्त पापों को दग्ध कर दिया, इसीलिए उसे पुरुष कहा जाता है। एक बार वह पुरुष भी भयभीत हुआ तथा उसने सोचा कि मेरे अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है, तो मैं किससे भयभीत हो रहा हूँ? इस प्रकार सुनिश्चित कर उसने अपने को निर्भय बनाया; किन्तु उसे एकाकीपन में वह आनन्द नहीं मिल सका, जो एक समुदाय में मिलता है। तदनन्तर उसने एक दूसरे व्यक्ति की इच्छा की तथा उसने अपने ही शरीर को दो भागों में विभक्त कर दिता, उससे एक पति और एक पत्नी (मनु-शतरूपा) निकले[5]। इस प्रकार पहले वह पुरुष स्वयं परस्पर एकीकृत पुरुष और एक स्त्री का स्वरूप था। सम्भवतः इसीलिए याज्ञवल्क्य ने कहा कि मनुष्य मटर के आधे दाने के समान होता है। अत एव इस आकाश स्थान की पूर्ति स्त्री ने की तथा उसने उस स्त्री के साथ सहवास किया, जिससे मनुष्य उत्पन्न हुए[6]।

---

1. श० ब्रा० 13. 4. 3. 3 एवं 6 — मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह तस्य मनुष्या विशः……यमो वैवस्वतो राजेत्याह। तस्य पितरो विशः।
2. नि० 13. 10
3. दु० स० श० 13. 29 — सूर्याज्जन्म समासाद्य सावर्णिर्भविता मनुः।
4. तै० ब्रा० 2. 3. 8. 3 — पितॄन् सृष्ट्वाऽमनसयत्। तद् अनु मनुष्यान् असृजत्। तद्मनुष्याणां मनुष्यत्वम्।
5. श० ब्रा० 14. 4. 2. 1-6 — आत्मा एव इदमग्रऽआसीत्। पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य न अन्यद् आत्मनोऽपश्यत……स यत् पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मनः औषत्, तस्मात् पुरुषः।… यथा स्त्री पुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इमम् एव आत्मानम् द्वेधाऽपातयत्, ततः पतिः पत्नी च अभवताम्।
6. श० ब्रा० 14. 4. 2. 6 — तस्माद् आकाशः स्त्रिया पूर्यतऽएव तां समभवत्ततो मनुषाऽजायन्त।

द्र० तै० ब्रा० 3. 3. 10. 4 — प्रजया हि मनुष्यः पूर्णः।

तैत्तिरीयब्राह्मण के अनुसार पत्नी पति की अर्धाङ्गिनी होती है[1]। यहाँ तक कि पत्नीरहित व्यक्ति न तो यज्ञ का अधिकारी हो सकता है और न सन्तानयुक्त ही हो सकता है[2]। मनुष्यों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में तैत्तिरीयसंहिता का एक प्रसंग दर्शनीय होगा, जिसमें कथित है कि अदिति ने पुत्र-कामना के साध्य देवताओं के लिए 'ब्रह्मौदन' नामक चरु पकाया। देवताओं ने अदिति को अपना उच्छिष्ट चरु दिया, जिसके भक्षण से अदिति गर्भवती हुई। इससे उसके चार आदित्य उत्पन्न हुए। इसी प्रक्रिया में आदित्य विवस्वान् की उत्पत्ति हुई, जिससे मनुष्यों का सृजन हुआ[3]। प्रजापति ने अपनी सन्तानोत्पत्ति की इच्छा तथा तप के फलस्वरूप स्वयं भी गर्भ धारण किया तथा उसने अपनी प्रजननेन्द्रिय से जीवित प्राणियों (प्रजा:) की रचना की[4]। प्रजापति ने इस पृथिवी पर वनस्पतियों को अन्न के रूप में पकाया तथा उसे भक्षण कर गर्भ धारण किया। उसने अपने ऊर्ध्व प्राणवायु से देवताओं तथा अधोवायु से मर्त्यप्राणियों (पुरुषों) को उत्पन्न किया[5]। इसका संकेत देवासुर-सृजन-सन्दर्भ में भी किया गया है, जहाँ इस प्रकरण से मात्र भिन्नता इतनी ही है कि प्रजापति के अधोवायु से असुरों की सृष्टि हुई।

सृष्टि के आदि में एकाकी ब्रह्म (प्रजापति) ने प्रजा-कामना से युक्त होकर इतना तप एवं श्रम किया कि उसके शरीर के रोमछिद्रों से स्वेदधारा बहने लगी, तब उसने कहा कि मैं सब कुछ धारण करूँगा। इसीलिए वह स्वेद-धारा कहलायी। अनन्तर इसके, प्रजापति ने पुनः कहा कि मैं सब कुछ उत्पन्न करूँगा। सम्भवतः इसीलिए जाया (पत्नी) हुई तथा इसी जाया से पुरुष की उत्पत्ति हुई[6]। छान्दोग्य-

---

1. तै० ब्रा० 3. 3. 3. 5 — अथो अर्द्धो वैष आत्मनो यत् पत्नी।
2. वही 3. 3. 3. 1 — अयज्ञो वै एष योऽपत्नीकः न प्रजाः प्रजायेरन्।
3. तै० सं० 6. 5. 6. 1 — अदितिः पुत्र कामा साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनम् अपचत् एतस्यै उच्छेषणम् अददुः ...... ततो विवस्वान् आदित्योऽजायत् तस्य वै इयम् प्रजा यद् मनुष्याः।
   द्र० तै० ब्रा० 1. 8. 8. 1 — आदित्या वै प्रजाः।
4. तै० ब्रा० 2. 2. 9. 7 — सोऽकामयत प्रजायेय इति। स तपोऽतप्यत सोऽन्तर्वान् अभवत्। स प्रजननाद् एवं प्रजा असृजत्।
5. श० ब्रा० 6. 1. 2. 11 — स ऊर्ध्वेभ्य एव प्राणेभ्यो देवान् असृजत् येऽवाञ्च प्राणास् तेभ्यो मर्त्याः प्रजा इति।
6. गो० ब्रा० पू० 1. 2 — स भूयोऽश्राम्यद् भूयोऽतप्यत् भूय आत्मानं समतपत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यन्दन्त। .....अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्चेति, तस्माज्जाया अभवंस्तज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते।

ब्राह्मण के अनुसार विष्णु द्वारा योनि की कल्पना के अन्तर्गत मित्रावरुण तथा अश्विनी के रूप में पुमांस (पुरुष) की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है[1]। कौषीतकिब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने विश्वेदेवों के लिए वैश्वदेव बलि द्वारा प्रजाओं को सृष्ट किया[2]। सामविधानब्राह्मण के अनुसार स्त्री मणि-मेखला धारण कर पुत्रस्वरूप पुरुष को उत्पन्न करती है[3] तथा मन्त्रब्राह्मण के अनुसार प्रजापति के मुख से पुरुष (मानव) की सृष्टि हुई[4]। एक बार प्रजापति ने जब मानव-सृष्टि की, तब प्रजाएँ अपना मुँह फेर कर चली जाती थीं तथा उसके पास नहीं आयीं। इस अवस्था में प्रजापति ने अग्नि द्वारा उन सबों को घेरा। इस प्रकार प्रजाओं को घेरकर उनका विस्तार किया[5]। शतपथब्राह्मण के एक स्थल के अनुसार मनुष्य से मनुष्य उत्पन्न हुआ[6]। इस प्रकार प्रजापति ने अपने प्रांण (आत्मा) से मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) का सृजन किया; क्योंकि मन ही समस्त प्राणों में मुख्य होता है। सम्भवतः इसीलिए समस्त पशुओं में मनुष्य ही प्रथम सर्वशक्तिशाली पशु माना गया है[7]। इस सम्बन्ध में देवस्थली महोदय का कथन भी दर्शनीय है[8]।

1. छा० ब्रा० 1. 4. 9 — पुमांसौ मित्रावरुणौ पुमांसावश्विनावुभौ पुनानाग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे।...पुमांउं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननुजायताम्।
2. कौ० ब्रा० 5. 3 द्र० तै० ब्रा० 1. 6. 2. 1 तथा का० श० ब्रा० 1. 5. 1. 3 — वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः प्रजाः असृजत्।
3. सा० वि० ब्रा० 2. 2. 1 द्र० का० श० ब्रा० 4. 2. 1. 6 — मेखलायाँ मणिं धारयेत् पुमाँस्ँह जनयति।
4. मं० ब्रा० 1. 1. 3 — प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयं तेन पुंसोऽभिभवासि।
5. ऐ० ब्रा० 3. 36 — प्रजापतिः प्रजा असृजत्, ताः सृष्टाः पराच्य एवायन्न व्यावर्तन्त ता अग्निना पर्यगच्छत्ता अग्निमुपावर्तत।

   ऐ० ब्रा० 3. 38 — प्रजा वै तन्तुः प्रजामेवास्मा एतत् सन्तनोति······ अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भवजनया दैव्यं जंनमिति एवैनं तन्मनोः प्रजया संतनोति।
6. श० ब्रा० 7. 4. 1. 1 — आत्मनो वाऽएतमधिजनयति यादृशाद्वजायते तादृङ्गेव भवति स यदात्मन्नगृहीत्वाग्निं चिनुयान्मनुष्यादेव मनुष्यं जनयेत्।
7. श० ब्रा० 7. 5. 2. 6 — मनो वै प्राणानां प्रथमम्। तद् मनसः पुरुषं निरमिमीत तस्मादाहुः पुरुषप्रथमः पशूनां·······।
8. Religion and Mythology of the Brahmaṇas Page 61 line 19 by G. V. Devasthali. — Prajapati created the man from his soul and became the soul is the first of all vital airs, therefore the man that is......l

इस प्रकार प्रजापति द्वारा जिस पुरुष की सृष्टि हुई, उस पुरुष का तीन बार जन्म होता है। सर्वप्रथम माता-पिता के मिथुनीभाव से पुरुष जन्म सर्वविदित है। द्वितीयतः जब मनुष्य यज्ञ की ओर आकर्षित होकर यज्ञ करता है तथा तृतीयतः मृत्यु के उपरान्त जब वह अग्नि को सौंप दिया जाता है तब पुनर्जन्मस्वरूप पुरुष का तीसरा जन्म होता है[1]। इसके विवरण में कहा गया है कि होता ग्यारह सामिधेनी ऋचाओं को पढ़ता है, क्योंकि पुरुष के दस प्राण होते हैं और ग्यारहवाँ आत्मा, जिसमें यह प्राण प्रतिष्ठित होता है। पुरुष का स्वरूप भी इतना ही होता है तथा वह इस यज्ञ से पूर्ण होकर उत्पन्न होता है। प्रसव की नौ व्याहृतियाँ इसलिए होती हैं कि पुरुष में नौ प्राण होते हैं। इस प्रकार वह इसको दुबारा जन्म देता है। अध्वर्यु का 'श्रौषट्' प्रतिष्ठा होता है। आग में प्रस्तर*[2] डालने के समय मनुष्य जन्म के विषय में जो कुछ कहा जाता है, वही उस पुरुष का तृतीय जन्म होता है, वहाँ पत्नी संयाज प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार याज्ञिकरूपक द्वारा पुरुष के तीनों जन्मों को दर्शाया गया[3]।

पुरुष के जन्म की तो यह ब्राह्मणग्रन्थीय मान्यता है, इसके अतिरिक्त भी एक मान्यता है, जिसमें उपनयन संस्कार को ही द्वितीय जन्म के रूप में स्वीकार किया गया है। इस मान्यता में मृत्यु के बाद अग्नि-संयोग के फलस्वरूप पुनर्जन्म को नहीं माना गया है। इसके अनुसार मनुष्य के उसके जीवन में तीन जन्म होते हैं। सर्व प्रथम वह माता के जरायु से उत्पन्न होता है, यह उसका भौतिक जन्म है। दूसरा उपनयन संस्कार के समय उसका द्वितीय जन्म होता है, जो आध्यात्मिक जन्म कहलाता है, जहाँ उपाध्याय उसके पिता होते हैं तथा सावित्री (गायत्री) मंत्र माता होती है।

---

1. श० ब्रा० 11. 2. 1. 1 — त्रिर्ह वै पुरुषो जायते। एतन्नवेव मातुश्चाधि पितुश्चाग्रे जायतेऽथ यं यज्ञऽउपनमति स यद्यजते तद् द्वितीयं जायतेऽथ यत्र म्रियते यत्रैतमग्नावभ्यादधति स यत्ततः सम्भवति तत्तृतीयं जायते।

2.* Prastar = a couch of leaves and flowers or a sacrificial seat.
—A Sanskrit–English Dictionary
Page 699, colm. 2, by M. Williams.

3. श० ब्रा० 11. 2. 1. 2-4 — ता वाऽएताः एकादशसोमधेनीस्वाह दश वाऽइमे पुरुषे प्राणाऽआत्मैकादशो यस्मिन्नेत···नव प्रसवस्य व्याहृतयः। न वेमे पुरुषे प्राणास्तदेनं द्वितीयं जनयत्याश्रावणं प्रत्याश्रावणं सा प्रतिष्ठाऽथ यदेवादः सृष्टी जन्मोदयते तदेनं तृतीयं जनयति····।

मनुष्य का तृतीय जन्म तब होता है, जब वह किसी यज्ञ की क्रिया का सम्पादन करता है[1]।

प्रजाओं की सृष्टि करते हुए प्रजापति श्रान्त एवं क्लान्त हो जाते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों के कुछ महत्त्वपूर्ण स्थल इस तथ्य का संकेत करते हैं कि प्रजापति ने जब प्रजाओं की सृष्टि कर ली, तब उसने स्वयं को रिक्त देखा, इसलिए उसने तपस्या की तथा उसने अपने भीतर वीर्य देखा, जिससे उसकी वृद्धि हुई[2]। एक स्थल पर प्रजाओं की सृष्टि कर चुकने पर प्रजापति क्लान्त हो गये। इस तरह देवताओं ने भूतों के रस से यह कहकर उसकी चिकित्सा की कि 'वह महान् हो गया है'[3]। शतपथब्राह्मण के एक स्थल पर वर्णित है कि प्रजाओं का सृजन करते समय प्रजापति ने स्वयं को रिक्त जैसा अनुभव किया तथा सृष्ट जीवित प्रजाएँ उससे दूर होने लगीं। वह सृष्टि ऐसी नहीं हुई थी कि वह समृद्ध हो सके तथा अन्न ग्रहण कर सके। उसने इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया कि किस प्रकार ये मेरी प्रजाएँ समृद्धि एवं अन्न को प्राप्त कर सकती हैं? इसके लिऐ उस प्रजापति ने पुनः श्रम एवं तपश्चर्या की तथा एकादशिनीमंत्र के साथ यज्ञ करते हुए उसने पुनः अपनी वृद्धि की एवं उसकी प्रजाएँ भी समद्धि से युक्त होकर अन्नादि से सम्पन्न हो गयीं[4]।

---

1. India of the age of the Brahmaṇas—by J R. Basu—Page-141-42 — The Brahmaṇās observe that in this tenure of life on earth man is born thrice. His first birth takes place when he is delivered from mother's womb,... He under goes a second birth at the time of his upanayana ceremony........

2. तै० ब्रा० 1. 1. 10. 1 — प्रजापतिः प्रजा असृजत्। स रिरिचानोऽमन्यत / स तपोऽतप्यत् / स आत्मन् वीर्यम् अपश्यत्। तत् अवर्द्धत।

3. वही 1. 2. 6. 1 — प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा वृत्तोऽशयत्। तं देवाः भूतानां रसं तेजः सम्भृत्य तेन एनम् अभिषज्यन् 'महान् अववर्त्ति'।

द्र० वही 2. 3. 6. 1 — प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा व्यस्रंसत/स हृदयम् भूतोऽशयत्।

4. श० ब्रा० 3. ०. 1. 1 — प्रजापतिर्वै प्रजाः ससृजानो रिरिचानः इव अमन्यत तस्मात् पराच्यः प्रजा आसुः। न अस्य प्रजा श्रियेऽन्नाद्याय जज्ञिरे......स ऐक्षत प्रजापतिः कथं नु पुनर् आत्मानम् आप्याययेय उप मा प्रजाः समावर्त्तेरं स तिष्ठेरन् मे प्रजाः श्रिये अन्नाद्याय इति।" सोऽर्चन् श्राम्यशं चचार प्रजाकामः। स एताम् एकादशिनीम् अपश्यत् स एकादशिन्या इष्ट्वा प्रजापतिः पुनर् आत्मानम् आप्याययत् उप एनम् प्रजाः समावर्तन्त प्रतिष्ठन्त।

संवत्सरस्वरूप प्रजापति ने देव तथा मनुष्यादि समस्त भूतों की सृष्टि की। पूर्व की भाँति यहाँ भी प्रजापति ने अपने को रिक्त-सदृश अनुभव किया तथा उन भूतों को अपने भीतर समाहित करने के प्रश्न पर गम्भीरता से चिन्तन किया[1]। शतपथब्राह्मण के एक अन्य स्थल के अनुसार पूर्वकाल में स्थित एकमात्र प्रजापति ने सोचा कि कैसे हमारी वंश-वृद्धि हो? इसके लिए उसने श्रम एवं तपश्चर्या की। तदनन्तर उसने प्राणियों की सृष्टि की। दो पैरोंवाला प्राणी मनुष्य प्रजापति के अत्यधिक निकट का प्राणी है। इसी प्रकार उसने कई अन्य प्राणियों की भी सृष्टि की; किन्तु वे प्राण-विहीन होने लगे। प्रजापति ने पुनः गम्भीरता से सोचा कि ये तो अन्न के ही अभाव में प्राण विहीन हो रहे हैं। अतः अपनी उपस्थिति में ही उन्होंने उन प्राणियों के स्तनों में दूध भर दिया, जिसको पीकर उत्पन्न हुए प्राणी नष्ट नहीं हुए[2]।

इसी तरह का प्रकरण तैत्तिरीयब्राह्मण में भी आया है, जहाँ वर्णित है कि प्रजापति द्वारा सृष्ट प्रजाएँ उनसे दूर होने लगीं तथा प्रजापति को ओदन के रूप में देखीं, जो (ओदन) अन्न हो गया। अतः अन्यत्र अन्न न प्राप्त कर सृष्ट प्रजाएँ प्रजापति के पास ही लौट आयीं, जिससे प्रजापति समृद्धिशाली बन गए[3]। तैत्तिरीय-ब्राह्मण के ही एक अन्य स्थलपर प्रजापति ने सविता बनकर प्रजाओं का सृजन किया[4]। यहाँ पर भी प्रजाएँ उनसे भिन्न होने लगीं तथा प्रजापति ने स्वयं उनकी

---

1. वही 10. 4. 2. 2 — सोऽयं संवत्सरः प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि ससृजे यच्च प्राणि यच्च अप्राणम् उभयान् देवमनुष्यान्।

   द्र० तै० ब्रा० 1. 6. 2. 1 — संवत्सरो वै प्रजापतिः संवत्सरेण एव अस्मै प्रजाः प्राजनयत्।

2. श० ब्रा० 2. 5. 1. 1. 3 — प्रजापतिर्ह वै इदम् अग्रे एक एवास। स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत। स प्रजा असृजत। ता अस्य प्रजाः सृष्टाः पराबभूवुः। तानीमानि वयांसि पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठं द्विपाद्वा अयं पुरुषस्तस्मा द्विपादो वयांसि। स ऐक्षत प्रजापतिः। यथान्वेय पुरैकोऽभूवमेवमुन्वेवाप्येतर्ह्येक एवास्मीति…. स आत्मन एवाग्रे स्तनयोः पय आप्यायांचक्रे स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टा स्तानावेवाभिपद्य तास्ततः सम्बभूवुस्ता इमा अपराभूताः।

   द्र० वही 2. 4. 2. 1-6

3. तै० ब्रा० 2. 7. 9. 1 — प्रजापतिः प्रजाः असृजत। ता अस्मात् सृष्टाः पराचीर् आयन्।……। प्रजाः उपावर्त्तन्त।

4. वही 1. 6. 4. 1 — प्रजापतिः सविता भूत्वा प्रजाः असृजत।

उपेक्षा भी कर दी। तब वरुण का रूप धारण करवाकर प्रजापति ने उन प्रजाओं को अपने पास लौटाया[1]। इससे स्पष्ट होता है कि प्रजापति ने ही स्त्री-पुरुषों का सृजन किया।

मानव-सृष्टि और मनु—

मनुष्य (मानव) के आदि पूर्वज मनु को 'पिता' कहा गया है[2]। मनु से इस मानवीसृष्टि का विकास हुआ। यह बात शतपथब्राह्मण के मनु-मत्स्य-मिथक के वर्णन से स्पष्ट हो जायेगी; जहाँ वर्णित है कि प्रातःकाल मनु आचमन के लिए जल लाये। जैसे मनुष्य हस्तप्रक्षालन के लिए जल लाते हैं। वे जब इस प्रकार हस्तप्रक्षालन कर ही रहे थे कि उनके हाथों में एक मत्स्य आ गया। उस मत्स्य ने कहा कि तुम मेरी रक्षा करो, तब मैं तुम्हें बचाऊँगा। मनु ने पूछा कि तुम मुझे किससे बचाओगे? मत्स्य बोला निकट भविष्य में एक जलप्लावन इन समस्त प्राणियों को बहा ले जायेगा, उसी से मैं तुम्हें बचाऊँगा। मनु के यह पूछने पर कि तुम्हारी रक्षा कैसे हो सकेगी? वह मत्स्य बोला कि जब तक हम छोटे रहते हैं, तभी तक हमे बड़े मत्स्यों से भय रहता है। अतः तुम सर्वप्रथम मुझे एक घड़े में रखोगे, जब मैं घड़े के परिमाण से बढ़ जाऊँगा तब एक गड्ढा खोदना तथा उसी में मेरा पालन करना होगा। जब उस गड्ढे के लिए भी मैं बड़ा हो जाऊँ तब मुझे समुद्र में विसर्जित कर देना। इस प्रकार मैं एकदम निर्भय हो जाऊँगा[3]।

शीघ्र ही वह एक महान् मत्स्य बन गया, क्योंकि वह अत्यन्त शीघ्रता से बढ़ता गया। उस मत्स्य ने कहा कि अब अमुक वर्ष में जलप्लावन होगा। अतएव तुम एक नौके का निर्माण करा लेना तथा जलप्लावन जब बढ़ने लगे, तब तुम उस नौका पर आरूढ़ हो जाना, जिससे तुम्हारी रक्षा की जा सकती है।

---

1. तै० ब्रा०। ता एनम् अत्यमन्यन्त। ता अस्माद्''''''अग्राहयत्।
2. ऋ० सं० 2. 33. 13 यानि मनुरवृणीत पिता नः।
   द्र० वही 10. 100. 5 यज्ञो मनुः प्रमतिर्नः पिता हि कम्।
   See. India of the Brahmanic Age. Part II Page-453, By J. T. — The Vedic Aryans however appear to have arrived at some conception of the first man who was known in the familiar phraseology of the hymns as father Manu, but even there Manu scarealy appears as a creator of the Human race, but simply as the progenitor of men.
3. द्र० श० ब्रा० 1. 8. 1. 1-2

इस प्रकार मत्स्य का पालन कर मनु ने उसे समुद्र में विसर्जित कर दिया तथा जिस वर्ष में मत्स्य ने जलप्लावन को कहा था, उस वर्ष उन्होंने एक नौके का निर्माण किया। समय आने पर वे मत्स्य के कथनानुसार जलप्लावन के होने पर नौका में सवार हो गए। मत्स्य भी उनके पास तैरकर आया तथा उन्होंने नौका की रज्जू को मत्स्य की सींग में बाँध दिया। वह मत्स्य नौका को उत्तर की तरफ ले गया। इस प्रकार वे उत्तरी पर्वतों पर सुरक्षित पहुँच गये।

मत्स्य ने कहा, मैंने तुम्हें बचा दिया। अब नौका को वृक्ष में बाँध दो; किन्तु जब तुम पर्वत पर रहोगे, उस समय जल तुम्हें कहीं पृथक् न कर दे, इसलिए जैसे-जैसे जल कम होता जाय उसी तरह तुम भी जल के साथ नीचे उतरना। उन्होंने वैसा ही किया। अतएव इस उत्तरी पर्वत का एक नाम मनोरवसर्पण भी है। इस जलप्लावन के फलस्वरूप मनु के अतिरिक्त समस्त प्राणियों का विनाश हो चुका था।

अब एकाकी मनु सन्तान की इच्छा से तपस्या तथा प्रार्थना में लगे रहे। इसी के अनन्तर उन्होंने एक पाक-यज्ञ भी किया। उन्होंने घृत-आमीक्षा एवं दधि से जल में बलि भी किया, इसके फलस्वरूप संवत्सरोपरान्त एक स्निग्धा स्त्री उत्पन्न हुई[1], क्योंकि उसके पैरों में घृत स्थित था[2]। सर्वप्रथम उत्पन्न उस स्त्री से मित्रावरुण मिले। उसके पूछने पर कि तुम कौन हो? उस स्त्री ने कहा कि मैं मनु की पुत्री हूँ। मित्रावरुण ने चाहा कि यह हमारी हो; किन्तु उस स्त्री ने कहा कि ऐसा नहीं हो सकता। मैं उसी की हूँ, जिसने मुझे जन्म दिया है। तब उन्होंने उससे अपना अंश माँगा, जिसे उसने स्वीकार किया भी और नहीं भी किया। वह आगे बढ़कर मनु के पास पहुँची।

मनु ने उससे पूछा कि तुम कौन हो? उसने उत्तर दिया कि मैं तुम्हारी पुत्री हूँ। मनु तो स्तम्भित हो गये कि यह हमारी पुत्री कैसे हो गयी? तब उस स्त्री ने स्पष्ट कहा कि आपके जल में उस हवि (घृत, दधि और आमीक्षा) के हवन करने से मैं उत्पन्न हुई आशीः हूँ। यज्ञ में मेरा उपयोग कीजिए। यदि आप मेरा उपयोग यज्ञ में करेंगे तो आपकी प्रजा और पशुओं की वृद्धि होगी। फलतः उन्होंने उसे उसी

---

1. शतपथब्राह्मण के इस प्रकरण में एक महत्त्वपूर्ण शब्द 'पिब्दमाना' आया है जिसका अर्थ सायणाचार्य ने 'पिब्दमाना पाकधर्मात्मिका पिव क्षरणे आ-दकार प्रत्यय तत्त्वेन साक्षादात्मगामिफलत्वादात्मनेपदम् पिबतेर्दकार प्रत्यय योगाद् बत्वम्' अर्थात् घृत प्रभवत्वाद घृतं स्रवन्ती इव ऐसा किया है, जिसका अनुसरण प्रो० वेबर और मैक्समूलर ने भी किया है, जब कि प्रो० रॉथ अपने लेक्सिकन में इसका अर्थ 'दृढ़' करते हैं अर्थात् वह स्त्री जल के भीतर से ठोस पदार्थ के रूप में निकली।

2. द्र० सा० भा० श० ब्रा० 1. 8. 1. 1 — मानवी घृतपदी मैत्रावरुणी।

रूप में प्रयुक्त किया, जो यज्ञ के मध्य में आता है; क्योंकि 'प्रयाज' और 'अनुयाज' का मध्य ही यज्ञ का मध्य होता है। इस प्रकार प्रजावान् होने की इच्छा से वे उसके साथ तपश्चर्या करने लगे। उसके साथ उन्होंने इन प्रजाओं को उत्पन्न किया, जो मनु की प्रजा हैं[1]।

यहाँ यह उल्लेखनीय होगा कि 'प्रजज्ञे' क्रिया, जिसके द्वारा मनु की सन्तानोत्पादनक्रिया का वर्णन किया गया है, वह शतपथब्राह्मण के (2. 2. 4. 1, 2. 5. 1. 1, 6. 1. 1. 8, 6. 1. 1. 8, 6. 1. 3, 1., 7. 5. 2. 6., तथा 11. 5. 8. 1) आदि स्थलों पर प्रजापति के लिए प्रयुक्त है।

मनु-मत्स्य का यह आख्यान ब्राह्मणग्रन्थों के अतिरिक्त पुराणों तथा महाभारत में भी आया है[2], जहाँ ब्राह्मणग्रन्थ के इस मिथक से कुछ सामान्य-सी भिन्नता है।

इस प्रकार मनु और आशीः शतरूपा या इडा के मानवीय युगल से मैथुन धर्म द्वारा मानवीसृष्टि का विकास हुआ। मनु की सहचरी इडा, जो यज्ञ का प्रकाशन करने वाली थी; उसने यह जाना कि असुर अग्न्याधान कर रहे हैं, तब उसने मनु से कहा कि मैं तुम्हारे अग्नि का इस प्रकार आधान करूँगी कि तुम्हारे प्रजाओं एवं पशुओं के जोड़ों की वृद्धि होगी[3]। तदनन्तर उस मनु और आशीः के मिथुन से प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। प्रियव्रत से आग्नीध्र, नाभि, ऋषभदेव तथा भरत आदि क्षत्रिय राजाओं की वंशपरम्परा विकसित हुई, जब कि उत्तानपाद से ध्रुव, उत्तम, तामस तथा रैवत आदि इतिहास प्रसिद्ध नरपुंगवों की सन्तानें हुईं।

मनु और आशीः के उपर्युक्त दो पुत्रों के अतिरिक्त तीन पुत्रियाँ भी थीं, उनमें

---

1. श० ब्रा० 1. 8. 1. 3-11
   द्र० तै० ब्रा० 5. 1. 5. 6 — 'शिवो भव प्रजाभ्याम्' इत्याह प्रजाभ्य एव एनम् शमयति। 'मानुषीभ्यां त्वाम् अङ्गिरः' इत्याह मानव्यो हि प्रजाः।
2. भाग० पु० 8. 24. 7 — आसीद् अतीतकल्पान्ते...आसीद् वैवस्वतो मनुः।
   द्र० मत्स्य पु० 1. 12-21
   द्र० म० भा० व० प० 3. 18. 7. 2-55
3. तै० ब्रा० 1. 1. 4. 4-6 — इडा वै मानवी यज्ञानुकाशिन्य आसीत्। साऽशृणोत् असुरा अग्निम् अदधत इति...साऽब्रवीद् इडा मनुम्' तथा वा अहम् तव अग्निम् आधास्यामि' यथा प्र प्रजया पशुभिः मिथुनैर्जनिष्यते।
   द्र० का० ब्रा० 8. 4

से देवहूति नामक पुत्री कर्दम नामक प्रजापति द्वारा पाणिगृहीत हुई तथा आकूति और प्रसूति क्रमशः रुचि एवं दक्ष-प्रजापतियों को व्याही गयीं। इनके मिथुनीभाव से ही अनेकविध सृष्टियाँ भी हुईं, जिनमें पुरुष-सृष्टि प्रधान है। इस प्रकार के युगलों से मानवीसृष्टि का अद्यतन विकास होता रहा है।

मैथुन-धर्म—

जैसा कि उपर्युक्त वर्णनों में इस बात का संकेत किया जा चुका है कि मनु इडा आदि के मिथुनीभाव से मानवीसृष्टि विकसित हुई। अतः यज्ञ के परिवेश में ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित मैथुनीसृष्टि का वर्णन प्रस्तुत किया जायेगा।

याज्ञिक परिवेश में इस स्त्री-पुरुष के मिथुन को क्रमशः योषा-वृषा भी कहा जाता है, क्योंकि सौम्य शुक्र को स्त्री (योषा) तथा आग्नेय शुक्र को पुरुष (वृषा) कहा जाता है। यहाँ सौम्य आग्नेय तथा योषा-वृषा में इतना अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है कि एक के बिना दूसरे की उपादेयता ही नहीं है[1]। यदि सन्तानकारक शुक्र का बाह्यभूत भाग सौम्य है तो इसका प्राण भाग निश्चय ही आग्नेय होगा। औषधिरूप अन्न से इस शुक का निर्माण होता है। शरीराग्नि में हुत अन्न ही रसासृगमांसादि के क्रम में शुक्ररूप में परिणत होता है। जिस प्रकार औषधि में दाहकता है, उसी प्रकार शुक्रों में भी दाहकता होती है। भूत-सौम्य-शुक्र की प्रतिष्ठा यही गर्भोद्भूत 'आग्नेय प्राण' है। शुक्रस्थित इसी आग्नेय प्राण को वृषा कहा जाता है। इसी शुक्रवर्षण (रेतः—सेक) से वृषा प्रजोत्पत्ति में समर्थ होता है। इस प्रकार इस शुक्र में वृषा का महत्त्व होता है, अर्थात् मात्र शुक्र (वीर्य) ही प्रजोत्पत्ति का कारण नहीं है, अपितु उसका निधान वृषा भी कारण है।

शोणित, चूंकि योषाप्रधान होता है, इसलिए उसके गर्भ में रहनेवाला प्राण सौम्य होता है, जब कि उसका भूतभाग आग्नेय होता है। शोणित के सौम्य प्राण को योषा कहा जाता है। पुरुष के सौम्य शुक्र के गर्भ में स्थित आग्नेय 'वृषा-प्राण' का जब स्त्री के आग्नेय शोणित गर्भस्थ सौम्य योषा-प्राण के साथ मिथुन सम्बन्ध होता है, तभी प्रजोत्पत्ति होती है। इन दोनों (शुक्र-शोणित) की विशुद्धि से ही तद्गत वृषा-योषा प्राण शुद्ध तथा सुरक्षित रहते हैं।

सौम्य शुक्र में रहनेवाला आग्नेय प्राण ही पुम्भ्रूण है एवं आग्नेय शोणित में रहनेवाला 'सौम्यप्राण' स्त्रीभ्रूण है। पुम्भ्रूण का पोषक शुक्र है, फलतः शुक्र जितना अधिक बलशाली होगा पुम्भ्रूण उतना ही अधिक बलिष्ठ होगा। स्त्री-भ्रूण का पोषक शोणित है। अतः इसको भी पुम्भ्रूण की भाँति ही बलिष्ठ होना चाहिए। जिस समय पुम्भ्रूण तथा स्त्री-भ्रूणों का मिथुनीभाव होता है, उस समय दोनों में

1. श० ब्रा० हि० वि० भा०
भाग-2, पृष्ठ–999,

संघर्ष चलता है। इसमें जो प्रबल होता है वह एक दूसरे का निगिरण कर उसे अपने रूप में परिणत कर लेता है। यदि पुम्भ्रूण निर्बल है एवं स्त्री-भ्रूण सबल है तो स्त्री-भ्रूण पुम्भ्रूण को आत्मसात् कर लेता है। फलतः ऐसे स्त्री-भ्रूणप्रधान मिथुनी-भाव से कन्या सन्तति होती है। यदि पुम्भ्रूण स्त्री से सबल है, तब इसके ठीक विपरीत उपर्युक्त भाव से पुत्र सन्तति होती है। यदि दोनों तुल्यबल हैं, तब सन्तति में दोनों के लक्षण रहते हैं अर्थात् वही नपुंसक-सृष्टि है[1]। इस प्रकार स्त्री-पुरुष (योषा-वृषा) का दाम्पत्यभाव (मिथुनी-भाव) प्रजोत्पत्ति का मुख्य घटक है। इसमें दोनों (योषा-वृषा) का सहयोग अपेक्षित होता है। इसके दाम्पत्य-कर्म को मुख्य प्रेरणा पुरुष के तरफ से ही होती है[2]। पुरुष का 'वृषा' यह नाम उसके रेतोवर्षण से ही सार्थक होता है। व्यवहार में योषा-वृषा के कामजनित सन्तपन तथा कम्पनात्मक क्षोभ से ही वृषा-रेत अपने स्थान से च्युत होकर शोणित से संयुक्त होता है[3]। सम्भवतः इसीलिए रेतोवर्षक को वृषाकपिः भी कहा जाता है[4]। इस प्रकार वृषा प्रधान पुरुष ही दाम्पत्य कर्म का स्वतन्त्र कर्त्ता है, न कि योषाप्रधान स्त्री।

मैथुन प्रक्रिया एवं बीजवपन का यज्ञरूपक—

सन्ततिकरण हेतु मिथुन-संसर्ग एक आवश्यक कारण है[5]। अग्निचयन आदि यज्ञ-प्रक्रिया में युग्म उपहार एक नियत वस्तु होती है। इसीलिए शूर्प-अग्निहोत्रहवणी स्फ्य-कपाल, शम्या, कृष्णाजिन, उलूखल-मुसल, तथा दृषत्-उपल आदि यज्ञोपकरणों को द्वन्द्वरूप में ही रखा जाता है। यह द्वन्द्व ही वीर्यस्वरूप है। इसी द्वन्द्व (मिथुन) से प्रजनन क्रिया सिद्ध होती है[6]।

अग्निचयन-प्रकरण में स्त्री-पुरुष के युगल (मिथुन) का शरीर के अंगों से बोध कराया गया है। यथा अंगुष्ठ पुरुष है तो अंगुलियाँ स्त्रियाँ हैं, कर्ण पुरुष है तो भौंहें

---

1. श० ब्रा० हि० वि० भा० खण्ड 2 पृष्ठ–1005.
2. श० ब्रा० 3. 2. 1. 20 — तस्माद् स्त्री-पुंसोपमन्त्रिता निपलाशमिवैव वदति।
   द्र० वही 3. 2. 1. 19 — तस्माद् स्त्री-पुंसोपमन्त्रितारकादिवैवाग्रेऽसूयति।
3. श० ब्रा० 3. 5. 3. 16 — प्रजननमेवैतत्क्रियते यदा वै स्त्रियै च पुंसश्च सनाप्यतेऽथ रेतः सिच्यते तत्ततः प्रजायते।
4. गो० ब्रा० उ० 6. 2 — तद्यत कम्पयमानो रेतो वर्षति तस्माद् वृषाकपिः।
5. श० ब्रा० 9. 4. 1. 5 — मिथुनाद् वा अधिप्रजातिः।
   द्र० का० श० ब्रा० 1. 4 3 — मिथुनात्प्रजापतिः प्रजा असृज इति।
   द्र० जै० ब्रा० 2. 108 — मिथुनात् प्रजाः पशवः प्रजायन्ते।
6. श० ब्रा० 1. 1. 1. 22 — द्वन्द्वमस्मात्राण्युदाहरति···द्वन्द्वं वै मिथुनं प्रजननम्। मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते।

स्त्री हैं, यदि ओष्ठ पुरुष है तो नासिका स्त्री है तथा दाँत पुरुष है तो जिह्वा स्त्री है। इस प्रकार ये सभी मिथुनस्वरूप ही हैं। यहाँ अग्निचयन वाणी है, क्योंकि जो यह अग्निचयन करता है, वह जिस चिति में अग्न्याधान करता है, वह प्राण है। यहाँ वाणी योषा है तथा अग्नि (प्राण) वृषा है। इस प्रकार वाणी तथा प्राण प्रजननकारी मिथुन हैं[1]। तैत्तिरीयब्राह्मण में कहा गया है कि 'ऋक्' योषा है तथा 'दर्भ' वृषा। ये याज्ञिक-मिथुन प्रजनन के लिए ही होते हैं, इससे यजमान प्रजावान् होता है[2]। इस प्रकार जब सोमग्रह (याज्ञिक-उपकरण) पुरुष का प्रतिनिधित्व करता है, तब सुरा-ग्रह स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है। ये मिथुन सन्तानोत्पत्ति में सहायक होते हैं[3]। शतपथब्राह्मण के एक स्थल पर कथित है कि वेदी योषा है तथा वेद वृषा है। इस प्रकार ये दोनों भी मिथुन हैं[4]।

ये मिथुन प्रजनन-क्रिया द्वारा योषा के गर्भ में बीज की स्थापना गोपनीय ढंग से करते हैं, जिस प्रकार गार्हपत्य में बिना देखे ही अग्न्याधान किया जाता है; क्योंकि यह गार्हपत्य ही योनि है। इसलिए बिना देखे ही योनि (गार्हपत्य) में रेतस् (अग्नि) का वपन किया जाता है[5]। इस प्रकार जब देवता गार्हपत्य के निर्माण से सफलता नहीं प्राप्त कर सके, तब उन्होंने पुनश्चिति (पुनर्निर्माण) के लिए सोचा। गर्भ गार्हपत्य के लिए है तथा गर्भ की सफलता के लिए ही प्रजननकारी रेतस् (बीज) होता है। अतः उन्होंने पुनः इसी प्रक्रिया से उस शक्ति को गर्भ (गार्हपत्य) में स्थापित कर पुनश्चिति को प्राप्त कर लिया[6]।

---

1. श० ब्रा० 10. 1. 1. 8-9 — अङ्गुष्ठा इति पुमांसः अङ्गुल्य इति स्त्रियः कर्णाविति पुमांसो भ्रुवाविति: स्त्रिया······। सर्व एव मिथुन··· योषा वै वाचो वृषा प्राणो मिथुनं···।

2. तै० ब्रा० 3. 3. 2. 2 — अथो ऋग्वाव योषादर्भोवृषा तन्मिथुनम्। मिथुनमेवास्य तद्यज्ञे करोति प्रजननाय प्रजायते प्रजयापशुभिर्यजमानः।

द्र० वही 3. 3. 4. 1-2

3. तै० ब्रा० 1. 3. 3. 4 — सोमग्रहांश्च सुराग्रहांश्च गृह्णाति। पुमान्वै सोमः, स्त्री सुरा। तन्मिथुनम्, मिथुनमेवास्य तद्यज्ञे करोति प्रजननाय।

4. श० ब्रा० 1. 9. 2. 24 — योषा वै वेदिर्वृषा वेदः।

5. वही 8. 6. 3. 8 — एषो वै योनेरादिचयंद्रेतः प्रजातिस्तस्यामेतस्यां योनौ रेतः प्रजातिं नापश्यन्।

6. वही 8. 3. 3. 9 — तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथास्यां योनौ रेतः प्रजातिं दधामेति।

इसी तरह अग्निहोत्र के प्रायश्चित्तकरण-प्रकरण में कथित है कि यदि अग्निहोत्र के लिए दुहा हुआ दूध पृथिवी पर फैल जाये तब प्रायश्चित्त का मन्त्रोच्चारण करते हुए कहना चाहिए कि यह फैल गया, स्थापित हुआ तथा उत्पन्न हुआ; क्योंकि वीर्य जब फैलता है तभी स्थापित होकर सन्तानोत्पत्ति का कारण बनता है। यह पृथिवी योनि है तथा दूध वीर्य। अतः जो इस योनिस्वरूपा पृथिवी पर वीर्य (दुग्ध) स्थापित करता है वह प्रजाओं से युक्त होता हैं[1]। इस सन्दर्भ में शतपथब्राह्मण के कुछ महत्त्वपूर्ण स्थल दर्शनीय हैं, जैसे वह याज्ञिक (यजमान) सर्व प्रथम स्रुवा (पृथिवी खोदने का एक आयुध) का सम्मार्जन करता है। तदुपरान्त स्रुक् (चम्मच के आकार का) का। यहाँ स्रुवा पुरुष है तथा स्रुक् स्त्री है। वह इसलिए ऐसा करता है कि यह क्रिया सन्तानोत्पादक है[2]। यज्ञ में वह आज्य को देखता है, क्योंकि वृषा रेत है, आज्य योषा (पत्नी) है। इस प्रकार वह मिथुन प्रजनन करता है[3]। यज्ञ में होता कुछ भी अनुचित कथन नहीं करता है। अब वह 'वषट्' को पुकारता है। वषट्कार द्वारा ही वह अग्नि-योनि में रेतस् का सिंचन प्रजोत्पत्ति के लिए करता है; क्योंकि अग्नि ही यज्ञ की योनि है[4]। इसी प्रकार 'वषट्कार' के द्वारा वह ऋतुमती देव-पत्नियों में सन्ततिकारिणी बीज की स्थापना करता है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि वाणी ही वषट्कारी तथा रेतस् है। इस प्रकार वह वाणीस्वरूप रेतस् का ही सिंचन करता है; जिससे प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं[5]। प्रातःकाल वह होता कहता है कि सूर्य प्रकाश है तथा प्रकाश ही सूर्य एवं स्वाहा है। वह दोनों (प्रकाश तथा सूर्य) रेतस्युक्त होते हैं। ये देवों द्वारा दोनों तरफ से ग्रहण किये जाते हैं। ठीक यही प्रजनन का भी

---

1. श० ब्रा० 12. 4. 1. 7 — तदभिमृशेदस्कन्नधितप्राजनीति यदा वै स्कन्दत्यथ धीयतेऽथ प्रजायते योनिर्वाऽइयं रेतः पयस्तदस्यां योनौ रेतो दधाति।

2. श० ब्रा० 1. 3. 1. 9 — स वै स्रुवमेवाग्रे सम्मार्ष्टि अथेतराः स्रुचो योषा वै स्रुग्वृषास्रुवस्तस्माद्यद्यपि बाह्य इव स्त्रियः सार्धयन्ति।

3. वही 1. 3. 1-18 — योषा वै पत्नी रेतऽआज्यं मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते।

4. श० ब्रा० 1. 4. 1. 6 — प्रेति वै रेतः सिच्यत एति प्रजायते।
द्र० श० ब्रा० 1. 5. 2. 11 — वषट्कारेणाग्नावेव योनौ रेतो भूत सिञ्चत्यग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य सततः प्रजायतऽइति।
द्र० वही 1. 5. 2. 14 तथा 1. 7. 2. 14

5. श० ब्रा० 1. 7. 2. 21 — वाग्वै वषट्कारी वाग्रेतो रेत एवैतत् सिञ्चति षडित्यृतवो वै षट्··· ···रेत सिक्तमिमाः प्रजाः प्रजनयन्ति।

रूप होता है, क्योंकि प्रजनन में मिथुन दोनों तरफ से आबद्ध हो जाते हैं[1]। इसी के सदृश एक अन्य दृष्टान्त भी है, जिसमें अन्तर बस इतना ही है कि दोनों तरफ से ग्रहण करने के अतिरिक्त बाह्यभाग का विधान बताया गया है, क्योंकि रेतस् के बाह्य होने पर ही सन्तानोत्पत्ति होती है[2]।

एक अन्य स्थल पर पयस्या तथा वाजिन् को योषा-वृषारूप मानकर प्रजनन के प्रति संकेत किया गया है कि योषा पयस्या (दूध का ऊपरी भाग) है तथा वृषा रेतस् (वाजिनः) है। ये दोनों (मिथुन) प्रजाओं के लिए प्रजनन करते हैं[3]।

प्रजनन के समय योषा-वृषा की स्थिति को बतलाते हुए शतपथब्राह्मण में कहा गया है कि वह यजमान यज्ञ के पीछे से हवन करता है, क्योंकि प्रजनन के समय वृषा योषा के पीछे होकर रेतस् का आधान करता है[4]। अतएव वह योषा-वृषा के उत्तर (आगे के) तरफ सोती है। इस स्थिति में यज्ञ में त्वष्टा बीज की स्थापना करते हैं, जो देव होते हैं[5]। इन मिथुनों के अतिरिक्त भी प्रजननकारी मिथुन ब्राह्मणग्रन्थों में दर्शनीय होते हैं, जैसे यज्ञ में अग्नीध्र 'वृषा' है तथा उसकी पत्नी 'योषा' है। ये दोनों (मिथुन) प्रजनन करते हैं[6]। अग्नीध्र (वृषा) तथा नेष्टा (योषा) और उद्गाता (प्रजापति) तथा उसकी पत्नी (योषा) के मिथुन बहुप्रजाओं के लिए प्रजनन करते हैं[7]।

---

1. श० ब्रा० 2. 3. 1. 33 — सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति तदुभयतो ज्योती रेतो देवतया परिगृह्णाति···तदुभयत वैतत्परिगृह्य प्रजनयति तत्प्रजनस्य रूपम्।
2. वही 2. 3. 1. 35 — ज्योतिः सूर्यं सूर्यो ज्योति स्वाहेति तद्बहिर्धा ज्योतिः रेतो देवतया करोति बहिर्धा वै रेतः प्रजातं भवति तदेनत्प्रजनयति।
3. वही 2. 2 4. 21 — मिथुनादिद्धा एनमेतत्प्रजनयति योषा पयस्या रेतो वाजिनम् तस्मात्मिथुनात्प्रजनयति।
4. श० ब्रा० 2. 4. 4. 23 — स वै पश्चादिव यज्ञस्य जुहोति पश्चाद्वै परीत्य वृषा योषामधिद्रवति तस्या रेतः सिञ्चति।
5. वही 4. 4. 2. 16 — त्वष्टा वै सिक्तं रेतो विकरोति···ते देवा अथैता पत्न्य एवमिव हि मिथुनं क्लृप्तमुत्तरतो हि स्त्री मांँस समुपशेते।
6. वही 4. 4. 2. 15 — वृषा वा अग्नीद्योषा पत्नीमिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते।
7. वही 4. 4. 2. 18 — वृषा वा अग्नीद्योषा नेष्टा मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते··· प्रजापतिर्वा उद्गाता योषापत्नी मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते।

इसी प्रकार यज्ञ में निविद के बारह पदों के पाठ के उपरान्त होता जब अनुष्टुभ्-मन्त्रों का पाठ करता है, तब वह मन्त्रों के आदि पदों को अलग करता है। तथा अन्तिम पदों को जोड़ता है; क्योंकि मैथुन-प्रक्रिया में स्त्री अपनी जांघो को अलग करती है तथा पुरुष अपने जाघों को मिलाता है। वह (होता) आज्य-मन्त्रों का पाठ करने के आरम्भ में सन्तानोत्पत्ति के लिए मैथुन करता है। इसके तत्त्वविद सन्तान तथा पशुओं से युक्त होते हैं[1]।

एक अन्य स्थल पर योनि को पुष्कर-पर्ण माना गया है। इस प्रकार जब उस योनि (पुष्करपर्ण पर) को रेतस् से सिक्त किया जाता है, तब वह प्रजोत्पादक बन जाती है[2]। अन्ततः मिथुन संसर्ग से रेतस् योनि में ही सिक्त होता है[3]।

पूर्ण गर्भ एवं शिशु—जन्म का यज्ञरूपक—

गर्भाधान से नवें-दसवें मास में पूर्णगर्भ की स्थिति होती है[4]। तत्पश्चात् शिशु का माता के गर्भ से जन्म होता है। इस तरह के गर्भ-स्थित उल्व एवं जरायु में लिपटे सद्यः उद्भूत शिशु का क्रमिक यज्ञरूपक प्रस्तुत होगा, जो ब्राह्मणग्रन्थों में प्रायः उपलब्ध होता है।

ऐतरेयब्राह्मण में कथित है कि यज्ञ में ऋत्विज् द्वारा दीक्षित पुरुष मानो दूसरा नया जन्म पाने के लिए गर्भ में पुनः स्थापित होता है, क्योंकि उसके ऊपर वीर्यस्वरूप जल छिड़कते हैं। उस दीक्षित पुरुष पर नवनीत का लेप किया जाता है, क्योंकि यह नवनीत गर्भस्थ जीवों के लिए ही होता है। तत्पश्चात् दीक्षित पुरुष को योनि (उद्भव) स्थल पर ले जाया जाता है तथा उसे उल्व (जिसमें शिशु उत्पन्न होता है) स्वरूप वस्त्र से ढँका जाता है। जिस प्रकार उद्भूत शिशु के उल्व के ऊपर जरायु होता है, उसी प्रकार जरायुस्वरूप कृष्णमृगचर्म से उसे पुनः लपेटा जाता है। वह पुरुष अपनी

---

1. ऐ० ब्रा० 2. 35 — प्र वो देवायाग्नय इत्यनुष्टुभः पदे विहरति तस्मात्स्त्र्यूरुविहरति समस्य...करोति प्रजात्यै।

2. श० ब्रा० 5. 4. 1. 7 — योनिर्वै पुष्करपर्णं योनौ तद्रेतः सिञ्चति।

द्र० वही 8. 6. 3. 7 — यद्वै योनौ रेतः सिच्यते, तत्प्रजनिष्णुर्भवति।

3. वही 5. 4. 2. 9 — तस्माद् योनौ रेतः सिक्तं संसीदति।

4. का० श० ब्रा० 5. 6. 4. 2 — दशमास्यो वै गर्भो जायते। तदेनमेतद्दशमास्यमेव कृत्वा जनयति।

द० श० ब्रा० 10. 2. 3. 6 — गर्भंयोनिरनुवर्धते यावद् वाव योनावन्तर्गर्भो भवति तावदेव योनिर्वर्धतऽस्तावत्यु वाऽअत्र गर्भस्य वृद्धिः।

द्र० यजु० सं० 8. 28 — एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह। यथायं वायुरेजति।

मुठ्ठी बाँधे रहता है, क्योंकि मुठ्ठी बाँधे ही शिशु जन्म लेता है। शिशु जब माता के गर्भ से पृथिवी की गोद में आ जाता है, तब वह जरायु का परित्याग कर जन्म लेता है; उसी प्रकार दीक्षित पुरुष केवल कृष्णाजिन का ही परित्याग कर स्नान करता है, अर्थात् वह उल्बस्वरूप वस्त्र को पहने रहता है, क्योंकि शिशु भी तो उल्ब के साथ ही गर्भ से बाहर आता है[1]। चूँकि शिशु गर्भ में नीचे को सर किये रहता है और इसी अवस्था में जन्म भी लेता है; इसलिए प्रातःसवन में निविद् उक्थ(शस्त्रों) से पहले रखे जाते हैं। शिशु योनि के मध्य में स्थिर रहता है, अतएव मध्यन्दिनसवन में निविद् उक्थ के मध्य में रखे जाते हैं तथा गर्भ ऊपर से पैदा होते हैं; इसीलिए सायं-सवन में निविद् पाठ उक्थ के पीछे रखे जाते हैं। इस प्रकार का रहस्यज्ञ बहुप्रजावान् होता है[2]।

यज्ञों में बतलाया गया है कि यज्ञवेदि के चारों तरफ रखा हुआ परिश्रित (प्रस्तर) ही योनि है, उषा (लवणमयी पृथिवी) उल्ब है। बालुका रेतस् जो परिश्रित (प्रस्तर) वेदि के बाह्य तरफ होता है तथा लवणमयी पृथिवी अन्तःपक्ष में होती है; क्योंकि योनि बाहर रहती है तथा उल्ब भीतर। इसी तरह से जब लवणमयी पृथिवी बाह्यपक्ष में होती है तब बालू अन्तःपक्ष में, क्योंकि लवणस्वरूप उल्ब जब बाहर माना जायेगा, तब रेतस् का अन्तःपक्ष में होना स्वाभाविक है। इस प्रकार शिशु की

---

1. ऐ० ब्रा० 1. 3 — पुनर्वा एतमृत्विजो गर्भं कुर्वन्ति यं दीक्षयन्त्यद्भि-रभिषिञ्चति रेतो वा आप···योनिर्वाऽएषा दीक्षितस्य ···वाससो प्रोर्णुवंत्युल्वं वा एतद्दीक्षितस्य यद्वास उल्वेनैवैनं तत् प्रोर्णुवंति कृष्णाजिनमुत्तरं भवति उत्तरं वा उल्बाज्जरायु जरायुणैवैनं तत् प्रोर्णुवन्ति मुष्टिं कुरुते। मुष्टी वै गर्भोऽन्तः शेते मुष्टीकृत्वा कुमारो जायते···।···

2. वही 3. 10 — गर्भा वा एत उक्थनायन्निविदस्तद्यत्पुरस्तादुक्थानां प्रातः सवने धीयते तस्मात्परांचो गर्भा धीयन्ते परांचः संभवति यन्मध्यतो मध्यंदिने धीयते तस्मान्मध्ये गर्भा धृता यदंततस्तृतीयसवने धीयते तस्मादमुतोः वाचो गर्भाः प्रजायंते प्रजात्यै प्रजायते प्रजया पशुभिः य एवं वेद।

द्र० श० ब्रा० 3. 3. 3. 12 — गर्भो वा एष भवति यो दीक्षते प्राकृता वै गर्भा उल्बेनेव जरायुणेव तमत्राजीजनत।

द्र० वही 3. 2. 1. 16, 7. 1. 1. 7-8 तथा 7. 3. 1. 11

द्र० तै० ब्रा० 1. 6. 3. 1. 1. 7. 6. 4 तथा 2. 6. 2. 2

द्र० कौ० ब्रा० 6. 12 तथा ष० वि० ब्रा० 1. 5

भाँति अग्नि का जन्म होता है या अग्नि की, भाँति शिशु का[1]। यह दोनों एक दूसरे से रूपित होते हैं।

इस सम्बन्ध में अन्य भी यज्ञरूपक दर्शनीय होंगे। यथा शतपथब्राह्मण में कथित है कि अग्निचिति ही शरीर है, वेणु या मुञ्ज ही योनि है, शाण जरायु है, घी उल्ब है तथा समित् (याज्ञिक-इंधन) ही गर्भ है। ये सब मिलकर प्रजनन के कारण बनते हैं[2]; क्योंकि जिस तरह बीज गर्भ (योनि) में डाले जाते हैं, तब शिशु जन्म लेता है। अतएव बालक के अभिषेचन-संस्कार में वैश्वानर के रूप में अग्नि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह अग्नि वैश्वानर के रूप में भी जन्म लेता है। इसका कारण स्पष्ट है कि जैसा बीज होता है, वैसा ही शिशु उत्पन्न होता है[3]। यह प्रक्रिया चुपचाप ढ़ंग से होती है, क्योंकि बीजवपन एकान्त में ही किया जाता है; किन्तु पुनः जब अग्नि अभिषिक्त हो जाता है तथा अग्नि वैश्वानर को प्रदान कर दिया जाता है, तव यह प्रक्रिया प्रकटरूप में होती है[4]। यह अग्निचयन शरीर के अंगभूत 'सिर' से ही ज्ञात होता है। महाव्रत (एक विशाल यज्ञ) आत्मा (प्राणवायु) है तथा महदुक्थ शरीर। इस तरह सर्वप्रथम अग्निचयन होता है, क्योंकि गर्भ से बाहर आते हुए शिशु का सिर

---

1. श० ब्रा० 7. 1. 1. 16–17 — तद्वै योनिः परिश्रितः उल्बमूषा रेतः सिकता बाह्याः परिश्रिते भवत्यन्तर ऊषा बाह्यं हि योनिरन्तरमुल्वं बाह्य ऊषा भवन्त्यन्तराः सिकता बाह्युल्बन्तरं एतेभ्यो वै जायमानो जायते।

2. श० ब्रा० 6. 6. 2. 15–16 — तद्वा आत्मैवोषा योनिमुंञ्जाः शणा जरायूल्वं घृतं गर्भं समित्।

3. वही 6. 6. 1. 6 — वैश्वानरं वा एतमग्निं जनयिष्यन्भवति……रेतोभूतं सिञ्चति यादृग्वै योनौ रेतः सिच्यते तादृग्जायते। तद्यदेतमत्र वैश्वानरं रेतो भूतं सिञ्चति तस्मादेषोऽमुत्र वैश्वानरो जायते।

4. वही 9. 3. 1. 2 — यादृग्वै योनौ रेतः सिच्यते तादृग्जायते तद्यत्तत्र वैश्वानरं रेतोभूतं सिञ्चति तस्मादयम् इह वैश्वानरो जायतऽउपांशु तत्र भवति रेतो वै तत्र यज्ञ उपांशु वै रेतः सिच्यते निरुक्त इह निरुक्तं हि रेतो जातं भवति।

ही सर्वप्रथम दीखता है[1]। इस प्रकार वह शिशु उल्बसहित जन्म लेता है, जैसा कि पूर्व वर्णित भी है।

अब सृष्ट शिशु में वाणी का विन्यास कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में ऐतरेयब्राह्मण में कथित है कि होता नाभानेदिष्ठ का पाठ करता है। यह नाभानेदिष्ठ ही वीर्य है। इस प्रकार वह वीर्य का ही सेचन करता है। यह पाठ चुपचाप ढंग से किया जाता है, क्योंकि वीर्याधान के समय भी मौन ही रहा जाता है[2]। तदनन्तर वह नाराशंस का पाठ करता है। 'नर' प्रजावाचक है तथा शंस वाणीबोधक है। इस प्रकार वह उद्भूत सन्तान की वाणी का ही विन्यास करता है। इसी से प्रजाओं में बोलने की क्षमता उत्पन्न हुई[3]। जैसे तीन तरह के मानव पशु (माता-पिता-पुत्र) होते हैं, वैसे ही गर्भ, उल्ब तथा जरायु होता है। इसकी तुलना कृषि-क्षेत्र, वर्षा तथा बीज-वपन से भी की जाती है[4]।

इस प्रकार प्रजापति ने अनेक प्रकार के उल्बों से प्रजा-सृजन किया। फलतः ये प्रजाएँ अपने में सहमत नहीं हुईं। अतः प्रजापति ने सोचा कि ये प्रजाएँ आपस में एकमत हो जायँ। इसके लिए उन्होंने पुनः समान उल्बों से प्रजासृजन किया। इससे अब प्रजाएँ समान बुद्धि से रहने लगीं[5]। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि मानवी-सृष्टि का सिद्धान्त पूर्णतः यज्ञ पर आधारित है।

---

1. श० ब्रा० 10. 1. 2. 5 — शिर एवाग्नि प्राणो महाव्रतमात्मा महदुक्थं तस्मादेतानि सर्वाणि सहोपेयात्सह हि शिरः प्राण आत्मा तद्यदग्निः प्रथमश्चीयते शिरो हि प्रथमं जायमानस्य जायते।

2. ऐ० ब्रा० 6. 27 — नाभानेदिष्ठं शंसति रेतो वै नाभानेदिष्ठो।
द्र० ऋ० सं० 10. 61. 6 — रेतः तत् सिञ्चति तमनिरुक्तं शंसत्यनिरुक्तं वै रेतो गुहायोन्यां सिच्यते।

3. ऐ० ब्रा० 6. 27 — नाराशंसं शंसति प्रजा वै नरो वाक्शंसः प्रजास्वेव-तद्वाचं दधाति तस्मादिमाः प्रजा वदति।

4. श० ब्रा० 8. 6. 2. 2 — त्रिवृद्वै पशुः पिता माता पुत्रोऽथो गर्भोऽउल्बं जराय्वथो त्रिवृद्धा अन्नं कृषिवृष्टिर्बीजम् एकैवातिच्छन्दा भवति।
द्र० वही 6. 5. 3. 5 — त्रिवृद्धि प्रजापतिः पिता-माता-पुत्रोऽथो गर्भं उल्बं जरायुः।

5, श० ब्रा० 7. 1. 1. 7 — प्रजापतिः प्रजा असृजत तां नानोल्बा असृजत। तान् समजानत् सोऽकामयत सञ्जानीरन्निति ताः समानोल्बा अकरोत् तासामूषानुल्बमकरोत्ताः समजानत तस्मादप्येतर्हि समानोल्बाः समेव ज़ानते देवैः समानोल्बोऽसानीत्यु वै यजते।

वाक्-मनस् तथा श्रोत्रेन्द्रियादि-सृजन

किसी भी विवेकी अथवा चेतन प्राणी के लिए चक्षु, घ्राण, कर्ण, त्वक्, वाक् तथा गुह्येन्द्रियों का होना परमावश्यक होता है। इनमें से किसी भी एक की सत्ता के अभाव में जीवन व्यर्थ है। मुख्यतः चक्षु, वाक्, मनस् तथा श्रोत्रेन्द्रियों में सत्ता का आधान सृष्टिकर्त्ता प्रजापति ने किया, जिसका वर्णन ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध होता है; जैसा कि पूर्ववर्णित नाराशंसपाठ के माध्यम से उत्पन्न शिशु में जिस वाणी का विन्यास कराया गया है, उस वाणी का जन्म प्रजापति द्वारा ही हुआ। प्रजापति द्वारा उत्पन्न होकर उस वाणी ने रथन्तरसाम का सृजन किया[1]। जैमिनीयब्राह्मण में शिशु के उत्पन्न होने के बाद प्रकाश से वाणी की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है[2]।

अग्निमन्थन के प्रकरण में जब यह प्रश्न किया जाता है कि किससे तथा किसमें हवन किया जाय ? तब उसका उत्तर है कि प्राण के द्वारा प्राण में हवन किया जाय।

इस प्रकार प्राण की उत्पत्ति हुई तथा इसी क्रम में क्रमशः मनस्[3]-अङ्गार से चक्षु[4], स्तनयित्नु (गर्जन) से श्रोत्र आदि की उत्पत्ति हुई[5]। उपर्युक्त

---

1. ता० म० ब्रा० 7. 6. 3 — स (प्रजापतिः) व्वाचं व्यसृजत् सा व्वाग्रथन्तर-मन्वपद्यत।

द्र० जै० ब्रा० 3. 326

2. जै० ब्रा० 1. 1 — भा इत्य उद्दीप्यते, वाग् एवास्य सा जायते।

3. जै० ब्रा० 1. 1 — धूमोऽनुनिनर्दति मन एवास्य तद् जायत मनो मएतद् अजनीत्य एव तद्विद्यात्।

द्र० ष० वि० ब्रा० 5. 1. 1 — प्रजापतिस्तपोऽतप्यत् तस्य ह वै तप्यमानस्य मनः प्रजायत देवानसृजेयमिति।

द्र० तै० ब्रा० 2. 2. 9. 8 — असतोऽधि मनोऽसृज्यत्।

4. जै० ब्रा० 1. 1 — अङ्गारोऽनु निर्वर्तते चक्षुर एवास्य तद् जायते। चक्षुर्म एतद् अजनीत्य एवं तद् विद्यात्।

5. वही — स एषोऽङ्गार एतानि भस्मानि ग्रसते। यथा कुमारी जातस् स्तनम् अथ पद्यते तथा तिर्यंग् विसर्पति श्रोत्रम् एवास्य तज्जायते श्रोत्रम् म एतद् अजनीत्य एव तद् विद्यात्।

इन्द्रियों[1] (मनस्, वाक्, प्राण, चक्षु तथा श्रोत्र) के सृजन का वर्णन शतपथब्राह्मण में किया गया है, जहाँ यज्ञ में अग्न्याधान, अग्निचयन तथा स्तुति आदि याज्ञिककर्मों के सम्पादन हेतु उन इन्द्रियों की क्रमिक सृष्टि वर्णित है। इन इन्द्रियों के साथ ही अन्त में कर्मेन्द्रियों का भी सृजन वर्णित है[2]।

इन इन्द्रियों का इतना ही नहीं, बल्कि इनका सृजन-कार्य भी वर्णनीय है। यहाँ तक कि मन और वाणी के संयोग से संवत्सर की सृष्टि हुई[3]।

मानवीय चतुर्वर्ण-सृजन—

मानवीय सृष्टि के साथ ही साथ मानव-समुदाय को सुव्यवस्थित करने हेतु चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) की भी सृष्टि हुई। यह सृष्टि सर्वप्रथम ऋग्वेदसंहिता के पुरुषसूक्त में वर्णित है कि ये चारों वर्ण विराट्पुरुष के भिन्न-भिन्न अंगों से उत्पन्न हुए अर्थात् उस विराट् के मुख से ब्राह्मण, दोनों भुजाओं से क्षत्रिय, दोनों जंघाओं से वैश्य तथा उसके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए[4]।

---

1. श० ब्रा० 10. 5. 3. 3-7 — तदिदं मनः सृष्टमविरबुभूषत्…मनश्चितस्ते मनसैवाधीयन्त मनसा चीयन्त मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्त मनसास्तुवत मनसाशं सन्यत्विचं यज्ञे कर्म क्रियते… तन्मनो वाचमसृजत सेयं वाकस्रष्टाविरबुभूषन्निरुक्ततरा मूर्ततरा सात्मानमन्वैच्छत्।… सा वाक्प्राणमसृजत् सोऽयं प्राणः सृष्ट आविरबुभूषन्निरुक्ततरो मूर्ततरः स आत्मानमन्वैच्छत्। स प्राणाश्चक्षुरसृजत…तच्चक्षुः श्रोत्रमसृजत्।

2. वही 10. 5. 3. 8-9 — तच्छ्रोत्रं कर्मासृजत्। तत्प्राणानाभिसम मूर्च्छादिमं सन्देघमन्नसंदेहमकृत्स्नं वै कर्मऽर्ते प्राणेभ्योऽकृत्स्ना उ वै प्राणा ऋते कर्मणः।

3. वही 10. 6. 4. 4 — स मनसा वाचं मिथुनं समभवदशनायां मृत्युस्तद्येतद्रेतः आसीत्, स संवत्सरोऽभवत्।

4. द्र० ऋ० सं० 10. 90. 13
द्र० कौ० ब्रा० उ० 2. 9 — अथ पौर्णमास्याम् पुरस्ताच्च चन्द्रमसम् दृश्यमानम्। उपतिष्ठेत एतया एव आवृत्तसोमो राजसि विचक्षणो पञ्चमुखोऽसि प्रजापतिः ब्राह्मणस्ते एक मुखम्। तेन मुखेन राज्ञोऽत्सि तेन मुखेन माम् अन्नादम् कुरु। राजा ते एक मुखम्। तेन मुखेन विशोऽस्ति। तेन मुखेन माम् अन्नादम् कुरु। श्येनस् ते एक मुखम्।
द्र० महा० 3. 12, 962 — ब्रह्म वक्त्रम् भुजौ क्षत्रम् उरु मे संस्थिताः विशः पादौ शूद्राः भवन्ती मे विक्रमेण क्रमेण च।

इस सृष्टि का वर्णन वेद तथा वेदोत्तरकालीन ब्राह्मण-आरण्यक एवं उपनिषद् आदि ग्रन्थों में भी मिलता है।

उपर्युक्त विचार के सम्बन्ध में डॉ. एम० हॉग का तर्क है कि ब्राह्मण इस आद्य पुरुष के मुख से नहीं उत्पन्न हुए; अपितु पुरुष प्रजापति का मुख ही ब्राह्मण वर्ण हो गया अर्थात् वह ब्राह्मण वर्ण में परिवर्तित हो गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तत्सम्बन्धित मन्त्र का यह प्रतीकात्मक अर्थ है। मुख वाणी का स्थान होता है, इस प्रकार यह रूपक इस बात का संकेत कराता है कि ब्राह्मण मनुष्य जाति के आचार्य एवं शिक्षक हैं। भुजाएँ बल का स्थान हैं। यदि पुरुष की दोनों भुजाओं के क्षत्रियरूप दिये जाने का उल्लेख किया गया है, तो इसका यही अर्थ होगा कि क्षत्रियों को राज्य की रक्षा करने के लिए शस्त्र धारण करना पड़ता है। विराट् पुरुष के उरु वैश्य के रूप में परिवर्तित हो गये, जिसका अर्थ यह है कि शरीर का निचला (मध्य) भाग ग्रहण किये गये भोजन का प्रमुख स्थान है। अतः वैश्य का कर्त्तव्य अन्य व्यक्तियों के लिए भोजन (खाद्यान्न) उत्पन्न करना है तथा पुरुष के पैरों से शूद्र की सृष्टि इस बात की सूचक है कि वह उसी प्रकार अन्य वर्णों का महत्त्वपूर्ण सेवक होता है, जिस प्रकार पाद शरीर के अन्य अवयवों के लिए दृढ़ आधार होते हैं[1]। किन्तु ऋग्वेद के इस सूक्त के रचयिता का अभिप्राय इसे प्रतीकरूप से समझे जाने का था, इसका कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता है। अन्ततः जो हो, चतुर्वर्णों की सृष्टि विराट्पुरुष के विभिन्न अवयवों से हुई।

शतपथब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने 'भूः' इस शब्द का उच्चारण करके ब्राह्मणों को उत्पन्न किया, 'भुवः' कह कर क्षत्रियों को तथा 'स्वः' इस शब्द के उच्चारण से 'विश्' अर्थात् वैश्य को उत्पन्न किया[2]। तैत्तिरीयब्राह्मण में भी प्रायः यही आख्यान मिलता है कि यह अखिल विश्व ब्रह्म द्वारा सृष्ट है, जिसमें वैश्य वर्णकी उत्पत्ति ऋक् मन्त्रों से हुई। यजुर्वेद क्षत्रियों की उत्पत्ति का स्रोत है तथा सामवेद ब्राह्मणवर्ण का उद्भव स्रोत है[3]। यहाँ शूद्रों का वर्णन इसलिए नहीं है कि यज्ञ के

---

1. ऑन दी ओरिजिन ऑफ ब्राह्मणिज्म—
एम० हॉग पृष्ठ सं०—4

2. श० ब्रा० 2. 1. 4. 12 — भूरिति वै प्रजापतिः ब्रह्माजनयत्। भुव इति क्षत्रं स्वरिति विशमेतावद्वा इदं सर्वं यावदब्रह्म क्षत्रं विट् सर्वेणैवाधीयते।

3. तै० ब्रा० 3. 12. 9. 2 — सर्वं हेदम् ब्राह्मणाहैव सृष्टम्। ऋग्भ्योजातम् वैश्यम् वर्णमाहुः, यजुर्वेदम् क्षत्रियस्याहुर् योनिम्। सामवेदो ब्राह्मणानाम् प्रसूतिः।

प्रकरण में उपर्युक्त तीन ही वर्ण वरणीय होते हैं, जिन्हें तीन व्याहृतियों से सृष्ट किया गया है तथा चौथे की तत्काल कोई आवश्यकता नहीं रही होगी। फिर भी शूद्रों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शतपथब्राह्मण में वर्णित है कि प्रजापति ने जब तीन की संख्याओं से स्तुति की तब ब्राह्मणों की सृष्टि हुई, इसी प्रकार उसके पन्द्रह एवं उन्नीस की संख्याओं से स्तुति करने के फलस्वरूप क्रमशः क्षत्रिय, आर्य (वैश्य) एवं शूद्रों की उत्पत्ति हुई[1]। चतुर्वर्णों की सृष्टि के सम्बन्ध में शतपथब्राह्मण के चतुर्दश काण्ड में एक रोचक मिथक मिलता है कि 'सृष्टि के आदि में एक मात्र ब्रह्म (ब्रह्मण वर्ग का प्रतिनिधिभूत) ही सम्पूर्ण विश्वरूप में व्याप्त था। अकेला होने के कारण यह पूर्णता का अनुभव नहीं कर सका, अतः उसने अपने श्रम के फलस्वरूप क्षत्रिय के कल्याणकारीरूप को उत्पन्न किया। देवों में क्षत्रगुणसम्पन्न इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, तथा मृत्यु आदि होते हैं। अतएव क्षत्रिय से परे कोई नहीं है। इसीलिए राजसूययज्ञ में ब्राह्मण क्षत्रिय से नीचे स्थित होकर उपासना करते हैं। इस प्रकार वह ब्राह्मण क्षत्रिय में ही अपना यश स्थापित कर देता है तथा यज्ञ में ऋत्विज् उससे कहता है कि हे राजन्! तुम ब्रह्मन् हो, क्योंकि ब्रह्म ही क्षत्रिय की योनि होता है। अतः वह राजा सर्वोत्कृष्ट होकर अन्ततः ब्रह्म का ही आश्रय लेता है।

उस ब्रह्म को इतने से भी पूर्णता का आभास नहीं हुआ। अतएव उसने विश् (वैश्य) वर्ण को उत्पन्न किया। ये विश् देवताओं में वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव एवं मरुत आदि होते हैं। इससे भी उसकी पूर्ण सन्तुष्टि नहीं हुई। इसलिए अन्ततः उसने शूद्रवर्ण को उत्पन्न किया। देवताओं में पूषा ही शूद्र है तथा यह पृथिवी ही पूषा है; क्योंकि यह √पुष (रक्षणे) धात्वर्थ में विद्यमान जगत् की रक्षा करती है।

इस प्रकार यही ब्रह्म (ब्राह्मण) क्षत्र (क्षत्रिय), विश् (वैश्य) तथा शूद्र है। अग्नि से यही ब्रह्म देवताओं में ब्रह्म कहलाया तथा मनुष्यों में ब्राह्मण हुआ। इसी प्रकार दैवी क्षत्र, विश् तथा शूद्र से मानवी क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र आदि उत्पन्न हुए। अतएव देवताओं में से अग्नि में तथा मनुष्यों में से ब्राह्मण में लोक की कामना

---

1. श० ब्रा० 8. 4. 3. 4, 10 तथा 12 — तिसृभिरस्तुवतेति। ...... ब्रह्मासृज्येतेति। ब्रह्मात्रासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीदिति......पञ्चदशभिरस्तुवतेति .... क्षत्रमसृज्येतेति क्षत्रमत्रासृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत नवदशभिरस्तुवतेति शूद्रार्यावसृज्येतामिति शूद्रार्यावत्रासृज्येतामहोरात्रेऽधिपत्नी आसीत्।

द्र० तै० सं० 4. 3. 10. 1.

की जाती है[1]। तैत्तिरीयब्राह्मण के एक स्थल पर वर्णित है कि ब्राह्मणवर्ग देवताओं से उत्पन्न हुआ तथा शूद्र असुरों से[2]। इसी ब्राह्मण के एक अन्य स्थल पर शूद्र की उत्पत्ति 'असत्' से स्वीकार की गयी है[3]। राजन्य (क्षत्रिय) की पृथक् सृष्टि का वर्णन तैत्तिरीयसंहिता में उपलब्ध होता है, जहाँ कथित है कि जब राजन्य गर्भ में था, तभी देवता उससे आतंकित होने लगे। अतः इसके निवारणार्थ उन्होंने देव-गर्भस्थ राजन्य को बंधित कर दिया। अतएव जब वह जन्म लेता है, तब बन्धनसहित होता है। यदि वह बन्धनरहित उत्पन्न हो, तब वह अपने शत्रुओं का नाशक होगा। अतः जो यजमान राज्य को बिना बन्धन के उत्पन्न तथा उसे अपने शत्रुओं के संहारक के रूप में देखना चाहता है, तब उसे ऐन्द्रबार्हस्पत्य नामक चरु का निर्वपन करना चाहिए, अर्थात् एक राजन्य का स्वरूप इन्द्र का रूप होता है तथा एक ब्राह्मण बृहस्पति का रूप है। अतः ब्राह्मण के द्वारा ही कोई राजन्य को बन्धनमुक्त करा सकता है[4]। व्रात्य के रजस् से पूर्ण होने पर राजन्य की उत्पत्ति होती है[5]। एक स्थलपर वर्णित है कि जब राजा के घर में कोई विद्वान् व्रात्य अतिथि आता है, तब उसको

---

1. श० ब्रा० 14. 4. 2. 23-25 तथा 27 — ब्रह्म वा इदमग्रऽआसीत् एकमेव तदेकं सन्नव्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत् क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति तस्मा क्षत्रात्परं नाऽस्ति तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते......स नैव व्यभवत्। स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणशऽआख्यायन्ते वसवो रुद्राऽआदित्या विश्वेदेवा मरुत इति। स नैव व्यभवत्। स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति। तदेतत् ब्रह्मक्षत्रं विट् शूद्रः। तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माऽभवद् ब्रह्मणो मनुष्येषु...।
2. तै० ब्रा० 1. 2. 6. 7 — दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः असुर्यः शूद्र...।
3. वही 3. 2. 3. 9 — असतो वा एषः संभूतः, यच्छूद्रः।
4. तै० सं० 2. 4. 13. 1 — देवा वै राजन्याज्जायमानाद् अबिभयुः तम अन्तर एव सन्तं दाम्नाऽपोम्भन्। स वै एषोऽपोब्धो जायते यद्राजन्यो यद्वै एषोऽनपोब्धे जायेत वृत्रानवंशश्चरेद्......।
5. अ० वे० 15. 8. 1 — सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत।

अपने से श्रेष्ठ के रूप में सम्मानित करना चाहिए। इससे उसको किसी भी प्रकार की हानि नहीं होती है। इस प्रकार ब्राह्मण और क्षत्रिय उत्पन्न हुए[1]।

शतपथब्राह्मण के सौत्रा-वरुणी ग्रहप्रकरण में क्षत्रिय को वैश्यों से उत्पन्न हुआ कहा गया है। इस सम्बन्ध में वर्णित है कि वहाँ (यज्ञ में) दूध और सुरा दो वस्तुएँ होती हैं। दूध सोम होता है तथा सुरा अन्न। अर्थात् दूध से सोम की प्राप्ति हो जाती है तथा सुरा से अन्न की। वह दूध क्षत्रिय है तथा सुरा वैश्य। यज्ञ में सुरा को पवित्र करने के लिए पहले दूध को पवित्र किया जाता है। इस प्रकार दूसरे शब्दों में वह वैश्यों से क्षत्रियों को उत्पन्न करता है, क्योंकि क्षत्रिय वैश्य से ही उत्पन्न होते हैं[2]। इसके विपरीत वहीं यह भी कथित है कि क्षत्रिय ब्रह्म से उत्पन्न हुआ। इसीलिए मन्त्र से दूध को पवित्र करते समय वह ब्रह्म से क्षत्र को उत्पन्न करता है[3]। यहाँ क्षत्रिय तथा वैश्य में सद्बुद्धि की स्थापना हेतु दूध और सुरा का एक साथ ग्रहण कर वह यज्ञ में सफल हो जाता है[4]। चारों वर्णों की सुनिश्चितता का ज्ञापन करानेवाली शतपथब्राह्मण की एक कण्डिका है, जिसमें कहा गया है कि ब्राह्मण राजन्य (क्षत्रिय), वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण होते हैं[5]। इन चारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मनुसंहिता एवं पुराणगत विचारों का भी उल्लेख किया जा सकता है।

मनु के अनुसार विश्व में मनुष्यों के एक सुव्यवस्थित समाज की स्थापना के लिए पुरुष (ब्रह्मा) ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र को अपने मुख, बाहु, उरु तथा

---

1. वही 15. 9. 1 — तद् यस्य एवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर् गृहान् आगच्छेत् श्रेयांसम् एनम् आत्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय नावृश्चते तथा राष्ट्राय नावृश्चते। अतो वै ब्रह्म च क्षत्रं च उदतिष्ठताम्।

2. श० ब्रा० 12. 7. 3. 8 — पयश्च सुरा च भवतः सोमो वै पयोऽन्नं सुरा पयसैव सोमपीथमवरुन्धे सुरयाऽन्नाद्यं क्षत्रं वै पयो विट् सुरा सुरां पूत्वापयः पुनाति विशऽएव तत्क्षत्रं जनयति विशो हि क्षत्रं जायते।
द्र० ऐ० ब्रा० 2. 33

3. श० ब्रा० 12. 7. 3. 12 — ब्रह्म क्षत्रं पवतऽइति पयः पुनाति ब्रह्मणऽएव तत्क्षत्रं जनयति ब्रह्मणो हि क्षत्रं जायते तेज इन्द्रियमिति।

4. श० ब्रा० 12. 7. 3. 15 — क्षत्रं वै पयोग्रहाः विट् सुराग्रहाः······विशमेव क्षत्रेण संदधाति क्षत्रं विशापापवस्यसस्य व्यावृत्यै यज्ञस्य समृद्ध्यै।

5. वही० 5. 5. 4. 9 — चत्वारो वै वर्णाः ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रो।

पादों से उत्पन्न किया[1]। विष्णुपुराण के मैत्रेय-पराशर संवाद में मैत्रेय के यह पूछने पर कि ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य आदि वर्गों की उत्पत्ति कैसे हुई? पराशर ने इसका उत्तर दिया कि जब सत्यसंकल्पयुक्त होकर ब्रह्मा सृष्टि की रचना के लिए इच्छुक हुए, तब सत्त्वगुण सम्पन्न प्रजाएँ उनके मुख से उत्पन्न हुईं। जिनमें रजोगुण का आधिक्य था, वे उनके वक्ष से उत्पन्न हुईं। जिनमें रजो-गुण एवं तमोगुण प्रबल थे, वे उनकी जंघाओं से उद्भूत हुए तथा तमोगुण एवं आसुरगुण सम्पन्न प्राणियों (शूद्रों) की सृष्टि उनके पैरों से हुई। इस प्रकार चारों वर्णों के रूप में ब्रह्मा द्वारा सृष्ट मनुष्य अपने धार्मिक निष्ठा एवं वर्णधर्म से अभ्युदय प्राप्त करने में पूर्णतः तल्लीन हो गये। अन्ततः चारों वर्णों की उत्पत्ति सूत्रात्मकरूप में प्रजापति से हुई।

प्रजापति द्वारा सृष्ट चतुर्वर्णों का धर्म—

सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षा के लिए प्रजापति (ब्रह्मा) ने चारों वर्णों के लिए पृथक्-पृथक् कर्मों का विधान किया, जो उनके मुख से पैर तक के विभिन्न अंगों से उद्भूत थे। यहाँ धर्म से तात्पर्य कर्म से ही लिया जायेगा। वैदिक साहित्य में जहाँ वर्णों के धर्म की चर्चा की गई है, वहाँ प्रायः उन वर्णों के तत्तत् कर्म होते हैं।

इन चारों वर्णों में ब्राह्मण सर्वोच्च है[2]। यहाँ तक कि उसे पृथिवी पर साक्षात् देवस्वरूप माना गया है, वह इस सृष्टि का स्वामी होता है, क्योंकि वह विष्णु का मुख है। इसीलिए वह यज्ञ का भी प्रतिमूर्त है। वह ब्राह्मण यज्ञ का प्रतिनिधित्व करता है। ये ब्राह्मण वर्ण अध्ययन एवं अध्यापन सम्बन्धी कर्म में रत होते थे। यही वेदों के धारक भी हैं।

दूसरा महत्त्वपूर्ण वर्ण क्षत्रिय है। वह समस्त शूरता एवं राजनीतिक शक्ति का स्रोत होता है। वह जन्मजात शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेवाला होता है। क्षत्रिय ब्राह्मणों के साथ संयुक्त होकर अपने को पूर्ण बलशाली समझते हैं। यहाँ तक कि ये दोनों एक दूसरे के बिना पृथिवी पर स्थिर ही नहीं रह सकते।

इन दोनों के सहयोगी वैश्य होते हैं, विशेष कर क्षत्रिय के। वैश्य क्षत्रिय से कुछ कम शक्तिशाली होते हैं तथा भाषण एवं विचार में भिन्न होते हैं। किन्तु ये क्षत्रिय से कभी सम होने का प्रयास नहीं करते। ये समाज में कृषि एवं पशुपालन कर्म सम्पादित कर समाज-निर्माण का कार्य करते हैं। अन्तिम चतुर्थ शूद्र वर्ण है, जिनको उपर्युक्त तीन वर्णों से निम्नस्तरीय कहा गया है; क्योंकि इसे अनृत कहा जाता है।

---

1. मनुसं० 1. 31 — लोकानां तु विवृध्यर्थम् मुखबाहूरुपादतः ब्राह्मण् क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्।

2. द्र० मनुसं० 1. 93

इनका यज्ञ से कोई सम्बन्ध नहीं होता । यहाँ तक कि यज्ञ के प्राचीन वंश[1] तक इनका प्रवेश वर्जित होता है। इनका धर्म मात्र सेवा करना है तथा ये तीनों वर्गों द्वारा सेव्य होते हैं। ये अपने सेव्यभावना से ही समाज के चतुर्थस्तम्भ के रूप में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं[2] ।

सप्तर्षि-सृजन—

देवताओं तथा मनुष्यों के सृष्ट हो जाने के बाद कुछ प्रमुख ऋषियों का भी सृजन हुआ। प्रजापति के पाँच प्राणों से स्तुति के फलस्वरूप विद्यमान वस्तुओं की सृष्टि हो जाने के बाद स्वयं उसने पुनः श्रोत्र, चक्षु, नासिका तथा वाणीरूप सप्त-शीर्ष प्राणों से स्तुति की; जिसमें सप्त-ऋषियों की सृष्टि हुई। इन सप्त-ऋषियों की सृष्टि के समय वह धातुरूप में अधिपति था[3] ।

विद्युत् एवं ध्वनि की तरंगों तक की सृष्टि का प्राणात्मक अथवा आरम्भक ऋषि कहा जाता है, क्योंकि ये तरंगें आपोमय समुद्र अथवा परमेष्ठी ऋत समुद्र में विलीन रहती हैं, जो सृष्टि काल में विश्वरचना के लिए संक्षुब्ध हो जाती हैं। शतपथब्राह्मण में कहा गया है कि प्राण ही ऋषि है[4] । क्योंकि यह ऋषि तप से अपने शरीर को कष्ट पहुँचाते हैं। इसीलिए इन्हें ऋषि कहा जाता है[5] । सृष्टि के समय यही प्राणस्वरूप ऋषि सप्तर्षि बन जाता है। यहाँ सात संख्या सृष्टिकारी होती है, जो विश्व-रचना का मूल भी है।

इस सन्दर्भ में पुराण का भी एक स्थल उपलब्ध होता है, जहाँ सृष्टिकारी ब्रह्मा (प्रजापति) के मन से भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अङ्गिरस्, मरीचि, दक्ष, अत्रि

1. प्राचीन वंश = यज्ञशाला के छप्पर को बड़ेर (लम्बी काष्ठ), जो पूरब की तरफ घुमी होती है। सर मोनियर विलियम्स ने इसके लिए कहा है :—
"Having the supporting Beams turned castward" Sanskrit English Dictionary—Page-704.
2. द्र० मनुसं० 1. 88-91
3. श० ब्रा० 8. 4. 3,6 — स एवेमे सप्तशीर्षा-प्राणास्तैरेव तदस्तुवत। सप्तऽ-ऋषयोऽसृज्यन्तेति सप्तऽर्षयोऽत्रासृज्यन्त।
द्र० वा० सं० 14. 28
द्र० तै० सं० 4. 3. 10. 1
4. श० ब्रा० 6. 1. 1. 1. — प्राणा वा ऋषयः।
5. वही — तपसा रिषंस्तस्मादृषयः।

तथा वसिष्ठ आदि की सृष्टि हुई। प्रजापति के मन से उत्पत्ति होने के कारण ही ये उनके मानस पुत्र कहलाये।

पितर-सृजन—

सामान्यत: मनुष्यों के मृत्यूपरान्त ही पितरों का नाम आता है; किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों में पितरों का सृजन स्वतन्त्ररूप में हुआ है। सात सिर तथा दो प्राण सहित नौ प्राणों से प्रजापति ने स्तुति किया, फलत: पितरों की उत्पत्ति हुई[1]। इन पितरों के सृजन के समय अदिति अधिपत्नी थी। तैत्तिरीयब्राह्मण के अनुसार सृष्टिकामी प्रजापति ने अपने तप एवं श्रम के द्वारा स्वयं गर्भधारण किया, जिसके फलस्वरूप इस श्रान्त प्रजापति की प्राणवायु से असुरगण हुए। इस प्रकार असुरों के सृष्ट हो जाने के बाद प्रजापति ने स्वयं को पितारूप में माना। तदनन्तर उसने पितरों का सृजन किया[2]। इसी प्रकार विष्णुपुराण में भी कहा गया है कि प्रजापति के जघन से असुरों की उत्पत्ति हो जाने के बाद उसने तमोगुणनिर्मित उस शरीर का परित्याग कर रात्रि का सृजन किया। तदनन्तर द्वितीय शरीर धारण करने पर उनके मुख से सतोगुणसम्पन्न देवता उत्पन्न हुए। प्रजापति ने पुन: अपना शरीर त्याग दिया। फलत: दिन हो गया। अब उन्होंने विशुद्ध सत्त्वगुण से निर्मित एक दूसरा शरीर धारण किया, जिससे पितरों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार पितृ-सृजन करने के पश्चात् वे स्वयं को पिता समझने लगे[3]।

प्रजापति द्वारा सृष्ट इन पितरों का निवासस्थान दक्षिण दिशा की ओर होता है[4]। पितरों की संख्या के सम्बन्ध में अनिश्चितता ही है, क्योंकि इनकी कोई सुनिश्चित संख्या नहीं है; किन्तु श्राद्धसंस्कार में पिता, पितामह तथा प्रपितामह आदि

---

1. श० ब्रा० 8. 4. 3. 7 — नवभिरस्तुवतेति नव वै प्राणाः सप्तशीर्षन्नवाञ्चौ द्वौ तैरेव तदस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तेति।
   द्र० वा० सं० 14. 28
   द्र० तै० सं० 4. 3. 10. 4
   तथा जै० ब्रा० 3. 3. 11
2. तै० ब्रा० 2. 3. 8. 1 — सोऽसुरान् सृष्ट्वा पिता इव अमन्यत् तद् अनु पितॄन् असृजत।
3. वि० पु० 32 (उद्धृत मू० सं० उ० भाग 1 पृ. 65 — सत्त्वमात्रात्मिकाम् एव ततोऽन्यां जगृहे तनुम्। पितृवद् मन्यमानस्य पितरं तस्य जज्ञिरे।
4. श० ब्रा० 9. 3. 4. 11 — दक्षिणतो वाऽअन्नस्योपचारस्तदेनमन्नस्यार्धादभिसिञ्चाम इति न तथा कुर्यात्…………हैतां दिशं प्रैति……।

तीन ही पितरों का नाम आता है। इस प्रकार बहुवचनान्त तक ये तीन ही पितर गिने जाते हैं। यज्ञ में दीक्षित वसन की नीवि पितरों की होती है[1]।

शतपथब्राह्मण के मृताग्निहोत्र-निरूपण-प्रकरण में देवों से विपरीत पितरों की योग्य अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। यथा अग्निहोत्री दूध को अंगारों पर नहीं पकाता है; क्योंकि ऐसा करने से वह (दूध) देवताओं के योग्य हो जाता है। अतः वह गार्हपत्य से राख निकालकर उसी पर दूध को पकाता है, जो पितरों के योग्य होता है। इसी प्रकार वह बिना प्रकाश से देखे तथा बिना जल डाले एक ही बार में रखकर उस पात्र को उतारता है तथा पात्र में दूध एक ही बार में चुपके से उड़ेलता है। वह यज्ञशाला में समिधा को नीचे की तरफ करके गार्हपत्य के दक्षिण की ओर ले जाता है। अन्ततः उत्तर की ओर शिरावाले तृणों को भी दक्षिण की ओर कर उसे पितरसम्बन्धित कर देता है तथा आहवनीयाग्नि पर समिधा रखकर बाँया जानु (घुटना) झुका कर चुपके से स्रुच् को अग्नि पर डालता है। यही नहीं, वह उसे न तो ऊपर को हिलाता है, न पोंछता है और न अवशिष्ट दूध का पान ही करता है। वह उसे फेंकता भी नहीं है। इस प्रकार वह इन सारी क्रियाओं को पितरों के योग्य बना देता है[2]। ऐसा नहीं होने पर ये सारी क्रियाएँ देवताओं की हो जाती हैं।

तिर्यक्-जीव-सृजन

इस विश्व में मनुष्य के बाद 'तिर्यक्-जीवों' (पशु-पक्षियों) का सृजन हुआ। जैसे अन्य प्रजाओं (देव, असुर, मनुष्य तथा पितर) का सृजन प्रजापति की सृष्टिकारी कामना के फलस्वरूप हुआ, उसी तरह इन 'तिर्यक्' गतिवाले पशु-पक्षियों को भी प्रजापति ने ही सृष्ट किया। प्रजापति ने 'भूः' यह कर स्वयं को उत्पन्न किया, 'भुवः' द्वारा प्रजाओं को उत्पन्न किया, जिसका वर्णन किया जा चुका है तथा 'स्वः' इस

---

1. वही 3. 1. 2. 18 — तस्य वाऽएतस्य वाससः नीविः पितॄणाम्।

2. श० ब्रा० 12. 5. 1. 7–12 — नाङ्गारेष्वधिश्रयति यद्यङ्गारेष्वधिश्रयेद्वैत्रा कुर्याद् गार्हपत्यादुष्णं भस्मा दक्षिणा निरुध्य तस्मिन्नेतदधिश्रयति पितृदेवत्यमेवैनत्तत्करोति ···· सकृदेव निकर्षन्हरति ····'····सकृदेव तूष्णीं न्यवपर्यस्यति······ अधस्तादुपास्य हरति···· कुर्याद् दक्षिणेन गार्हपत्यमेति पितृदेवत्यमेवैनत्तत्करोति। अथ यान्यामून्युदीचीनाग्राणि तृणानि भवन्ति। दक्षिणाग्राणि तानि करोति··· समिधमभ्याध्याय सव्यं जान्वाच्यसकृदेव तूष्णीं न्यवपर्यस्यति . . . नोदिङ्गयति नोपमृष्टे न प्राश्नाति नो द्रुक्षति पितृदेवत्यमेवैनत्तत्करोति।

शब्द का उच्चारण कर पशुओं को उत्पन्न किया[1]। प्राण-स्तुतियों के सन्दर्भ में बृहस्पति के आधिपत्य में प्रजापति ने जब सत्रह-प्राणों से स्तुति की, तब ग्राम्य-पशु उत्पन्न हुए[2] तथा उसके इक्कीस प्राण-स्तुतियों से एक शफ (खुर) वाले पशु उत्पन्न हुए[3]। इन पशुओं की उत्पत्ति के समय वरुण का आधिपत्य था। उस प्रजापति की तेइसवें प्राण-स्तुतियों से क्षुद्र पशुओं (पक्षियों) की उत्पत्ति हुई तथा पच्चीसवें से से जंगली पशुओं का सृजन हुआ[4]। इन पशुओं के सृजन के समय 'पूषन्' तथा 'वायु' अधिपति थे।

यह तो स्पष्ट है कि सर्वप्रथम प्रजापति ही इस विश्वरूप में था तथा उसी ने सन्तति-कामना की। इसी कामना के अन्तर्गत उसने अपने मन से पुरुष को उत्पन्न किया, तत्पश्चात् उसने अपने नेत्र से अश्व को, प्राण से गौ को, श्रोत्र (कर्ण) से भेंड़ को तथा अपनी वाणी से अज (बकरे) को उत्पन्न किया[5]। प्रजापति की आखों से घोड़ों को उत्पन्न होने की बात कई स्थलों पर कथित है। यथा शतपथब्राह्मण के अश्वस्यावदानम् (अश्वमेध) प्रकरण में वर्णित है कि एक बार प्रजापति की आखें

---

1. श० ब्रा० 2. 1. 4. 13 — भूरिति वै प्रजापतिः आत्मानमजनयत् भुव इति प्रजा स्वरिति पशून्।

2. तदेव 8. 4. 3 .11 — सप्तदशभिरस्तुवतेति . . तेनैव तदस्तुवत ग्राम्याः पशवो सृज्यन्तेति ग्राम्याः पशवोऽत्रासृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीदिति।

3. तदेव 8. 4. 3. 13 — एकविंशत्यास्तुवतेति''''''तेनैव स्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त इति।

4. श० ब्रा० 8. 4. 3. 14-15 — त्रयोविंशत्यास्तुवतेति'''तेनैव तदस्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्तेति'''पञ्चविंशत्यास्तुवते '''। तेनैव तदस्तुवत आरण्याः पशवोऽसृज्यन्तेति।

द्र० यजु० सं० 14. 28

द्र० तै० सं० 4. 3. 10. 1

5. श० ब्रा० 7. 5. 2. 6 — प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयतान्नं सृजेय प्रजायेय इति स प्राणेभ्य एवाधिपशून्निरमिमीत मनसः पुरुषम्, चक्षुषोऽश्वं प्राणाद् गाम् श्रोत्रादविम् वाचोऽजम्।

सूज गईं तथा बाहर को निकल पड़ीं। इसी से घोड़े उत्पन्न हुए[1]। इसी प्रकरण में नरकुल की चटाई का भी विधान वर्णित है, जो जल से उत्पन्न होती है तथा मेध्य अश्व भी तो समुद्रमन्थनोपरान्त जल से उत्पन्न हुआ था। इस प्रकार इन दोनों का संयोग यज्ञ की समृद्धि करता है। अश्वमेधनिरूपण में ही मेध्य घोड़े के रंग के सम्बन्ध में आचार्य भाल्लवेय का कथन है कि घोड़ा दो रंग का (चितकबरा) होना चाहिए, क्योंकि यह प्रजापति की आँख से उत्पन्न हुआ है; जब कि आँखे भी द्विरंगी हुआ करती हैं[2]।

शतपथब्राह्मण के समापन काण्ड में एक आख्यान दर्शनीय है, जिसमें वर्णित है कि सृष्टि के आदि में स्थित एकमात्र उस प्रजापति ने अपने शरीर को दो भागों में विभक्त कर दिया, जिसके फलस्वरूप पति-पत्नी का सृजन हुआ। उसी पत्नी (स्त्री) से प्रजापति ने सहवास किया, जिससे स्वयं को कन्यारूप में मानती हुई उस स्त्री ने सोचा कि कहीं छिप जाऊँ। तदनन्तर वह गौरूप में हो गई। उसके गौरूप में हो जाने पर प्रजापति वृषभ बन गया। इस प्रकार समान पशु होकर ये दोनों मैथुन किये, जिसके फलस्वरूप गाय–बैलों की सृष्टि हुई। तत्पश्चात् उसी भावना से वह स्त्री-रूपा 'गौ' घोड़ी बन गयी तथा पुरुष (प्रजापति) रूप 'वृषभ' घोड़ा बन गया। इस प्रक्रिया से यही मिथुन गर्दभी-गर्दभ भी बन गया तथा इन दोनों ने समान पशुओं के रूप में समागम किया, जिससे एकशफ (खुर) वाले बहु प्रजाओं की सृष्टि हुई। इसके बाद एकशफी पशुरूपा वह स्त्री लज्जित होकर बकरी तथा मादे भेंड़ का रूप ग्रहण कर ली तथा पुरुष (अश्व) ने भी बकरे तथा नरभेंड़ का रूप

---

1. वही 13. 3. 1. 1 तथा 3 — प्रजापतेरक्ष्यंश्वयत् । तत्परापतत्तोऽश्वः समभवद्यदश्वस्याश्वत्वम् ··· वैतसः कटो भवति अप्सु योनिर्वा अश्वोऽप्सुजा वेतसः ।

2. श० ब्रा० 13. 4. 2. 3 — तदु होवाच भाल्लवेयः द्विरूप एवैषोऽश्वः स्यात्कृष्णसारंगः प्रजापतेर्वाऽएषोऽक्ष्णः समभवत दिवरूपं वा इदं चक्षुः शुक्लं चैव कृष्णं च ।

द्र० तै० ब्रा० 1. 1. 5. 4 — प्रजापतेरक्ष्यश्वयत् तत्परापतत् तदश्वोऽभवत् ।

द्र० जै० ब्रा० 2. 268

ग्रहण कर लिया। इसके फलस्वरूप चींटियों तक पशु पक्षियों के विभिन्न नरमादाओं का सृजन हुआ, जिससे तिर्यक् सृष्टि का अनवरत विकास हुआ[1]।

प्रजापति द्वारा पशुओं के सृजन का उल्लेख तैत्तिरीय, जैमिनीय तथा काण्वशाखीय शतपथब्राह्मणप्रभृति ग्रन्थों में भी मिलता है। तैत्तिरीयब्राह्मण में एक स्थल पर प्रजापति द्वारा सोम से पशुओं की उत्पत्ति वर्णित है[2]। जैमिनीयोपनिषद्-ब्राह्मण के अनुसार चन्द्रमा की सृष्टि के उपरान्त प्रजापति ने पशुओं को उत्पन्न किया[3]। जैमिनीयब्राह्मण में प्रजापति ने पशुओं का सृजन किया; किन्तु उनके द्वारा ये सृष्ट पशु दूर होने लगे, तब उन्होंने साम-मन्त्रों द्वारा उन्हें वापस लौटाया[4]। बहुरंगे पशुओं सहित हस्ति एवं गर्दभ आदि की सृष्टि के सम्बन्ध में जैमिनीयब्राह्मण का एक अन्य उद्धरण भी है, जिसके अनुसार प्रजापति ने जिन पशुओं को सर्वप्रथम उत्पन्न किया, वे रोहित वर्ण के थे। तदनन्तर अरुण, श्वेत तथा कृष्ण वर्ण के पशुओं का सृजन किया और उसे आग से तपाया। इस तपाये जाने के अनन्तर तीन वशा (हाथियों) का

---

1. श० ब्रा० 14. 4. 2. 6-9 — सो हेयमीक्षाञ्चक्रे कथं नु माऽऽत्मन एवं जनयित्वा सम्भवति हन्त तिरोऽसानीति। सा गौरभवत्। वृषभऽइतरस्तां समेवाभवत्ततो गावोऽजायन्त बडवेतराऽभवत् वस्तऽइतरोऽविरितरामा इतरऽस्तां समेवाभवत्ततोऽजावयोऽजायन्तेमेव यदिदं किं च मिथुनमापिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत्।

 द्र० मनुसं० 1. 41

2. तै० ब्रा० 1. 5. 2. 4 — प्रजापतिः पशूनसृजत।

 द्र० वही 2. 3. 2. 4 — सोमाद्धि पशूनसृजत्।

3. जै० उ० ब्रा० 1. 15. 1 — ततश्चन्द्रमसमसृजत.......स ततः पशूनसृजत तदस्य पशवोऽनुपतिष्ठन्ते।

4. जै० ब्रा० 1. 160 — प्रजापतिः पशूनसृजत्। तेऽस्माव सृष्टा अपाक्रामन्। सोऽकामयव.......पशवोऽपक्रामेयुरभि मा वर्तेरन् इति स एतत् सामापश्यत। तेनास्तुत। ततो वै तं पशवोऽभ्यावर्तन्त।

 द्र० ता० ब्रा० 6. 7. 19 — प्रजापतिः पशूनसृजत। तेऽस्मात् सृष्टा अशनायन्तोऽपाक्रमंस्तेभ्यः प्रस्तरमन्नं प्रायच्छत्त एनमुपावर्त्तन्त तस्मादध्वर्युणां प्रस्तर ईषदिव विधूये विधूतमिव हि तृणं पशवः उपावर्तन्ते ः

सृजन हुआ तथा उस तप्त अंगार के भस्म से गर्दभों की सृष्टि हुई[1]। घोड़े, भेंड़ तथा बकरियों के सम्बन्ध में तैत्तिरीयब्राह्मण में कथित है कि द्वितीय आहुति से हवन करने के अनन्तर प्रजापति ने अश्व को उत्पन्न किया, तृतीय से भेंड़ तथा पञ्चम से बकरे को उत्पन्न किया[2]।

तैत्तिरीयब्राह्मण में तो मनु की सहचरी इडा को ही पशु कहा गया है। इस सम्बन्ध में एक आख्यान वर्णित है कि इस पृथिवी पर यज्ञ के उपयुक्त जो कुछ भी था, उसी से मनु ने सृजन करने की इच्छा की, तब उसने उसी से निकले हुए घृत को देखा। जब उन्होंने कहा कि यज्ञ का उपभोग करने में कौन समर्थ है ? तब मित्रा-वरुण ने अपने को सामर्थ्यवान् बताया तथा कहा कि हम दोनों गौ का उपभोग करने में समर्थ हैं। तब मनु ने गौ को भेजा और वह गौ जहाँ भी गयी वहाँ घृत निकला। इसी से उसे घृतपदी कहते हैं। यही उसका द्वितीय जन्म भी है। वह इडारूप पशु का आह्वान चार बार करता है, क्योंकि पशु भी चार पैरोंवाले होते हैं[3]।

गौर-मृग, नील-गवय, गवय (उष्ट्र) तथा शरभों की उत्पत्ति के सन्बन्ध में ऐतरेयब्राह्मण का एक रोचक मिथक दर्शनीय होगा, जिसमें वर्णित है कि देवताओं ने यज्ञ के लिए पुरुष पशु का आलम्भन किया; किन्तु उसका मेध्य अंश अश्व में प्रविष्ट हो गया। देवताओं ने उस अश्व का भी आलम्भन कर दिया और मेध्यांश गौ में प्रविष्ट हो गया। इस प्रकार वह गौ ही यज्ञ में मेध्य पशु हो गयी। देवताओं ने अश्व को यज्ञ से निकाल दिया; क्योंकि अश्व उस मेध्य अंश से रहित हो गया, जिसके कारण वह मेध्य था और जिसके न रहने पर वह गौरमृग बन गया।

अब पशुबलि में गौ का आलम्भन किया गया; किन्तु वह मेधा भेंड़ में चली

---

1. जै० ब्रा० 3. 263-264 — ततः पशवोऽसृज्यन्त। ये प्रथमेऽसृज्यन्त ते रोहिताः योऽभितप्यमानाद् असृज्यन्त तेऽरुणाः येऽभि-तप्ताद् व अयम् एवाग्नि दहति श्वेतं चैव कृष्णं च विस्फुलिंगाभ्य एवं अजाश्चैणयाश चासृज्यन्त अङ्गारेभ्योऽङ्गिरसः। अङ्गिरभिश्रदभस्मनस् तिस्रो असृज्यन्त मैत्रावरुणो बार्हस्पत्या वैश्वदेवी भस्मन् एव गर्दभोऽसृज्यत्।

2. तै० ब्रा० 2. 1. 2. 4 — तस्या आहुत्यै पुरुषमसृज्यत् द्वितीयमजुहोत सोऽश्वम-सृजत्। तृतीयमजुहोत् सोऽविमसृजत पञ्चममजुहोत् सोऽजामसृजत।

3. तै० सं० 2. 6. 7. 1 — मनुपृथिव्याः याज्ञियम ऐच्छत···इडाम् उपह्वयते। पशवो वै इडा पशून् एव उपह्वयते चतुर उपह्वयते चतुष्पादो हि पशवः।

द्र० तै० ब्रा० 1. 1. 4. 4

गयी। जो गाय मेधारहित हो गयी, देवों ने उसे भी बहिष्कृत कर दिया, तब वह नील-गवय बन गयी। तदनन्तर भेंड़ भी आलम्भित हुई तथा मेध्यांश बकरे में प्रविष्ट हो गया। इस प्रकार मेधारहित भेंड़ उष्ट्र बन गयी तथा कालान्तर में बकरे की भी बलि हुई; किन्तु फिर भी वह मेध्य स्थिर नहीं रहा; अपितु पृथिवी में प्रविष्ट हो गयी। फलतः मेध्यरहित यज्ञ से बहिष्कृत बकरी शरभ बन गयी[1]।

विभिन्न पशुओं में प्रजननकारी वीर्याधान करना—

प्रजापति ने तिर्यक्-सृष्टि के अविच्छिन्न विकास हेतु यज्ञों की विभिन्न प्रक्रियाओं के रूपक द्वारा अश्व, रासभ तथा अज आदि पशुओं में प्रजननकारी वीर्य स्थापित किया[2]।

सरीसृप एवं मत्स्यादि जलीय-सृष्टि--

सृष्टि की आदि में अवस्थित एकमात्र प्रजापति ने अपने बहु-सृष्टि करने की कामना के अनन्तर कठोर श्रम एवं तपस्या की। उनके इस श्रम एवं तपस्या के फल-स्वरूप द्विपादीय वयांसों (पक्षियों), सरीसृपों तथा सर्पों की सृष्टि हुई[3]। जैमिनीय-

---

1. ऐ० ब्रा० 6. 8. — पुरुषो वै देवाः पशुमालभन्त। तस्मादालब्धान्मेध उदक्रामत् सोऽश्वं प्रविशत्……तेऽश्वमालभन्ते सोऽश्वादालब्धदुदक्रामत् स गां प्रविशत् तस्माद् गोर्मेध्योऽभवत्। अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्याजंन्त स गौः मृगोऽभवत् ……स गवयोऽभवत्……स शरभोऽभवत्……।

2. श० ब्रा० 6. 3. 2. 2-4 — सोऽश्वमभिमन्त्रयते ··· ··· तदश्वे वीर्यं दधाति। अथ रासभम्। मुञ्जाथं॑ रासभं युवमित्यध्वर्यु चैतद्यजमानं चाहास्मिन्यामे वृषण्वसूऽइत्यस्मिन्कर्मणि वृषण्वसूऽइत्येदग्निं भरन्तमस्मयुमित्यग्निं भरन्तमस्मत्प्रेषितमिति एतत् रासभे वीर्यं दधाति। अथाजम् योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहऽइत्यन्नं वै वाजः कर्मणि कर्मणि तवस्तरमन्ने हवामहऽइत्येतत्सखाय इन्द्रमूतय इतीन्द्रियं वन्तमूतय इति एतत् अजे वीर्यं दधाति।

3. का० स० ब्रा० 1. 4. 3. 1-2 — प्रजापतिर्ह वा इदमेक एवास। स हेक्षाञ्चक्रे कथं नु प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत। स प्रजाः ससृजे ता अस्य प्रजाः सृष्टा पराबभूवुस्तानीमानि वयांसि···स द्वितीयां ससृजे ता परेव बभूवुस्तदिदं क्षुद्रं सरीसृपं यदन्यत्सर्पेभ्यस्तृतीयाः ससृजे ताः परैव बभूवुः ते सर्पा इत्याहुः।

द्र० श० ब्रा० 2. 5. 1. 1-2

20

ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि की तथा उनसे सृष्ट प्रजाएँ दूर जाने लगीं, जो सरीसृप हो गयीं। उसने पुनः दूसरी बार प्रजाओं को सृष्ट किया। वे भी दूर होने लगीं, जो मत्स्य बन गयीं। इस प्रकार तीसरी बार की सृष्ट प्रजाएँ वयांसि हो गयीं[1]।

इस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध सृष्टि - विचारों का तारतम्यमूलक अध्ययन किया गया। निश्चय ही ब्राह्मणग्रन्थीय सृष्टि-सिद्धान्त प्रौढ़ एवं वैज्ञानिक हैं, जिनका व्यावहारिक पक्ष भी निरूपित है। इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में सृष्टि-स्वरूप को यज्ञ के माध्यम से लोकप्रिय बनाने की एक सफल योजना थी, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक जिज्ञासु व्यक्ति को दर्शन-चिन्तन का उपयुक्त वातावरण प्राप्त था और इन्हीं विचार-विमर्शों के आधार पर बौद्धिक समृद्धि दर्शनीय है। हमारे पूर्वज महर्षियों की उदात्त ज्ञानराशि ब्राह्मणग्रन्थों में सुरक्षित है, जिनका ज्ञान तत्त्वस्वरूप कठिन नहीं तो दुर्बोध अवश्य ही है। सृष्टिविचार की पूर्ण पराकाष्ठा हमें ब्राह्मणसाहित्य में ही उपलब्ध होती है।

ब्राह्मणग्रन्थीय सृष्टि-विचार के आधार एवं विकासस्वरूप ऋग्वैदिक-नासदीय एवं औपनिषदिक सृष्टि का संक्षेप-दृश्य आगे परिशिष्ट में दिया जायेगा।

★

1. जै० ब्रा० 1. 187 — प्रजापतिः प्रजा असृजत। ता अस्य सृष्टाः पराऽभवन्। तद् इदं सरीसृपमभवत् यद् अन्यद् सर्पेभ्यः स द्वितीया असृजत। ता अस्य परैवाभवन् ते मत्स्या अभवन्। स तृतीया असृजत। ता अस्य परैवाभवन् तानि वयांसि अभवन्।

द्र० वही 2. 228

परिशिष्टात्मक

पञ्चम परिच्छेद

परिशिष्ट—क

ऋग्वैदिक सृष्टि—

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत ऋग्यजुःसाम-अथर्वादि वेदों से ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों तक की विषय-वस्तु में मूलतः सृष्टि तत्त्वपर प्रमुख विचार सुलभ होते हैं। मेरे सृष्टि-अध्ययन का मूलाधार ब्राह्मणग्रन्थ ही रहे हैं, जिनमें सुलभ सृष्टि-विचारों को स्पष्ट तो कर दिया गया; किन्तु यहाँ यह आवश्यक हो जाता है कि कम से कम ऋग्वैदिक और औपनिषदिक सृष्टि-विचारों का अतिसंक्षेपस्वरूप प्रतिपादित किया जाय; जिससे ब्राह्मणग्रन्थीय सृष्टि-मान्यताओं की आधारशिला एवं विकास की रूपरेखा स्पष्ट हो सके, जो अपरिहार्य है।

सृष्टि-प्रक्रिया इतनी विस्तृत है, जिसको उपजीव्य मानकर कई ग्रन्थों की संरचना हो सकती है। इस क्षेत्र में ऋग्वेद का नासदीयसूक्त ही एक ऐसा सूक्त है, जिससे वैदिक सृष्टि का मूल दर्पण सदृश चक्षु-विषय बन जाता है। ऋग्वेद के इन दार्शनिक तत्त्वों के संग्रह-स्वरूप सूक्त के अन्तर्गत मुख्यतः दस प्रकार के वाद-सिद्धान्तों को ग्रहण किया जा सकता है। यथा—सदसद्वाद, रजोवाद, व्योमवाद, अपरवाद, आवरणवाद, अम्भोवाद, अमृतमृत्युवाद, अहोरात्रवाद, दैववाद तथा संशयवाद। इसकी ऋचाएँ इस प्रकार हैं—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥
तम आसीत्तमसा गूढहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥
को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥

(ऋ० सं० १०।१२९।१-७)

अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में न सत् था, न असत्। यहाँ तक कि पृथिवी और आकाश भी न थे। मनसा जिज्ञासा बनी हुई थी कि समस्त वस्तुओं का आश्रय तथा आवरण कहाँ था? क्या प्रारम्भ में गहन-गम्भीर आपः था? उस अवस्था में रात-दिन, मृत्यु-अमृत कुछ भी न था। मात्र एक तत्त्व था, जो अपनी स्वधा से वायु के अभाव में भी श्वांस ले रहा था। इतर स्थित पदार्थों में तमसाच्छादित तम तथा तुच्छाच्छादित शून्य था, जो तम के प्रताप से उत्पन्न हुआ। इस प्रकार मन का बीजभूत काम उत्पन्न हुआ। बुद्धिमान् मनीषियों ने अपने हृदय में 'सत्' और 'असत्' का स्थान खोज निकाला। इन वस्तुओं से जो ज्योति निकली, वह नीचे थी या ऊपर थी? यह अनिश्चित था। बीजधारक इन शक्तियों में से स्वधा नीचे थी तथा प्रयति ऊपर थी?

पुनः शंका उठायी गयी है कि कौन जानता है और कौन उसका वर्णन ही कर सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से आई तथा किससे उत्पन्न हुई? यदि देवताओं को इसका रहस्य समझा जाय तो वह भी उचित नहीं है, क्योंकि वे भी तो इसके पश्चात् ही आये। यह विसृष्टि कहाँ से हुई, किसने की अथवा किसने नहीं की? इस तथ्य को वही समझ सकता है जो सृष्टि का अध्यक्ष है। वह परमव्योम में रहता है।

इसके अतिरिक्त भी ऋग्वेद संहिता के १०-८१, १०-८२ तथा १०-१२१ सूक्तों में सृष्टि-विवेचना उपलब्ध होती है, जहाँ बतलाया गया है कि सर्वप्रथम जीवों के स्वामीभूत हिरण्यगर्भ अस्तित्व में आया और उसी से सृष्टि का अविच्छिन्न विकास हुआ। यहाँ तक कि उस हिरण्यगर्भ की भुजाएँ ही दिशाओं का कारण बनीं। ऋग्वेद का हिरण्यगर्भ (विश्वकर्मा) ब्राह्मणग्रन्थों का प्रजापति है। ऋग्वैदिक सृष्टिप्रक्रिया का अनतिबृहत्स्वरूप ही श्रेयस्कर होगा; क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थीय सृष्टि-मान्यताओं के विस्तृत स्वरूप का आधार ऋग्वैदिक सृष्टि-सिद्धान्त ही हैं। स्पष्ट है कि तैत्तिरीयब्राह्मण के २-८-९-३-६ स्थल पूर्णतः नासदीयसूक्त की व्याख्या हैं। इस प्रकार समस्त ब्राह्मण-साहित्य ऋग्वेद से प्रभावित है।

•

परिशिष्ट—ख

औपनिषदिक, पौराणिक सृष्टि एवं मनु का सृष्टि-मत—

उपनिषदों में वर्णित सृष्टि-प्रक्रिया को औपनिषदिक सृष्टि कहा जाता है। यह सृष्टि ब्राह्मणग्रन्थीय सृष्टि-विचारों का विकसित रूप है, जो ब्राह्मण-मान्यता से बहुत साम्य रखती है। फिर भी इसकी सृष्टि-प्रक्रियाएँ कुछ भिन्न हैं, जिनका वर्णन प्रस्तुत होगा। जड़-चेतनमय इस विश्व के रूप में प्रकट होने से पूर्व कारण अवस्था में एकमात्र परमात्मा ही था। इसके अतिरिक्त किसी दूसरे की अभिव्यक्ति नहीं थी। उस पुरुष परमात्मा ने विचार किया कि मैं प्राणियों के कर्म-फल-भोगादि हेतु भिन्न-भिन्न लोकों की रचना करूँ[1]। इस तरह का विचार ब्राह्मणग्रन्थों में भी द्रष्टव्य है, जहाँ कथित है कि सृष्टि के आदि में एकमात्र प्रजापति ही था तथा उसी प्रजापति ने सृष्टिरचना का विचार भी किया[2]।

सृष्टि के सन्दर्भ में प्राकृतिक तत्त्वों के साथ ही सत्य के रहस्यवादी तत्त्वों को भी स्पष्ट किया गया है। बृहदारण्यक-उपनिषद् के अनुसार जल को समस्त वस्तुओं का स्रोत बताया गया है[3]। इस जल से ठोस सत्ता के रूप में सत्य का सृजन स्वीकार किया गया है। कठोपनिषद् के अनुसार यह अग्नि अखिल ब्रह्माण्ड के रूप में अपना परिवर्तन कर सभी प्रकार के रूपों को धारण करती है; किन्तु छान्दोग्य-उपनिषद् का यह वचन है कि सर्वप्रथम 'सत्' से अग्नि उत्पन्न हुई। यह अग्नि जल का उत्पादक है तथा जल से पृथिवी सत्ता में आयी[4]।

ब्राह्मणग्रन्थों की भाँति ही उपनिषदों में भी प्रजाओं की सृष्टि का विवेचन किया गया है कि सम्पूर्ण जगत् के ईश्वर (प्रजापति) को सृष्टि के आदि में जब सन्तानोत्पत्ति की इच्छा हुई, तब उन्होंने संकल्पयुक्त होकर तप किया, जिसके

---

1. ऐ० उ० 1. 1. — आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्....स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति।
   द्र० बृ० उ० 1. 4. 1
2. द्र० पू० प्रथम परिच्छेद तै० ब्रा० 2. 2.9-10 तथा गो० ब्रा० 1. 1
3. बृ० उ० 5. 5. 1 — आप एवेदमग्र आसुः, ता आपः सत्यमसृजन्त।
4. बृ० उ० 6.-8-4

फलस्वरूप सर्वप्रथम 'रयि' और 'प्राण' नामक मिथुन उत्पन्न हुए[1]। सब जीवों में जीवन प्रदान करनेवाली शक्ति को 'प्राण' कहा जाता है तथा इस जीवनशक्ति से ही प्रकृति स्थूलस्वरूप में स्थूल भूतसमुदाय को 'रयि' कहा जाता है। इसी 'रयि' और 'प्राण' के मिथुनीभाव से सृष्टि का विकास हुआ। ब्राह्मणग्रन्थों में इसी मिथुन को 'अग्नि' और 'सोम' तथा सांख्यदर्शन में 'पुरुष' एवं 'प्रकृति' कहा गया है। वहीं प्रश्नोपनिषद् में 'प्राण' को आदित्य तथा 'रयि' को चन्द्रमा भी कहा गया है[2]।

प्रश्नोपनिषद् के एक स्थल पर तो अहोरात्र को प्रजापति कहा गया है तथा इन्हीं अहोरात्रों को क्रमशः 'प्राण' और 'रयि' कहा जाता है[3]।

मुण्डकोपनिषद् का सृष्टिप्रकरण उल्लेखनीय है। प्रथमतः वहाँ कहा गया है कि जिस प्रकार मकड़ी अपने उदर में स्थित जाले को बाहर निकाल कर फैलाती है और पुनः उसे निगल जाती है, उसी प्रकार वह परब्रह्म परमेश्वर भी अपने अन्दर सूक्ष्मरूप से लीन हुए जड़-चेतनरूप जगत् को सृष्टि के आरम्भ में नाना प्रकार से उत्पन्न कर फैलाता है तथा उसे प्रलयकाल में लीन कर लेता है[4]। द्वितीयतः जिस प्रकार पृथिवी में विभिन्न अन्न, तृण, वृक्ष, लता आदि औषधियों के बीज पड़ते हैं, उसी प्रकार की औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। इसमें पृथिवी का कोई पक्षपात नहीं रहता। इसी प्रकार जीवों के नाना प्रकार के कर्मरूप बीजों के अनुसार ही उसे विभिन्न योनियों में जाकर जन्म लेना पड़ता है तथा तृतीयतः जिस प्रकार मनुष्य के जीवित शरीर से सर्वथा विलक्षण केश, लोम और नख अपने आप उत्पन्न होकर बढ़ते रहते हैं, उसी प्रकार उस परब्रह्म से यह जगत् स्वाभाविकरूप में उत्पन्न होकर विस्तार को प्राप्त होता है[5]। विश्वसृष्टि के समय वह परब्रह्म अपने संकल्परूप तप से वृद्धि को प्राप्त होता है तथा प्राणियों की उत्पत्ति एवं वृद्धि करनेवाला अन्न उत्पन्न करता है। तदनन्तर अन्न से क्रमशः मन तथा कार्यरूप पाँच महाभूत प्राणों तथा उनके

---

1. प्र० उ० 1. 4 — तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः। स तपोऽतप्यत् स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति।
2. वही 1. 5 — आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः।
3. प्र० उ० 1-13 — अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः।
4. श्रीमद्भगवद्गीता 9. 7. 8।
5. मु० उ० 1. 1, 7 — यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथा क्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।

विभिन्न कर्म एवं सुख-दुःखरूपी विभिन्न फलों सहित विशाल जगत् की उत्पत्ति होती है[1]।

ऐतरेय-उपनिषद् के अनुसार एक बार सृष्टि-कामी परमात्मा ने पिण्डस्वरूप हिरण्यगर्भरूप पुरुष को लक्ष्य करके श्रम एवं तप किया, जिसके फलस्वरूप वह पिण्ड अण्डे की भाँति फट गया तथा मुखच्छिद्र का निर्माण हुआ। मुख से वागिन्द्रिय उत्पन्न हुई तथा वागिन्द्रिय से उसका अधिष्ठातृदेवता अग्नि उत्पन्न हुआ। इसके अनन्तर नासिका के दोनों छिद्र उत्पन्न हुए, जिनमें प्राणवायु प्रकट हुआ। इस प्राणवायु से ही वायु देवता की उत्पत्ति हुई तथा इसी प्रक्रिया से दोनों आखें एवं उस इन्द्रिय से सम्बन्धित देवता (सूर्य) भी उत्पन्न हुए। पुनः श्रोत्र (कर्ण) तथा इससे सम्बन्धित दिग् देवता की उत्पत्ति हुई। तदनन्तर शरीर की त्वचा तथा रोमच्छिद्रों का निर्माण हुआ, जिससे तमाम औषधि-वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। पुनः हृदय-सृष्टि के होने पर मन का सृजन हुआ तथा मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुए। अन्ततः नाभि एवं शिश्न उत्पन्न हुए। इसी शिश्न से वीर्य एवं वीर्य से जल की उत्पत्ति हुई[2]। इस प्रकार समस्त सृष्ट इन्द्रियों के अभिमानी देवता तत्तत् इन्द्रियों में प्रविष्ट हो गये[3]।

औपनिषदिक तथा ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित सृष्टि-प्रक्रिया में मात्र वर्णनशैली के दृष्टिकोण से कुछ भिन्नता है, जबकि मूलतः दोनों में साम्य है। ब्राह्मणग्रन्थों की भाँति उपनिषद् में भी मनुष्य की त्रेधा उत्पत्ति का वर्णन उपलब्ध होता है, जो तत्सम्बन्धी ब्राह्मणग्रन्थीय विचारों से कुछ भिन्न है। यहाँ सर्वप्रथम पुरुष शरीर के गर्भरूप में स्थित रहता है। पुरुष के रेतस् के परिणाम से ही ऐसा होता है। ऐसी परिस्थिति में स्त्री के गर्भ में वीर्य का सेचन ही मनुष्य का प्रथम जन्म कहलाता है।

---

1. मु० उ० 1. 1. 8 — तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते। अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥

द्र० श० ब्रा० 6. 1. 1. 1 तथा 2. 2. 2. 1
जै० ब्रा० 1. 68 सथा 2. 146
तै० ब्रा० 1. 1. 3. 1

2. ऐ० उ० 1. 1. 4 — तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत् यथाण्डम्। मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः। प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षीभ्यां चक्षुः ·······शिश्नं निरभिद्यत् शिश्नाद्रेतो रेतस आपः।

द्र० छा० उ० 6. 2. 4

3. ऐ० उ० 1. 2. 4 — अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद् वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशद्········:

द्वितीयतः दश मास तक माता के गर्भ में पोषित वह वीर्य जब पूर्ण शिशुरूप में जन्म लेता है, तब उसका द्वितीय जन्म होता है तथा वृद्धावस्था में अपने पुत्र पर समस्त दायित्व सौंपकर जब वह पुरुष सन्नयास ले लेता है, तब उसका तृतीय जन्म होता है[1]। जब कि शतपथब्राह्मण में वर्णित है कि पुरुष का अपने माता के गर्भ से प्रथम जन्म होता है, यज्ञ में दीक्षित होने के अनन्तर उसका द्वितीय जन्म होता है तथा उसका तृतीय जन्म तब होता है जब मृत्यूपरान्त उसे चिताग्नि को सौंप दिया जाता है।

ब्राह्मणग्रन्थों की ही भाँति उपनिषदों में भी चतुर्वर्णों तथा पशु-पक्षियों आदि का सृष्टिविवेचन किया गया है। यह प्रकरण बृहदारण्यकोपनिषद् में उपलब्ध होता है[2]। यह उपनिषद् पूर्णतः शतपथब्राह्मण के चतुर्दशकाण्ड पर आधारित है। इस सृष्टि के प्रायः समस्त वर्गों का वर्णन चतुर्थ परिच्छेद में ब्राह्मणग्रन्थों के सन्दर्भ में किया जा चुका है[3]।

बृहदारण्यकोपनिषद् में सृष्टि-सम्बन्धी कुछ सिद्धान्तों की परिपुष्टि में सत्य को प्राकृतिक तत्त्वों के साथ एकीकृत कर दिया गया है तथा जल को विश्व के समस्त वस्तुओं का स्रष्टा कहा गया है[4]।

उपनिषदों में वर्णित सृष्टि के सम्बन्ध में डॉ० एस्० राधाकृष्णन् के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार 'सृष्टि के विकास का जहाँ तक सम्बन्ध है, उपनिषदें इस भौतिक जगत् की प्रारम्भिक स्थिति को आकाश के प्रसार में देखतीं हैं। इसकी मुख्य विशेषता कम्पन है, जो हमें शब्द के प्रत्यक्ष विषय के रूप में प्रतीत होता है। आकाश से वायु तथा वायु से कम्पन उत्पन्न होता है। यह कम्पन अपने आप किसी आकार की रचना नहीं कर सकता। उसके लिए तो अवरोध के सहयोग की आवश्यकता होती है। वायु का दूसरा रूपान्तर कम्पनों की परस्पर क्रिया है। विभिन्न शक्तियों

---

1. ऐ० उ० 2. 1. — पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति।...तद् यदा स्त्रियाँ सिञ्चत्यथैनं जनयति तदस्य प्रथमं जन्म...। तं स्त्री गर्भं बिभर्ति। सोऽग्र एव कुमार जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति, एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्मः।...अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म।

2. बृ० उ० 1. 4. 2-6 तथा 15

3. द्र० श० ब्रा० 14. 4. 2. 23-25 तथा 27

4. बृ० उ० 5. 5. 1 — आप एवेदमग्र आसुः, ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिम् प्रजापतिर्देवान्...... ते देवाः सत्यमेवोपासते।

को सँभाले रखने के लिए वायु का तृतीय रूपान्तर तेज उत्पन्न होता है, जिसका प्रकटरूप ताप एवं प्रकाश है। इतना पर भी विश्व के किसी स्थिर आकार की सृष्टि नहीं हो सकी, अतः इसकी पूर्ति हेतु जल की उत्पत्ति हुई। उससे भी अधिक सान्द्रता पृथिवी से मिलती है। जगत् का विकास सूक्ष्म आकाश के उत्तरोत्तर स्थूल होते जाने की प्रक्रिया है। सभी सूक्ष्म से सूक्ष्म भी भौतिक पदार्थ इन्हीं पाँच तत्त्वों (पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश) के संयोग से बनते हैं। हमारा इन्द्रियानुभव इसी पर निर्भर है। कम्पन की क्रिया से शब्देन्द्रिय बनती है। कम्पनों के इस वातावरण में वर्तमान वस्तुओं की क्रिया से स्पर्शेन्द्रिय का निर्माण होता है तथा तृतीयस्वरूप प्रकाश की क्रिया से दर्शनेन्द्रिय तथा जल की क्रिया से रसनेन्द्रिय और पृथिवी की क्रियाओं से घ्राणेन्द्रिय का निर्माण होता है[1]।

इस प्रकार उपनिषदें यह मानती हैं कि विकास का प्रकृतिवादी सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया जा सकता। जगत् को एक ऐसा स्वचालित विकास समझना ठीक नहीं है, जिसका कोई बौद्धिक क्रम या लक्ष्य नहीं हो।...यह जगत् अर्थहीन संयोगों का परिणाम नहीं है। यह तो एक प्रयोजन है, जो युग-युगान्तरों से कार्य कर रहा है। जगत् में आदिब्रह्म की क्रिया निरन्तर चलती रहती है[2]।

अन्ततः पैंगलोपनिषद् में वर्णित सृष्टि उपक्रम उल्लेखनीय होगा। इस उपनिषद् में कथित है कि प्रारम्भ में एकमात्र 'सत्' ही था, जो ज्ञान एवं नित्य आनन्द से परिपूर्ण सनातन ब्रह्म का स्वरूप था। उसके अन्तर्गत प्रकृति उसी प्रकार आभासित थी, जिस प्रकार शुक्ति में रजत तथा मरुभूमि में जल का आभास होता है। साम्यावस्था वाली उस प्रकृति में जब विकार उत्पन्न हुआ, तब उसमें सतोगुण के उद्रेक से अव्यक्त नामक आवरणशक्ति उत्पन्न हुई। इसी प्रकार उसके रजस् एवं तमोगुणों के उद्रेकों के परिणामस्वरूप क्रमशः 'महत्' नामक 'विक्षेप' एवं 'अहम्' नामक स्थूलशक्ति उत्पन्न हुई। इन्हीं शक्तियों की उत्पत्ति के अनन्तर हुए प्रतिबिम्बों के फलस्वरूप ईश्वर, हिरण्यगर्भ एवं विराट् चैतन्य की उत्पत्ति हुई। इसमें विराट् विष्णु था। उस आत्मा (तीनों चैतन्य) से आकाश, अकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथिवी की उत्पत्ति हुई। स्रष्टा (ब्रह्मा) की कामना के अनन्तर पंचीकृत भूतों से अनन्तकोटिब्रह्माण्ड, चौदह भुवन तथा उन भुवनों के निवासियों के शरीरों का निर्माण हुआ। पंचभूतों के रजस् अंश से प्राण एवं कर्मेन्द्रिय तथा सत्त्वांश से ज्ञानेन्द्रियों का निर्माण हुआ। उस स्रष्टा ने इन समस्त निर्मितियों को समष्टिभूत अण्ड में डाल दिया, जिसमें स्थूलभूतों की रक्षा विष्णु ने की तथा सूक्ष्मभूतों की रक्षा ब्रह्मा ने, स्वयं उसके बिना वे निश्चेष्ट रहे। तब वह उन सबों में प्रविष्ट हो

---

1. उ० भू० पृ० 55-56

2. वही पृ० 57-58

गया, जिससे वे सब चेतनशील हो गये। इस प्रकार वह सर्वज्ञ ईश्वर माया देहरूप जीवतत्त्व को प्राप्त कर इस विश्वभर में भ्रमण कर रहा है[1]।

पौराणिक-सृष्टि—

पुराणगत सृष्टि विचार को पौराणिक सृष्टि कहा जाता है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम सृष्टि के मूलभूत तत्त्वों पर विचार किया जायेगा।

सृष्टि के मूलतत्त्व—

ब्राह्मणग्रन्थों में सृष्टि के आदि में सृजनकर्त्ता यदि प्रजापति है, तो पुराणों में वही ब्रह्मा है। चैतन्ययुक्त पुरुष तथा त्रिगुणात्मक जडप्रकृति का प्रतिमूर्त है। चेतन पुरुष प्रकृति का अधिष्ठाता होता है। वह प्रकृति के त्रिगुण (सत्त्व रजस् एवं तमस्) का ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के रूप में क्रमशः अधिष्ठातृत्व करता है। ये तीनों अभिन्नरूप से आश्रित रहते हैं[3]। इन्हीं देवताओं की त्रिगुणात्मिका महदादिक्रम में विश्व की उत्पत्ति होती है।

पुराणों के अनुसार सृष्टि के आदि में न दिन था, न रात्रि, न आकाश था, न पृथिवी, न अन्धकार था, न प्रकाश तथा न इसके अतिरिक्त ही कुछ था। यदि कोई था भी तो वह था श्रोत्रादि इन्द्रियों एवं बुद्धि आदि का अविषय एक मात्र ब्रह्म[4]। लगभग यही बात ब्राह्मणग्रन्थों में भी कथित है, जहाँ प्रारम्भ में सलिल एवं ब्रह्म के अलावे किसी की सत्ता नहीं थी[5]।

पुराणों में सृष्टिकर्त्ता विष्णु के उपाधिरहितरूप से प्रधान (प्रकृति) एवं पुरुष उत्पन्न हुए[6]। तदनन्तर उस विष्णु ने प्रकृति में स्वयं प्रविष्ट होकर उसे क्षुब्ध

---

1. पैंगलो० 1. 1 — ......सदेव सौम्येदमग्र आसीत्। तद्......ब्रह्म। तस्मिन् ... ... लोहितशुक्लकृष्णगुणमयी गुणसाम्य-निर्वाच्या मूलप्रकृतिरासीत्। तत्प्रतिबिम्बितं यत्त-त्साक्षि चैतन्यमासीत्।
2. मार्क० पु० 46. 18 — रजो ब्रह्मा तमो रुद्रो विष्णुः सत्त्वं जगत्पतिः।
3. मार्क० पु० 46. 17 — अन्योन्यमिथुना ह्येते अन्योन्याश्रयणास्तथा।
4. वि० पु० 1. 2. 23 — नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत्तमोज्योतिरभूच्च नान्यत्। श्रोत्रादिबुद्ध्यानुपलभ्यमेकं प्राधानिकं ब्रह्मपुमांस्त-दासीत्॥
5. गो० ब्रा० 1. 1. 1 — ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत।
6. वि० पु० 1. 2. 24 — विष्णोः स्वरूपात् परतो हि ते द्वे रूपे प्रधानं पुरुषो विप्र।

किया, जिसके परिणामस्वरूप महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ[1]। वह महत्तत्त्व प्रधान तत्त्व (प्रकृति) से युक्त था, जिससे वैकारिक (सात्विक) तेजस् (राजस्) तथा भूत (तामस) आदि तीन अहंकार तत्त्व उत्पन्न हुए। महान् की भाँति यह अहंकार भी महत्तत्त्व से आवृत था[2]। इसी अहंकार के तीनों तत्त्वों सें क्रमशः मनु, पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों के देवता, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ एवं पञ्चतन्मात्राएँ तथा पञ्चमहाभूतों आदि की उत्पत्ति हुई[3]। इस प्रकार पुराणों में वर्णित सृष्टि विचार सांख्य के सृष्टिसिद्धान्त से भी साम्य रखता है; किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों से इस रूप में कुछ भिन्नता है।

सृष्टि के कारण हिरण्यगर्भ—

सृष्टि के आदि में स्थित उस एकमात्र ब्रह्म में सिसृक्षा का बीज (हिरण्य) गर्भित रहता है, इसीलिए उसे हिरण्यगर्भ कहा जाता है। जिस प्रकार ब्रह्म का प्रथम विकार हिरण्यगर्भ है, उसी प्रकार प्रकृति का प्रथम विकार महत्तत्त्व है। इसके अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं। पौराणिक - भाषा में महत्तत्त्व को बुद्धि भी कहते है। सम्भवतः इसीलिए बुद्धि और ब्रह्मा की उत्पत्ति एक साथ हुई वर्णित है[4]।

पुराणों में हिरण्याण्ड की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि प्रकृति का आदि विकार (महत्तत्त्व) तथा उससे उत्पन्न अहंकारादि तत्त्व भिन्न-भिन्न होने के कारण जब विश्वसृष्टि न कर सके, तब प्रकृति के अनुग्रह तथा पुरुष के अधिष्ठान से वे संयुक्त हो गये। उनके इस संयोग से स्वर्ण के समान दीप्तिमान् एक अण्डे की उत्पत्ति हुई। इसी से उसे हिरण्याण्ड कहा जाता है। प्रारम्भ में वह अण्डा जल के बुल-बुले

---

1. वि० पु० 1. 2. 23 — गुणसाम्यात्ततस्तस्मात् क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने। गुणव्यञ्जनसंभूतिः सर्गकाले द्विजोत्तम् ॥
   द्र० भा० पु० 2. 5. 22 — कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभुत।
   द्र० अ० पु० 17. 2 — प्रकृतिं पुरुषो विष्णुः प्रविश्याक्षोभयत्ततः। सर्गकाले महत्तत्वम्।
   द्र० वा० पु० 4. 23. 24
2. वि० पु० 1. 1. 35-37 — वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव स तामसः। त्रिविधोऽयमहंकारो महत्तत्त्वमजायत ॥
   द्र० अ० पु० 17. 3 — सर्गकाले महत्तत्त्वमहंकारस्ततोऽभवत्।
3. भा० पु० 2. 5. 30-31 — वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश। तैजसात्तु विकुर्वाणादिन्द्रियाणि दशाभवन्।
   द्र० अ० पु० 17. 4-5 — तथा भा० पु० 2. 5. 30
4. वा० पु० 5. 23 — ब्रह्मा बुद्धिश्च मिथुनं युगपत्संबभूवतुः।

की भाँति था; किन्तु धीरे-धीरे वह विकसित हुआ तथा कालान्तर में जल के आधार पर तैरते हुए विशालकाय हो गया[1]।

विराट्—

ब्राह्मणग्रन्थों[2] की भाँति पुराणों में विराट्पुरुष की कल्पना की गयी है। वह हिरण्याण्ड जब विशालकाय हो गया, तब उसमें गर्भित हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) के अंगस्वरूप नदी, पर्वत, मेरु तथा समुद्र आदि की उत्पत्ति हुई। सप्त लोक, सप्त द्वीप, सप्त सागर, समस्त लोकालोक तथा देव, असुर, मानव एवं पशु-पक्षी आदि समस्त प्रजाएँ उसी अण्डे के भीतर गर्भित हैं[3]।

ब्राह्मणग्रन्थों में जिस प्रकार संवत्सरोपरान्त हिरण्याण्ड के विस्फोट होने की बात कही गयी है[4], उसी प्रकार पुराणों में भी उसके फूटने की घटना वर्णित है। अग्नि-पुराण के अनुसार उस अण्डे के भीतर स्थित ब्रह्मा ने परिवत्सर पर्यन्त उसमें निवास करने के पश्चात् उसी अण्डे को दो टुकड़ों में कर दिया, जिसके एक टुकड़े से स्वर्ग का तथा दूसरे से पृथिवी का निर्माण हुआ। इस प्रकार पृथिवी एवं स्वर्ग के निर्मित हो जाने के बाद दोनों के मध्य में आकाश की भी उत्पत्ति हो गयी[5]।

चतुर्वर्णसृष्टि—

भागवतपुराण के अनुसार विराट्पुरुष के प्रत्येक अंगों (मुख, बाहु, जंघा एवं

---

1. वि० पु० 1. 2. 53-54 — पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च प्रधानाग्रहेण च।
महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते॥
तत्क्रमेण विवृद्धं सज् जलबुद्बुदवत्समम्।
भूतेभ्योऽण्डं महाबुद्धेर्महत्तदुदकेशयम्॥

2. श० ब्रा० 13. 4. 1. 2 — ततो विराडजायत विराजोऽधिपूरुषम्।

3. वा० पु० 4. 80-83 — हिरण्यमस्तु यो मेरुस्तस्योच्चं तन्महात्मनः।
भर्गोदकं समुद्राश्च जराद्यस्थीनि पर्वताः॥
तस्मिन्नण्डे त्विमे लोका अन्तर्भूतास्तु सप्त वै।
सप्त द्वीपा च पृथिवी समुद्रैः सह सप्तभिः।
लोकालोकं च यत्किञ्चिच्चाण्डे तस्मिन्समर्पितम्।

द्र० वि० पु० 1. 2. 58 — साद्रिद्वीपसमुद्रश्च स ज्योतिर्लोकसंग्रहः।
तस्मिन्नण्डेऽभवद्विप्र स देवासुरमानुषः।

द्र० ग० पु० 1. 4. 10

4. द्र० पू० द्वितीय परिच्छेद पृ० 36

5. अ० पु० 17. 9-10 — हिरण्यगर्भो भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
तदण्डमकरोद् द्वैधं दिवं भुवमथापिच॥
तयोर्शकलयोर्मध्ये आकाशमसृजत् प्रभुः।

पैरों) से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की उत्पत्ति हुई[1]। उसके पैरों से भूर्लोक, नाभि से भुवर्लोक तथा हृदय से स्वर्लोक की कल्पना की जाती है। इसी प्रकार उसके उरु से महर्लोक, ग्रीवा से जनःलोक, वक्ष से तपोलोक तथा मूर्धा आदि से सत्यलोक की कल्पना की गयी है। इसी तरह उसके कमर, उरु तथा जानु आदि में अतल, वितल तथा सुतल आदि अधःलोक भी कल्पित होते हैं[2]। इस प्रकार पुराणों में ब्राह्मी, मानसी[3], रौद्री[4] अंगज, मानवी[5], मैथुनी[6] तथा चतुर्विध प्रजा[7] आदि सृष्टियों के वर्णन के साथ ही साथ कुमार[8] सप्तर्षि तथा प्राकृत आदि सर्गों का भी पूर्णतः विवेचन किया गया है। ब्राह्मणग्रन्थों की भाँति पुराणों में भी 'ॐकार' एवं 'स्वस्तिक' आदि प्रतीकात्मक सृष्टि[9] का उल्लेख मिलता है, जिसका वर्णन तृतीय परिच्छेद में किया गया है।

मनु का सृष्टि-सिद्धान्त—

महर्षियों से जगत् सम्बन्धी विविध प्रश्न पूछे जाने के अनन्तर आचार्य मनु ने उसका समुचित उत्तर दिया, जिसमें वर्णित है कि 'अनादिकाल (प्रलयावस्था) में

---

1. भाग० पु० 2. 2. 37 — पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः। उर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत॥
   द्र० श० ब्रा० 14. 4. 2. 23 तथा ऋ० सं० 10. 90. 13
2. भा० पु० 2. 5. 36 — यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः। कट्यादिभिरधःसप्तोर्ध्वंजघनादिभिः॥
3. भाग पु० 3. 12. 17 — मनसो देहतश्चेदं जज्ञे विश्वकृतो जगत्।
   द्र० वा० पु० 4. 27 — मनो महांश्च मतिर्ब्रह्मा।
4. वि० पु० 1. 7 — भृकुटीकुटिलात्तस्य ललाटात्क्रोधदीपितात्। समुत्पन्नस्तदा रुद्रो मध्याह्नार्कसमप्रभुः॥
   द्र० वा० पु० 9. 70 — रुद्रं रोषात्मसम्भवम्।
   द्र० वि० पु० 1. 8. 4 — रुद्रस्त्वं देव नाम्नासि मा रोदीर्धैर्यमावह।
5. भा० पु० 3. 12. 49-54 — ...... यस्तु तत्र पुमान् सोऽभून्मनुः। स्वायंभुवः स्वराट्। स्त्री याऽऽसीच्छतरूपाख्या महीष्यस्य महात्मनः। तदा मिथुनधर्मेण प्रजा ह्येधांबभूविरे।
6. भा० पु० 4. 1. 4 ग० पु० 5. 21, 34 तथा वि० पु० 1. 15, 21
7. वा० पु० 9. 2 — ततो देवासुरपितॄन् मानवं च चतुष्टयम्।
   द्र० वा० पु० 1. 5. 28 — रजो मात्रात्मिकामन्यां जगृहे स तनुं प्रभुः। रजोमात्रोत्कटा जाता मनुष्या द्विजसत्तम॥
8. भाग० पु० 11. 13. 16 — पुत्रा हिरण्यगर्भस्य मानसा सनकादयः।
   द्र० वा० पु० 6. 70. 71 — अग्रे ससर्ज वै ब्रह्मा मानसानात्मनः समान्। सनन्दनं च सनकं विद्वांसं च सनातनम्॥
9. भाग० पु० 12. 6. 41 — स (ॐकार) सर्वमन्त्रोपनिषद् वेदबीजं सनातनम्।
   द्र० तृतीय परिच्छेद पृ० 91-92

यह विश्व किसी भी प्रकार से ज्ञेय नहीं था, क्योंकि यह प्रमाण आदि तर्कों से हीन, अंधकार से युक्त तथा प्रसुप्त सदृश था[1]। इस स्थिति में स्वेच्छा से शरीर धारण करनेवाला स्वयम्भूः अव्यक्त, अपरिमित सामर्थ्य से युक्त अन्धकार को दूर करनेवाला परमेश्वर आकाशादि महाभूतों को व्यक्त करते हुए प्रादुर्भूत हुआ।

हिरण्याण्ड—

इस प्रकार समस्त प्राणियों के आत्मास्वरूप उस परमेश्वर ने बहुप्रजाओं को उत्पन्न करने की इच्छा से सर्वप्रथम जल को सृष्ट किया[2], तथा उस जल में शक्तिरूप बीज का आधान किया, कालान्तर में वह बीज सहस्रों आदित्य की भाँति प्रकाशवाले सुवर्ण (हिरण्य) सदृश एक अण्डे का रूप धारण कर लिया। उसी हिरण्याण्ड से सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई[3]। मनु के अनुसार उसे ब्रह्मा कहते हैं, जो सबका कारण है, नित्य है तथा सत् एवं असत् स्वरूपवाला है[4]।

संवत्सरोपरान्त (ब्रह्मा का समय) ब्रह्मा ने उस अण्डे के दो टुकड़े कर दिये, जिसके प्रथम टुकड़े से स्वर्गलोक का सृजन हुआ तथा द्वितीय से पृथिवी का। इसके साथ ही मध्यस्थ आकाश, आठ दिशाओं तथा समुद्र आदि भी सृष्ट हुए[5]। इस प्रकार की सृष्टि ब्राह्मणग्रन्थों में भी वर्णित है।

विश्वोत्पत्ति—

उस सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा ने परमात्मा (ब्रह्म) से सदसत् आत्मावान् 'मनस्' की सृष्टि की तथा मनस् से अहंकार की, अहंकार से आत्मोपकारक महत्तत्त्व की तथा सम्पूर्ण त्रिगुण (सत्त्व, रजस् एवं तमस् से युक्त) विषयों की और रूप, रस आदि विषयों को ग्रहण करनेवाली पाँच ज्ञानेन्द्रियों (कर्ण, चर्म, नेत्र, जिह्वा, नासिका, पाँच कर्मेन्द्रियों (गुदा लिङ्ग, हस्त, पाद एवं वाक्) तथा पाँच शब्दतन्मात्राओं की सृष्टि की[6]।

---

1. मनुसं० 1. 5-6 — आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥
2. मनुसं० 1. 8 — . . . अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्॥
   द्र० गो० ब्रा० 1. 2 — तस्मादापो अभवंस्त . . . .।
3. मनुसं० 1. 9 — तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिन् जज्ञे स्वयं सर्वलोकपितामहः॥
4. वही 1. 11 — यत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्। तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते॥
   द्र० तै० सं० 5. 5. 1. 2
   तथा श० ब्रा० 2. 2. 3. 28
5. मनुसं० 1. 12-13 — ताभ्यां सशकलाभ्यां च दिवं भूमिं निर्ममे। मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम्।
   द्र० श० ब्रा० 6. 1. 1. 11
6. मनुसं० 1. 14-15 — महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च। विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च॥

इन्हीं महदादि तत्त्वों की सृष्टि के अनन्तर हुए विकारों के फलस्वरूप समस्त प्राणियों की सृष्टि हुई। विनाशरहित उस सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्मा से अपने-अपने कर्मों से युक्त पञ्चमहाभूत आकाश आदि और सूक्ष्म अवयवों के साथ मन की सृष्टि हुई। पुनः उस अविनाशी ब्रह्म से महत्तत्त्व, अहंकार तथा शब्द आदि पञ्चतन्मात्राओं सहित सप्त महाशक्तियों की सूक्ष्म मूर्ति के अंशों से विनाशशील इस संसार की सृष्टि हुई[1]।

कालसृजन—

सृजन कर्त्ता उस ब्रह्मा ने निमेष, काष्ठा, कला, दिन, रात्रि, पक्ष मास, वर्ष आदि समय तथा उसके विभागों (सत्ताइस नक्षत्रों) का सृजन किया[2]।

वेदत्रयी–सृजन—

मनु के अनुसार कर्म-स्वभावयुक्त प्राणी-अप्राणी (पाषाण आदि) तथा सनातन यज्ञ (अग्निष्टोम) सहित देवताओं का सृजन ब्रह्मा ने ही किया तथा इस सृष्टि के धर्मस्वरूप यज्ञों की सिद्धि के लिए अग्नि, वायु तथा सूर्य से क्रमशः ऋक्, यजुः तथा, सामवेद को प्रगट किया[3]।

ऊँकार-सृजन—

मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्मा ने ऋक्, यजुः तथा साम-वेदों से क्रमशः 'अ', 'ऊ' तथा 'म्' इन तीन अक्षरों तथा 'भूः', 'भुवः' एवं 'स्वः' इन तीन व्याहृतियों को उत्पन्न किया[4] जैसा कि तृतीय परिच्छेद में कहा भी गया है[5]। यह ऊँकार तथा तीन व्याहृतियाँ अविनश्वर ब्रह्म की प्राप्ति की मुख्य साधन हैं। मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि जो प्रतिदिन आलस्यरहित होकर तीन वर्षों तक ऊँकार सहित महाव्याहृतियों की उपासना करता है, वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। इन व्याहृतियों

---

1. मनुसं० 1. 18-19 — तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्। सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः सम्भवत्यव्ययाद् व्ययम्।

2. वही 1. 24 — कालं कालविभक्तिश्च नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ॥
द्र० कौ० ब्रा० 19. 9, श० ब्रा० 8. 4. 1. 24, 6. 1. 2. 4

3. मनुसं० 1. 22. 23 — कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः .. अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥

4. मनुसं० 2. 76 — अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः। वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवःस्वरितीति च ॥

5. मनुसं० 2. 82

का सृष्टिवर्णन गोपथब्राह्मण में भी उपलब्ध होता है, जो प्रायः मनु के विचारों से साम्य रखता है[1]।

मानव-सृजन—

मनुसंहिता के अनुसार स्त्री-पुरुषों की सृष्टि ब्रह्मा के पूरे शरीर को दो भागों में विभक्तकरने से हुई, जैसा कि पूर्व के परिच्छेदों में वर्णित भी है[2]। नारी के रूप में ही ब्रह्माने विराट् का सृजन किया तथा एक पुरुष को उत्पन्न किया, जो मनु कहलाया। इसी मनु से सप्तर्षियों, देवों, यक्षों, राक्षसों, गन्धर्वों, अप्सराओं, मनुष्यों तथा कृमिकीट आदि सृष्टियों का विकास हुआ[3]। लोक के विकास के लिए सृष्टिकर्त्ता (ब्रह्मा) ने अपने मुख, बाहु, उरु तथा पैरों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों को सृष्ट किया[4]।

उस ब्रह्मा ने स्वसृष्ट प्राणियों को जिन-जिन कर्मों में लगाया, बार-बार उत्पन्न होकर वह प्राणी उन्हीं-उन्हीं कर्मों को करने लगा। सृष्टि के प्रारम्भ में हिंसा-अहिंसा, मृदु-क्रूर, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य आदि स्वाभाविक गुणों को जिस-जिस के लिए बनाया वह पुनः-पुनः उसी को प्राप्त होता है[5]। इस तरह जिस प्रकार षड्ऋतुऐं परिवर्तित होने पर स्वयं ही अपने-अपने चिन्हों को प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार देहधारी जीव भी अपने-अपने कर्मों को स्वयं ही प्राप्त होते हैं।

मनु के विचार के अनुसार निद्रा से विरत होने पर ब्रह्मा ने जब अपने मन में सृजन करने की कामना की, तब उनके मन से आकाश की सृष्टि हुई, उस आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल तथा जल से पृथिवी आदि की उत्पत्ति हुई।

इस प्रकार मनु के सृष्टि-सम्बन्धी विचारों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया, जिसका सम्बन्ध प्रायः ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों तथा अन्य वैदिकग्रन्थों से भी है; किन्तु मनु का यह सिद्धान्त सांख्यदर्शन से भिन्न है तथा इसमें एक ही विषय पर कई विरोधी मत प्रतिपादित किये गये हैं।

---

1. द्र० गो० ब्रा० 1. 1. 25-27 ....स्वरितोदात्त एकाक्षर ओंकार ऋग्वेदे त्रैस्वर्योदात्त एकाक्षर ओंकारो यजुर्वेदे, दीर्घो प्लुतोदात्त एकाक्षर ओंकारः सामवेदे, ह्रस्वोदात्त एकाक्षर ओंकारोऽथर्ववेदे।
   द्र० कौ० ब्रा० 6. 12 तथा श० ब्रा० 3. 1. 1. 12
2. मनुसं० 1. 32
3. मनुसं० 1. 33-40
4. मनुसं० 1. 31 ....मुखबाहूरुपादतः। ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्।
5. मनुसं० 1. 28, 29

परिशिष्ट—क

उद्धृत श्रुति-स्मृति-सूत्रादि-वचनानुक्रमणी

23

प्रजापतिर्वा इदमग्र असीत्	(श० ब्रा० 6.1.3.1)	19
प्रजापतिर्ब्रह्मण: ब्रह्मा स्वयंभू:	(वं० ब्रा० 2.34)	19
प्रजापतिर्वै क:	(ऐ० ब्रा० 2.38)	19
प्रजापतिर्वाऽकामयत्	(जै० ब्रा० 2.146)	23
प्रजापतिर्वा हिरण्यगर्भ:	(तै० सं० 5.5.1.2)	31
प्रजापतिर्यदग्रे व्याहरत	जै० ब्रा० 1.101)	33
प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास	(श० ब्रा० 2.5 1.1)	50
प्रजापतिर्वा इमान् लोकान्	(जै० ब्रा० 3.335)	55
प्रजापतिरकामयत प्रजायेय	(ऐ० ब्रा० 25.7)	56
प्रजापतिरहरसृजत	(श० ब्रा० 6.5.4.7)	57
प्रजापति: अर्धमासान् असृजत्	(श० ब्रा० 6.5.4.7)	59
प्रजापतिर्वा एतत्सत्र सहस्र	(ष० वि० ब्रा० 5.2.1)	59
प्रजापतिर्वा अग्नि:	(श० ब्रा० 2.2.3.10)	62
प्रजापतिर्वै प्रजा: सृजमानं	(श० ब्रा० 10.4.4.1)	66
प्रजापति: पशूनसृजत	(तै० ब्रा० 1.6.2.1)	68
प्रजापतिर्विराजमसृजत्	(तै० ब्रा० 3.9.2.3)	82
प्रजापतिर्वा एतां गायत्रीं	(ता० म० ब्रा० 7.8.8)	83
प्रजापतिश्च वषट्कारश्च	(ऐ० ब्रा० 2.18)	88
प्रजापतिर्देवानसृजत्	(जै० ब्रा० 2.141)	89
प्रजातिस्तपोऽतप्यत	(ष० वि० ब्रा० 5.1.1)	89
प्रजापति: प्रजातिकामस्तपोऽतप्यत	(कौ० ब्रा० 6.1)	95
प्रकृतिं पुरुषो विष्णु:	(अ० पु० 17.2)	165
(प्रजापति) यजुर्भ्योऽधि विष्णुम्	(तै० ब्रा० 2.3.2.4)	98
प्रजापतिरिन्द्र सृजताऽऽनुजावरं	(तै० ब्रा० 2.2.10.1)	101
प्रजापतिर्देवासुरानसृजत्	(तै० ब्रा० 2.2.3.3)	101
प्रजापतिर्देवानसृजत	(जै० ब्रा० 2.141)	101
प्रजापतेरधि देवताऽसृज्यन्ताग्नि:	(श० ब्रा० 11.1.6.14)	103
प्रजापति: अग्निमसृजत्	(तै० ब्रा० 1.1.2.3.11)	103
प्रजापति: रोहिण्यामग्निमसृजत्	(तै० ब्रा० 1.1.2.2)	104
प्रजापतिर्ह वै प्रजा: ससृजिरे	(का० श० ब्रा० 1.10)	104
प्रजापति: प्रजा असृजत्	(जै० ब्रा० 1.73)	104
प्रजापतिरेषोऽग्नि:	(श० ब्रा० 6.8.1.4)	109
प्रजापतिरग्नि:	(श० ब्रा० 6,2.1.23)	109

र

व

★

परिशिष्ट—ख

(ग्रन्थगत-आचार्य-नामानुक्रमणी)

परिशिष्ट–ग

(पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी)

परिशिष्ट—घ

(सन्दर्भ-ग्रन्थावली)

संस्कृतग्रन्थ :—

ऐतरेयब्राह्मण :—

1—षड्गुरुशिष्यकृत सुखप्रदाभाष्य सहित—
भाग–1– (अध्याय 1–15) सम्पादक, ए० के० शास्त्री, 1942 ई० ।
भाग–2– , 16–25) सम्पादक, पी० के० एन० पिल्लय 1952 ई० ।
भाग–3– (26–32) सम्पादक, एस० के० पिल्लय, 1655

2—सायणाचार्यकृत वेदार्थप्रकाशभाष्यसहित,
(दो भागों में) सम्पा०, के० एन० शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना, 1896

3—ऐतरेयब्राह्मण मूलमात्र (पत्राकार)
सम्पा०, पाण्डुरंग जावजी, बम्बई, 1925

4—ऐतरेयब्राह्मण–हिन्दी अनुवाद, गंगाप्रसाद उपाध्याय, प्रयाग, 1951

5—ऐतरेयब्राह्मण (मूल तथा आंग्ल अनुवाद)
सम्पा०, एम० हॉग,

कौषीतकि या शांखायन ब्राह्मण :—

6—शांखायनब्राह्मण (मूलमात्र) सम्पा०, गणपतराव यादवराव,
आनन्दाश्रम, पूना 1977

7—कौषीतकिब्राह्मण सम्पा०, बी० लिण्डनर, 1887

माध्यन्दिनशतपथ (सायणभाष्य सहित)

8—(पाँच भागों में) प्र० क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, 1926

9—सायणभाष्य एवं हरिस्वामिद्विवेदगङ्ग भाष्य के उद्धरण सहित
सम्पा० डॉ० अल्बेर्तेन वेबर, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी

10–शतपथब्राह्मण हिन्दीभाष्य, सम्पा० गंगाप्रसाद उपाध्याय, दिल्ली, 1964

11–शतपथब्राह्मण विज्ञानभाष्य, प्र० राजस्थान वैदिकतत्त्वशोध-संस्थान,
जयपुर, 1956

12–शतपथब्राह्मण (एग्लिंग अनुवाद) पाँच भागों में
सं० एफ० मैक्समूलर ।

13–काण्वशाखीयशतपथ (मूल मात्र) दो भागों में
सं० डब्लू कालन्द 1926 ।

तैत्तिरीयब्राह्मण :—(सायणभाष्य सहित)

14–(तीन भागों में) सं० एन० शास्त्री गोडबोले, आनन्दाश्रम, पूना 1898

15–भट्टभास्कर भाष्य सहित सं० महादेव शास्त्री, मैसूर।

ताण्ड्यमहाब्राह्मण (सायणभाष्य सहित)

16–(दो भागों में) सं० चिन्नस्वामी शास्त्री, 1635

17–सं० आनन्दचन्द्र वेदान्तवागीश, एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, कलकत्ता 1870 ई०।

षड्विंशब्राह्मण (सायणभाष्य सहित)

18–सं० बे० रामचन्द्र शर्मा, तिरुपति, 1967 ई०।

19–सं० जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता 1881 ई०।

मन्त्रब्राह्मण (सायणभाष्य)

20–सं० सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, 1873

छान्दोग्य (सायण एवं गुणविष्णुभाष्य)

21–सं० दुर्गामोहन भट्टाचार्य, 1958 ई०।

सामविधान एवं वंश (सायणभाष्य)

22–सं० बे० रामचन्द्र शर्मा, तिरुपति, 1964

23–सं० ए० सी० बर्नेल, 1873 ई०।

जैमिनीय उपनिषद् अथवा तलवकारब्राह्मण

24–सं० रघुवीर एवं लोकेश चन्द्र, 1954 ई०

25–सं० बे० रामचन्द्र शर्मा,4 1967

जैमिनीयब्राह्मण

26–सं० लोकेश चन्द्र, नागपुर, 1954

देवताध्याय एवं संहितोपनिषद्ब्राह्मण

27–सं० बी० आर० सी० शर्मा, तिरुपति, 1965

28–सं० ए० सी० बर्नेल, मंगलोर, 1877

देवताध्याय एवं षड्विंश :—

29–सं० जे० एन० भट्टाचार्य, 1881

आर्षेयब्राह्मण (सायणभाष्य)

30–बे० रामचन्द्र शर्मा, तिरुपति, 1967

31–सं० ए० सी० बर्नेल, मंगलोर, 1876

गोपथब्राह्मण :—

32–सं० राजेन्द्र लाल मित्र (बिब्लियोथिका इण्डिका)
इण्डोलाजिकल प्रकाशन वाराणसी–1972

33–सं० हरचन्द्र विद्याभूषण कलकत्ता, 1870

34–अथर्ववेद एवं गोपथब्राह्मण, ए० बी० कीथ,

ब्राह्मणेतर ग्रन्थ :—

35—ऋग्वेदसंहिता (सायणभाष्य सहित) पाँच भागों में—प्र० वैदिक संशोधन–मण्डल, पूना

36—शुक्लयजुर्वेदसंहिता (उव्वट-महीधरभाष्य सहित)
सं० जे० एल० शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी

37—ऐतरेय-आरण्यक, सं० वी० एस० फड़कं, 1898

38—तैत्तिरीय-आरण्यक, सं० आर० एल० मित्र, 1872 (बिब्लियोथिका इण्डिका)

39—मनुस्मृति, सं० हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्भा वाराणसी, 1979

40—ऐतरेय-उपनिषद, गीताप्रेस, गोरखपुर 1976

41—बृहदारण्यकोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर

42—ईशादिविंशोत्तरशतोपनिषद्, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, 1948

43—अग्निपुराण, सं० बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, 1966

44—गरुणपुराण, सं० रामशंकर भट्टाचार्य, वाराणसी 1964

45—श्रीमद्भागवतमहापुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, पञ्चम संस्करण, 1964

46—विष्णुपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1967

47—वायुपुराण, आनन्दाश्रम, पूना, 1905

48—महाभारत, गीताप्रेस गोरखपुर, 1976

49—श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस, गोरखपुर।

50—श्रीदुर्गासप्तशती, गीताप्रेस-संस्करण, गोरखपुर।

51—निरुक्त के पाँच अध्याय, सं० पं० शिवनारायण शास्त्री, 1972

52—वैदिक माइथोलॉजी (ए० ए० मैक्डानल)
अनु० रामकुमार राय, चौखम्भा वाराणसी, 1961

53—मूल संस्कृत उद्धरण, (जे० मूइर) पाँच भागों में
अनु० रामकुमार राय, चौखम्भा, वाराणसी, 1965

54—वैदिक धर्म एवं दर्शन (ए० बी० कीथ) दो भागों में
अनु० डा० सूर्यकान्त, का० हि० वि०, वाराणसी

55—वेदरश्मि, डॉ० वासुदेवशरण, अग्रवाल, का० हि० वि०, वाराणसी, 1964

56—उपनिषदों की भूमिका, डॉ० एस० राधाकृष्णन्
अनु० रामनाथ शास्त्री, 1976

57—भारतीय सृष्टि-विद्या, डॉ० प्रकाश, 1974
58—वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पं० बलदेव उपाध्याय,
शारदा मन्दिर, काशी, 1958 ई०
59—उपनिषद्-चिन्तन, देवदत्तशास्त्री, जननी-कार्यालय, इलाहाबाद, 1956
60—सांख्यदर्शन का इतिहास, पं० उदयवीर शास्त्री, ज्वालापुर, 1950
61—हिन्दूदेव परिवार का विकास, डा० सम्पूर्णानन्द,
मित्रप्रकाशन, इलाहाबाद 1964 ई०
62—बृहद्देवता (शौकनीय) अनु० रामकुमार राय, चौखम्भा, वाराणसी, 1963
63—वैदिक साहित्य का इतिहास, डॉ० कृष्णकुमार मेरठ, 1976 ई०
64—भारतीय धर्मशास्त्र का इतिहास, (पाँच भागों में)
ले० पी० बी० काणे ।
65—जीवन की अध्यात्म-दृष्टि, (डॉ० एस० राधाकृष्णन्)
प्र० राजकमल, नई दिल्ली, 1962
66—प्रलय और सृष्टि, रामचन्द्र महेन्द्र,
67—वैदिक विश्व-दर्शन, (चार भागों में)
हरिशंकर जोशी 1966

ENGLISH BOOKS

1. India of the Brahmaṇic Age.
dy—J. T. Wheeler (2 Vol.)
2. Indian Philosophy (Vedic Period)
by—Dr. S. Radhakrishnan,
3. Religion and Mythology of the Brahmaṇas.
by—G. V. Devasthali,
Poona 1965.
4. The Story of Creation.
by—Bhagavaddatta,
Itihas Prakashana, Delhi, 1968.
5. Sacrifice in the Brahmaṇa Texts—(1975).
by—G. U. Thite, Poona.
6. In Search of God.
by—N. G. Damle (1969)

7. Vedic Religion and Mythology.
by—R. N. Dandeker.

8. Studies in the Brāhmaṇās.
by–Dr. A. C. Banerjee, 1963.

9. Sacrifice in the Āraṇyakās.
by—Desh Pandey,
University of Poona

10. Brāhmaṇic Mythology.
by—M. B. Kulkarni,
University of Poona, 1973

11. A constructive Survey of Upanishadic Philosophy.
by—R. D. Ranade.

12. Ancient Sanskrit Literature.
by—F. Max Muller, 1912.

13. Religion in Vedic Literature.
by—P. S. Deshamukh, 1933

14. Religion of the Vedas.
by–M. Bloom Field, London, 1908

15. Brahmaṇās of the Vedās.
by–K. S. Macdonele, Madras, 1901

16. Cosmic Harmony in Rigveda.
by—G. N. Chakravarti,

17. Cosmology of the Rigveda.
by—Wallis, Cambridge, 1887.

18. History of Indian Literature (Vol. 1 Vedic)
by—G. Gonda.

19. History of Indian Literature (vol. 1)
by—M. Winternitz.

20. Minor Divinities in Vedic Myth. and Ritual
by—J. R. Joshi.

21. Religion of the Rigveda.
by—H. D. Griswold.

22. A History of Sanskrit Literature.
by–A. A. Macdonell, London, 1905

23. Sacrifice in the Rigved.
by—K. R. Potdar.

24. A History of Indian Literature.
by—A. Weber.

25. History of ndian Philosophy (Creative Period) by—S. K. Belvalkar.

26. India of the Age of the Brāhmaṇās.
by—J. R. Basu.

27. History of Sanskrit Literature (Vol. 1 Ved). by—C. V. Vaidya, Pocna, 1930

28. Vedic India.
by—J. A. Ragozin.

29. Religion and Philosophy of Yajurveda. by—N. J. Shande, Poona, 1952.

30. Creative Role of the Goddess Vāc in the Rigveda. by—Browh. W. Marman.

31. History of Indian Cosmogionical ideas. by—N. N. Bhattachary, Delhi, 1971.

32. A History of Indian Literature
by—H. H. Gowen, Newyork, 1931

33. Vedic India
by—L. Renou (English Translation)

34. Selection from the Brāhmaṇās.
by—Γ. K. Laddu, Allahabad.

35. Age of the Brāhmaṇās.
by—B. V. Kameshwar Aiyer.

36. Religion and Philosophy in Ancient India. by—H. T. M. Clelland.

37. Veda the world of God.
by—Balkrishna.

38. Hindu Gods and Hidden Mystries. by—G. K. Pillaia, Allahabad, 1958

39. Encyclopedia of Religion and Ethics. Ed. by—James Hestings (Vol. 5)

40. Vedic Bibliography (vol. II & III) by—Dr. R. N. Dandeker, Bori Poona, 1973

41. Vedic Bibliography. by—L. Renou, 1931

42. Philosophy of the Unanishadas. by—A. S. Gaden.

43. Theory of the Universe. by—M. Manija.

44. Vedic Studies. by—Geldener.

45. Gifford Lectures on Physical Religion. by—Max Muller.

46. A constructive Survey of Upanishadic Philosophy. by—R. D. Ranade, Bombay, 1968

47. Indian Myth and Legend. by–D. A. Mackanzie, Londan, 1914

48. The Mythology of the Hindus. by—C. Coleman.

49. Ghate's Lecturers on Rigved. by–V. S. Sukthankar, Poona, 1926

50. Universe in Vedic Thought. by—Dr. R. N. Dandeker, Poona.

51. Studies in Eastern Religions. by—A. S. Geden.

सहायक—शब्दकोष

1. संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ, सम्पा०—पं० तारणीश झा, प्रयाग।

2. श्रौतकोष, सम्पा०—रामचन्द्र नारायण दाण्डेकर, पूना।

3. वैदिक इण्डेक्स (मैक्डानल एवं कीथ) दो भागों में, अनु०—रामकुमार राय, चौखम्भा, वाराणसी 1962

4. वैदिककोष,

डॉ० सूर्यकान्त, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय, वाराणसी

5. वैदिकपदानुक्रमकोष,

विश्ववन्धु।

6. Sanskrit–English Dictionary,

by—Sir Monier Williams

First Indian Edition 1976.

7. English–Sanskrit Dictionary,

by—Sir Monier. Williams,

First Indian Edition, 1976.

8. A Vedic Concordance,

by—M. Bloom field, Delhi, 1964

9. A Dictionary of Comparative Religion,

by—S.G.F. Brandon, London, 1970.

10—A Classical Dictionary of Hindu Mythology and Religion Geography, History and Literature.

by—J. Dowson, London, 1953.

अनुसन्धान-पत्रिकाएँ

1. विश्वसंस्कृतम्—विश्वेश्वरानन्द-वैदिक-शोध संस्थान, होशियारपुर।
2. भारती—काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय, वाराणसी।
3. गुरुकुलपत्रिका—हरिद्वार।
4. प्राच्यप्रज्ञा—संस्कृत-विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।
5. प्रबुद्ध भारत, मायावती।
6. वेदान्तकेसरी, मद्रास।
7. 'वाक्' डक्कन कालेज शोध-संस्थान, पूना।
8. सारस्वती सुषमा, संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी।
9. संस्कृत कालेज पत्रिका, कलकत्ता।
10. कल्याण, उपनिषद् अंक, गीता-प्रेस, गोरखपुर।

RESEARCH JOURNALS

1. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.
2. Summary of Papers All India Oriental Conference, Poona.
3. Adyar Library Bulletin, Adyar, Madras.
4. Annals of Oriental Research, Madras University, Madras.
5. Bulletin of the Deccan College, Research Institute, Poona.
6. Journal of the American Oriental Society, New Haven (USA).
7. Journal of the Asiatic Society of Bengal, Calcutta.
8. Journal of the Asiatic Society, Bombay.
9. Journal of the Kerla University Oriental Research Institute Manuscripts Library, Trivandrum.
10. Journal of Oriental Institute, Baroda.
11. Indological Journal of Vishveshvaranand Vedic Research Institute, Hoshiarpur.
12. Bulletin of the School of Oriental and African Studies, London.
13. Vedic Digest.
14. Journal of Calcutta Rivew.

★

शुद्धि-पत्र

(CORRIGENDA)

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध-पाठ	शुद्ध-पाठ
2	पादटिप्पणी 8	ब्राह्मण	ब्राह्मण
6	3	पंजिकाओं	पञ्चिकाओं
7	22	ह	है
8	25	पश्चात्य	पाश्चात्य
9	31	पञ्चविंश	पञ्चविंश
11	32	को	की
12	पादटिप्पणी	फारक्यूहूँ	फारक्यूहर
13	1	उपलव्ध	उपलब्ध
16	7–9	देवी	देवों
16	पादटिप्पणी 4	direction	direption
17	पादटिप्पणी 1	छा० उ० 2.	छा० उ० 6·2.
23	पादटिप्पणी 4	(इसे पृष्ठ 27 के पादटिप्पणी 1 पर पढ़ें और वहाँ संख्या 1, 2, 3, 4 क्रमशः 2, 3, 4, 5 होगी)	
23	पादटिप्पणी 1	ए ऐक्षत	स ऐक्षत
27	पादटिप्पणी 5	पृष्ठ 108	पृष्ठ 103
28	2	क्रच	चक्र
28	18	हिरण्यप्राण.	हिरण्य-प्राण
29	5	(यहाँ 'आवृत रहता है तथा' के पश्चात् 'सत्य के परितः जब तक ऋत है तभी तक' वाक्य जोड़कर पढ़ें ।)	
29	पादटिप्पणी 5	Souce	Source
33	4	द्याया	द्यावा
33	पादटिप्पणी 3	इयमु	इयं
34	4	गोवर्ण	गोकर्ण
34	16	मिट्टी	मिट्टी
37	1	पृथ्विी	पृथिवी
37	15 एवं 22	कंकरी	कंकरों
38	पादटिप्पणी 1	अट्टंहन्	अद्दंहन्
38	पादटिप्पणी 2	शिथिराता, रट्टंहन्	शिथिरावा, रद्दंहन्
40	पादटिप्पणी 4	सावमुत्तौ	सावमुतौ
41	5	अशु	पशु
41	10	आख्	आखू
41	पादटिप्पणी 5	तडएते	ताऽएते
45	पादटिप्पणी 1	पृथिवीव्यास्	पृथिव्यास्
47	9	की धारणा	को धारण
55	पादटिप्पणी 1	जै० ब्रा० 3.3.55	जै० ब्रा० 3.355
58	पादटिप्पणी 5	.k	.7
66	पादटिप्पणी 4	मुहूतं	मुहूर्तं

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध-पाठ	शुद्ध-पाठ
66	11-12	सत्तर्हि	एतर्हि
69	पादटिप्पणी 2	छा० 305	छा० उ० 5.
71	28	पुरीकत	पुरोवात
72	22	बरसा	वर्षा
73	22	उदुम्बर	उदूम्बर
77	15	आ	अ
77	पादटिप्पणी 6	Ṛ. c.	Ṛ k
82	8	यत्ज्	यत्जू
83	6	समभने	समझने
85	पादटिप्पणी 2	कौ० ब्रा० 15. 2. 16. 3	15. 2, 16. 3.
86	10	मरतक	मस्तक
87	18	आर्वंभान	आर्बमान
97	1	यीग्य	योग्य
103	12	कव्य	काव्य
104	पादटिप्पणी 5	55.7	25.7
106	10	अनुपहत	अनपहत
106	पादटिप्पणी 1	Page 25	Page 125
120	पादटिप्पणी 5	1063.7	10.63.7
123	पादटिप्पणी 1	पुमांउं	पुमांसं
124	पादटिप्पणी 3	जन्मोदयते	जन्मोद्यते
125	पादटिप्पणी 4	3. 0	3. 9
127	पादटिप्पणी 1	तै० ब्रा० 1	तै० ब्रा० 1,6,4,1,
127	पादटिप्पणो 2	प्रमतिर्नः	प्रमतिर्नः
129	15	तदनन्तर	तदन्तर
134	पादटिप्पणी 5	सिक्तं	सिक्तं
135	2	1	(नहीं रहेगा)
137	पादटिप्पणी 1	परिश्रितः	परिश्रितः
139	8	जमनीयब्राह्मण	जैमिनीयब्राह्मण
143	पादटिप्पणी 3	वहा	वही
145	2	वर्गों	वर्णों
147	पादटिप्पणी 1	जै० ब्रा० 3.3. 11	जै० ब्रा० 3. 311
150	पादटिप्पणी 2	श० बा०	श० ब्रा०
157	25	प्र वोचत्	प्रवोचत्
169	6	कला	काल
175	2 नीचे से	सामन्सरमारपन्ति	सामन्सरभारभन्ति
176	9 नीचे से	बा	वा
178	11 नीचे से	उपाद्धात	उपादधत
181	19	दूरोहं	दूरोहणं